UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186573

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—556—13-7-71—4,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 181.4 Accession No. G.H.2837

Author V 65 Bh अलेंद्रेव उपाध्याय

Title भारतीय दर्शन-सार

This book should be returned on or before the date last marked below.

भारत-परिचय
ग्रन्थ-माला

•

सम्पादक
वासुदेवशरण अग्रवाल

"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।"

भारतीय दर्शन-सार

लेखक
बलदेव उपाध्याय

सस्ता साहित्य मण्डल-प्रकाशन

प्रकशक	मार्तण्ड उपाध्याय मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।
सस्करण	पहला १९६२
मूल्य	साढ़े पांच रुपये
मुद्रक	श्यामकुमार गर्ग राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स, दिल्ली।

यह ग्रन्थमाला

'भारत-परिचय-ग्रन्थमाला' की योजना का उद्देश्य है भारतवर्ष की बहुमुखी संस्कृति का सरल परिचय निम्नलिखित बारह पुस्तकों के माध्यम से पाठकों के लिए प्रस्तुत करना—

भारत, हमारा देश
भारतीय भूगोल
भारतीय इतिहास
भारतीय धर्म
भारतीय दर्शन
भारतीय साहित्य
भारतीय कला और संस्कृति
भारतीय राजनीति
भारतीय जीवन
भारतीय जन
भारतीय प्रदेश-परिचय,
भारतीय लोक-जीवन

प्रत्येक पुस्तक २० × ३० सोलह पेजी लगभग तीन-चारसौ पृष्ठों की होगी। पुस्तक के लेखक का चुनाव उस-उस विषय के विशेषज्ञ विद्वानों में से किया गया है। पुस्तकें जिस क्रम से तैयार होती जायंगी, उसी क्रम से प्रकाशित होती रहेंगी। आशा है, योजना के अन्तर्गत इन पुस्तकों के द्वारा भारतीय इतिहास, संस्कृति और जीवन का सामान्य परिचय एकत्र उपलब्ध कराया जा सकेगा।

काशी विश्वविद्यालय,
वाराणसी

—वासुदेवशरण अग्रवाल
सम्पादक

प्रकाशकीय

महात्मा गांधी ने एक स्थान पर लिखा है— "मेरा निश्चित मत है कि संसार में किसी संस्कृति का भण्डार इतना भरा पूरा नहीं है, जितना हमारी संस्कृति का है। हमने उसे जाना नहीं है।"

संस्कृति की भांति भारतीय दर्शन, भारतीय कला, भारतीय साहित्य, भारतीय लोक-जीवन आदि का भण्डार भी अत्यन्त समृद्ध है, लेकिन हम उससे परिचित नहीं है।

आज जबकि देश के सर्वांगीण विकास के लिए विभिन्न क्षेत्रों में प्रयत्न हो रहे हैं, आवश्यक है कि हम अपने देश का अच्छी तरह से परिचय प्राप्त करें।

इस ग्रन्थ-माला की योजना के पीछे यही मूल हेतु है। बारह पुस्तकों में पाठकों को भारत के भूगोल, इतिहास, धर्म, दर्शन, कला, संस्कृति आदि की विशद जानकारी मिल जाय, इस प्रकार का प्रयास है।

हमें यह सूचना देते हुए हर्ष होता है कि इस ग्रन्थ-माला का सम्पादन भारतीय संस्कृति के परम उपासक और उन्नायक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कर रहे हैं और प्रत्येक पुस्तक उस विषय के अधिकारी विद्वान द्वारा लिखी जा रही है।

प्रस्तुत पुस्तक में, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, भारतीय दर्शन का परिचय कराया गया है। भारतीय दर्शन का विषय बड़ा गहन-गम्भीर है और उसपर विपुल सामग्री उपलब्ध है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें विषय-प्रतिपादन बहुत ही सरल ढंग से किया गया है और प्रायः सभी आवश्यक बातों का इसमें समावेश कर दिया गया है। अधिकारी विद्वान द्वारा लिखी होने के कारण पुस्तक की प्रामाणिकता स्वयं-सिद्ध है।

हमारा प्रयत्न है कि इस माला की अन्य पुस्तकें भी पाठकों को शीघ्र ही सुलभ हो जाय।

—मंत्री

भूमिका

भारतीय दर्शन का यह संक्षिप्त परिचय पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है। दार्शनिक तत्त्वों को जानने की इच्छा रखनेवाले सामान्य जन को दृष्टि में रखकर इसकी रचना की गई है। इसलिए भाषा को शास्त्रीय परिभाषा से अलग रखकर सीधे-सादे ढंग से यहां सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। ग्रन्थ चार खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में भारतीय दर्शन के मूल स्रोत का विवेचन है। द्वितीय खण्ड वेदबाह्य विचारधारा का प्रतिपादक है, जिसमें चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शनों का विवरण है। तृतीय खण्ड षड्दर्शनों का वर्णन करता है, जिसमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त का पृथक्-पृथक् विवरण दिया गया है। चौथे खण्ड में वेदान्त के इतर सम्प्रदायों का वर्णन है। ग्रन्थ के अन्त में उपसंहार में दर्शनों में समन्वय दिखलाया गया है। आशा है, पाठकों के ज्ञान-वर्द्धन में यह सहायता करेगा। यदि इस ग्रन्थ के अनुशीलन से पाठकों की रुचि दर्शन के तथ्यों को समझने की ओर बढ़ी तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।

—बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

खण्ड १

१. भारतीय दर्शन का मूल स्रोत १—११५

१. विषय-प्रवेश १

२ श्रौत दर्शन ५८

३ गीता का तत्त्वज्ञान ८५

खण्ड २

२. वेदबाह्य दर्शन ११७—२०४

१. चार्वाक-दर्शन ११९

२ जैन-दर्शन १३५

३ बौद्ध-दर्शन १५८

खण्ड ३

३. आस्तिक दर्शन २०५—३६६

१ न्याय २०७

२ वैशेषिक २३२

३ सांख्य २५३

४ योग २८३

५. मीमांसा ३०७

६ वेदान्त ३२६

खण्ड ४

४. वेदान्त के इतर सम्प्रदाय ३६७—३९१

१ रामानुज-मत ३७०

२ निम्बार्क-मत ३७३

३. माध्व-मत ३७६

४ चैतन्य-मत ३७८

५. वल्लभ-मत ३८३

उपसंहार ३९२—३९४

अनुक्रमणिका ३९५

भारतीय दर्शन-सार

खण्ड १

भारतीय दर्शन का मूल स्रोत

१. विषय-प्रवेश
२. श्रौत दर्शन
३. गीता का तत्वज्ञान

: १ :

विषय-प्रवेश

दर्शन भारतीय मनीषियों के द्वारा अनुभूत सत्य का परिचय देने-वाला साहित्य है। प्रकृति ने भारतवर्ष को अपनी क्रीडा-वाटिका बनाया है। फलत: यहा भौतिक जीवन के निर्वाह करनेवाले साधनों की परि-पूर्णता प्राचीनकाल से रही है। इसलिए यहां के विद्वानो ने तपस्या तथा स्वाध्याय के बल पर अध्यात्म तत्त्व का विशेष चिन्तन कर प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन ही नही किया, प्रत्युत अपने जीवन को भी उन तत्त्वो के अनु-शीलन द्वारा पूर्णत्व की कोटि पर पहुचाया है। दर्शन के मौलिक प्रश्न है—हम कौन है ? कहा से आये है ? हमारे सामने प्रतीत होनेवाला यह विशाल ससार क्या है ? इससे हमारा क्या सम्बन्ध है ? अनुभव का विश्ले-षण किस प्रकार करना चाहिए ? जीवन का उद्देश्य क्या है ? इस उद्देश्य की सिद्धि के कौन-से साधन है ? आदि-आदि। इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर देने मे और विविध समस्याओं के सुलझाने मे भारतवर्ष के विचारकों ने जो सिद्धान्त अभिव्यक्त किये है, उन्हीका विवेचन भारतीय दर्शन की विविध धाराओं में, सम्प्रदायो मे तथा महनीय ग्रन्थों मे किया गया है। इस अध्याय मे भारतीय दर्शन से सबद्ध सामान्य सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

दर्शन और विज्ञान

प्राणीमात्र के कार्य साधारणतया दृश्य जगत् मे हुआ करते है। हमारा खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना सब कार्य दृश्य जगत् से ही सम्बद्ध है। दृश्य संसार से हमारा अभिप्राय उस संसार से है, जो हमारी इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य है, जिसके अस्तित्व की सूचना इन्द्रियां हमें देती है तथा

जिसका ज्ञान हमारी इन्द्रियों के द्वारा हुआ करता है। यह सिद्धान्त तो ठीक है, पर साधारण लोग इस बात से नितान्त अनभिज्ञ है कि अदृश्य जगत् इससे कहीं अधिक विशाल तथा महत्त्वशाली है। इस दृश्य जगत् पर अदृश्य जगत् का प्रभाव सदा और इतना पडता है कि उसकी कल्पना भी हमे नही हो सकती। समुद्र के ऊपर बहनेवाली हिमशिला का एक क्षुद्र अश ही हमारी आखो के सामने रहता है और उससे कई गुना अधिक अश आंखो से ओझल रहता है। ठीक यही दशा इस विशाल जगत् की भी है। इसका जो अश हम देख पाते है, वह तो परिमाण मे बहुत ही छोटा है, पर जो हमारी इन्द्रियों से अप्रत्यक्ष-सा है, वह परिमाण मे बहुत और महत्त्व मे नितांत उपयोगी है। सच तो यह है कि यह दृश्य-अदृश्य का विभेद मानना—पार्थक्य स्वीकार करना—एक प्रकार की गलती है। इन दोनों की विभेदक रेखा कहां से आरम्भ होती है और कहांपर आकर इसका अन्त हो जाता है, उसे भला ठीक-ठीक कोई बतला सकता है? इन दोनो का पारस्परिक इतना मेल है, आपस मे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक को ठीक-ठीक समझने के लिए दूसरे को जानना नितान्त आवश्यक हो जाता है।

विज्ञान से परिचित लोग सदा कहा करते है कि अदृश्य जगत् की कल्पना एकदम विज्ञान-विरुद्ध है। विज्ञान तो केवल दृश्य जगत् की ही परीक्षा मे व्यस्त है। उसे इस परीक्षा के सब साधन दृश्य जगत् मे ही उपलब्ध हो जाते है; जगत् को ठीक-ठीक समझने तथा इसकी कार्यवाही को समझने के लिए विज्ञान को कही बाहर जाने की आवश्यकता नही होती। पर साधारण लोगों का यह विश्वास या ज्ञान बिल्कुल मिथ्या है। विज्ञान से उनका परिचय ऊपरी है। यदि वे विज्ञान के द्वारा उद्भावित सत्यों की गहराई तक पहुंचने का यत्न करेगे तो उन्हे मालूम पड़ेगा कि आधुनिक विज्ञान अदृश्य जगत् में विश्वास ही नहीं रखता, प्रत्युत दृढ़ विश्वास रखता है। विज्ञान को पता चल गया है कि बिना अदृश्य जगत् में विश्वास किये दृश्य जगत् की घटनाओं की पूरी-पूरी व्याख्या हो ही नही सकती।

इधर बीसवीं सदी के आरम्भ से लेकर अबतक विज्ञान ने बड़ी उन्नति की है तथा करता ही जा रहा है। यह विश्वास अबतक दृढ़मूल-सा था कि विज्ञान केवल स्थूल पदार्थों के अस्तित्व को ही स्वीकार करता है। जो ठोस

है, वही सत् है, यह कल्पना कभी थी, परन्तु आज विज्ञान इसके आगे बढ गया है और इसी कारण वह रहस्यवादियो की कल्पनाओ को असत्य मानकर तिरस्कार करने के लिए उद्यत नही है। उदाहरण के लिए 'काल' की कल्पना को लीजिये। यह केवल काल्पनिक नही है, प्रत्युत भौतिक विज्ञान जगत् की विभिन्न वस्तुओ की उत्पत्ति के लिए 'काल' की क्रीड़ा को आज प्रधान स्थान दे रहा है। पर काल तो स्थूल पदार्थ नही है? साधारणतया जिन पदार्थो को हम दृश्य मानते है, उनके सच्चे स्वरूप की खोज करने पर वे दृश्य नही मालूम पडते। हमारी चक्षुरिन्द्रिय बाह्य वस्तुओं के साथ जब सम्पर्क मे आती है, तब देखने की क्रिया होती है। पर क्या यह प्रत्यक्ष दर्शन हुआ? बाहरी चीजो का प्रतिबिम्ब ही दृक्पटल (रेटिना) के ऊपर पडता है। हम इन प्रतिबिम्बो की व्याख्या करते है कि बाहरी चीज हरी-भरी लता है, लाल फूल है या सफेद कपडा है, या अपने सीगों को बराबर घुमाकर लोगो को भयभीत करनेवाला भैसा है। इस प्रकार प्रतिबिम्बों के रूप को समझाने मे बाहरी चीजो के रूप का पता चलता है। इस तरह हमारा यह ज्ञान अनुमान-जन्य हुआ। मन ही सत् रूप है। उसका ही काम बाहरी जगत् से नाडीमण्डल के द्वारा लाये गए इन्द्रिय-वासनाओ को समझाना और व्याख्या करना है। अत उसका ज्ञान ही हमारे लिए प्रत्यक्ष ज्ञान है, इतर वस्तुओ का ज्ञान तो अनुमानसाध्य है तथा दूर की चीज है।

विज्ञान बाहरी जगत् के अनुभव को अकेले पूर्ण रूप से समझा नही सकता, क्योकि उसमे कुछ ऐसे अश भी है, जो आध्यात्मिक जगत् से संबध रखते है। विज्ञान उनकी भी सत्यता को मानता है और इस प्रकार अपने अपूर्ण अश की त्रुटि को पूरा करता है। भौतिक विज्ञान इस जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करते-करते अन्तिम व्याख्या मे केवल साकेतिक शब्दों पर ही आ जमता है। वह कहता है कि जगत् के मूल मे 'शक्ति' (फोर्स) काम कर रही है, पर यह शक्ति भी क्या कोई स्थूल पदार्थ है? जब विशाल गगनमण्डल मे नक्षत्रमालिका के रूप तथा बनावट की परीक्षा करने का अवसर ज्योतिर्विज्ञान के सामने आ उपस्थित होता है, तब उसे आश्चर्य से चकित ही हो जाना पडता है। आकाश मे जितने तारे दिखलाई पडते है, उतने से न जाने कितने गुने अधिक तारामण्डल आकाश मे निवास किया

करते हैं। वैज्ञानिक लोग पुकार-पुकारकर कहने लगे हैं कि समुद्र के तट पर जितने बालू के कण है, उससे अधिक ताराओं की संख्या आकाश में है और ये तारागण भी स्वय एक विशाल सौरमण्डल के समान है, जिसमें हमारी पृथ्वी का अस्तित्व एक क्षुद्र बिन्दु से अधिक नहीं है। विज्ञान का यह कथन हमारे पौराणिकों के कथन का समर्थन कर रहा है। **'अनन्तावं लोकाः'**—लोक अनन्त है, उनका कभी तथा कहीं अन्त नहीं होता। इस विशाल अनन्त जगत् की घटना में वैज्ञानिक लोग एक अज्ञेय तथा अदृश्य शक्ति या शक्तिमान् की अबतक ठीक ढंग से अपरिमेय क्रीड़ा को कारणीभूत मानते है। सच है, यह जगत् सकलजगन्नियन्ता सर्वशक्तिमान् भगवान् की लीला का विलास है—हमारे महामुनीन्द्रो के द्वारा दृष्ट तथा परीक्षित इसी सत्य की पुष्टि आधुनिक विज्ञान से होने लगी है।

आधुनिक विज्ञान के लिए विकासवाद का सिद्धान्त अकाट्य है। गत शताब्दी के लगभग मध्यकाल मे अग्रेज वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन ने इस सिद्धान्त की उद्भावना प्रबल प्रमाणो के आधार पर की, यद्यपि दार्शनिकों को इस बात का अन्दाजा बहुत पहले से था। तबसे लेकर आजतक लगभग सौ साल में अनेक पुष्टिकारक प्रमाण उपलब्ध होते चले आ रहे है। विपरीत आलोचना का भी बोलबाला खूब था, पर परीक्षा की कसौटी पर कसने से यह सिद्धान्त खरा ही निकला। पहले इस सिद्धान्त में सशयालु वैज्ञानिकों का अभाव न था, पर आज तो यह सर्वमान्य सिद्धान्त है, जिसके आधार पर अन्य सिद्धान्तों की समीक्षा हो रही है और जिसका उपयोग विज्ञान में तो है ही, साथ-ही-साथ विज्ञानेतर विषयों की परीक्षा के अवसर पर भी किया जा रहा है। पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न विद्वानों के सामने आता है कि किस उद्देश्य को लेकर जगत् का विकास हुआ है। विकास का प्रयोजन कुछ परिलक्षित हो रहा है, अथवा केवल प्रयोजनहीन क्रियाकलाप की भांति यह भी प्रयोजन से नितान्त शून्य है, इसका उत्तर दो प्रकार से आजकल दिया जा रहा है। एक तो यह है कि इस जगत् के पदार्थों में एक प्राणात्मिका प्रवृत्ति स्वयं विद्यमान है, जो उन्हे विकास के मार्ग से ले जाकर अन्तिम लक्ष्य पर पहुंचा देती है। इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर वे जीवन धारण कर रहे हैं, अपनी लीला दिखला रहे हैं। यह मत है आजकल के सुप्रद्धि

फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां का, जो इस प्रवृत्ति को 'एला वाइतल' (वाइटल अर्ज) के नाम से पुकारते हैं और जिन्होंने इसका सुविशद वर्णन अपने 'क्रीएटिव इवोल्यूशन' नामक विख्यात ग्रंथ में किया है। यह मत पदार्थों में ही एक प्रवृत्ति की सत्ता बतलाता है। पर दूसरा मत उन वैज्ञानिकों का है, जो इससे सहमत नहीं हैं। वे किसी बाह्य पदार्थ को ही विकास का कारण बतलाते है। वे किसी चेतन पदार्थ की सत्ता मानते हैं, जिसकी देख-रेख में इस विश्व की उत्पत्ति की घटना धीरे-धीरे क्रमिक विकास के अनुसार सुदूर काल से होती चली आ रही है और आगे भी चलती रहेगी। ये लोग एक 'यूनिवर्सल माइन्ड' की कल्पना मानकर विकासवाद के लिए कारण ढूढ निकालते है।

विकास को समझाने का यह द्विविध मार्ग भारतीय दर्शन मे भी विद्यमान है। सांख्य परिणाम के सिद्धान्त को मानता है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परिणाम का फल यह दृश्यमान विश्व है। पर जड़ा प्रकृति में परिणाम के उन्मुख होने की प्रवृत्ति कहां से आई? सांख्याचार्य गण बछड़े के लिए गाय के थन से आप-से-आप बहनेवाले दूध का उदाहरण देते है। **'वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य'**। प्रकृति का परिणाम भी इसी प्रकार है। पर इसका मार्मिक खण्डन ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में किया गया है। 'प्रकृति के परिणाम' के विषय में श्री शकराचार्य का यह वाक्य दूसरे पक्ष के सिद्धान्त का निचोड़ माना जा सकता है—

तत्सिद्धयर्था या प्रवृत्तिः साम्यावस्थानात् प्रच्युतिः सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिविशिष्टकार्याभिमुख-प्रवृत्तिता सापि नाचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते, मृदादिष्वदर्शनात् रथादिसु च। चेतनस्यैव प्रवृत्तिर्दृष्टा नाचेतनस्य ब्र० सू० २।२।२ भाष्य

आशय यह है कि जगत् की रचना के लिए प्रकृति में प्रवृत्ति माननी पड़ेगी। प्रकृति स्वभाव से सत्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है। जब वह इस साम्यदशा से हटती है, तब उसमें प्रवृत्ति होती है। उस समय गुणों में न्यूनाधिक भाव आ जाता है। कोई गुण प्रधान बन जाता है और कोई उसका अंग। तब विशिष्ट कार्य को पैदा करने की ओर वह झुकती है। प्रश्न यह है कि जड़ प्रकृति में यह प्रवृत्ति कहां से आई?

जड मिट्टी का टुकडा चेतन कुम्भकार के द्वारा चालित होने पर घडे का रूप धारण करता है। चेतन सारथी की अध्यक्षता में रथ चलता है। इसी प्रकार किसी चेतन की देख-रेख मे जड प्रकृति मे प्रवृत्ति आती है। स्वय उसमे इस प्रवृत्ति का उदय हो नही सकता। जगत् के समस्त उदाहरण इसीके समर्थक है।

ऊपर दिया गया वैज्ञानिको का मत ठीक इस मत से मेल खा रहा है। अत. विकासवाद को समझाने के लिए किसी अदृश्य पदार्थ की कल्पना विज्ञान को करनी ही पडती है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय दार्शनिको के सिद्धान्तो की पुष्टि आजकल उन्नत विज्ञान के द्वारा पूर्ण मात्रा मे की जा रही है। यह उन सिद्धान्तो की प्रामाणिकता को क्या प्रबल रूप से सिद्ध नही कर रहा है?

दर्शन और सत्य

सत्य की महिमा प्रत्येक धर्म मे है, चाहे वह धर्म छोटा हो या बडा। सत्य सार्वभौम धर्म है, प्रत्येक धर्म के माननेवाले को उसपर आस्था है। वैदिक धर्म ब्रह्म को सत्य स्वरूप मानता है—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**। ईसाई बाइबिल गाड (ईश्वर) को 'ट्रुथ' (सत्य) नाम से पुकारती है। इस्लाम खुदा को 'हक' (सत्य) कहकर पुकारता है। इस प्रकार ही प्रत्येक धर्म में सत्य का स्थान बडा ऊचा है। इस ब्रह्माण्ड का सबसे बडा तत्त्व सत्य से अभिन्न माना जाता है। यह व्यवस्था प्राय हरेक धर्म मे देखी जाती है। पर सत्य की जितनी महिमा हिन्दूधर्म मे है, सत्य पर हिन्दुओ की जैसी निष्ठा है वैसी अन्यत्र नही देखी जाती। हिन्दुओ के समान सत्यनिष्ठा अन्य धर्मावलम्बियो मे मिलनी असम्भव नही तो विरल अवश्य है।

महाभारत के आदिपर्व मे ६८ अध्याय से ७४ अध्याय तक शकुन्तला का उपाख्यान बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। राजा दुष्यन्त मालिनी तीर पर कण्व के आश्रम मे गया। कण्व की अनुपस्थिति मे उनकी पोष्यपुत्री शकुन्तला के साथ उसकी बाते हुई। उसने उसके रूप पर मुग्ध होकर उसके साथ विवाह का प्रस्ताव कर डाला। शकुन्तला ने उसे स्वीकार तो किया,

पर एक शर्त पर कि उन दोनों की सन्तति सिंहासन की अधिकारिणी बने। राजा ने इसे मान लिया। वह वहां से हस्तिनापुर चला गया, उधर शकुन्तला के पुत्र हुआ। कण्व को सन्देह हुआ कि राजा इसे भूल गया है। अत पुत्र के साथ शकुन्तला को उसने राजा के पास भेजा। उस समय शकुन्तला ने राजा के सामने सत्य की जो महत्ता बतलाई है, वह वास्तव में मननीय है—

"सौ कूपों से बढकर बापी (तालाब) होता है, सौ बापी से बढकर क्रतु-यज्ञ होता है, सौ यज्ञों से बढकर पुत्र होता है और सैकड़ों पुत्रों से बढ़कर सत्य होता है। यदि सहस्रों अश्वमेध तथा सत्य तराजू पर तौलने के लिए एक साथ रखे जायं, तो सत्य का ही पलडा भारी होता है, भारी होने से वही झुकता है। सब वेदों का अनुशीलन, सब तीर्थों में स्नान तथा सत्य—ये तीनों समान हो सकते है अथवा न भी हो सकते है। सत्य के समान कोई धर्म नहीं है, सत्य से बढ़कर कोई वस्तु है ही नहीं, झूठ से बढकर तीव्र वस्तु इस संसार में नहीं है।" (अ० ७४। १०२-१०५)

इसमें सत्य की कितनी ऊंची प्रशंसा है! यह केवल कोरी प्रशंसा ही नहीं है, प्रत्युत उस समय में सत्य की निष्ठा वास्तव में सर्वव्याप्त थी—

सत्यधर्मच्युतात् पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जनः किं पुनरास्तिकः॥

—आदिपर्व ७४।९७

नास्तिक ईश्वर को नहीं मानते, वेद में श्रद्धा नहीं रखते, परलोक की हँसी उडाते है। पर सत्य पर उनकी निष्ठा अटल होती है। यदि कोई आदमी सत्य से च्युत होता है तो वे उससे उसी भांति उद्विग्न होते है जैसे क्रोधी साप से आदमी डरकर भाग खड़ा होता है। नास्तिकों की सत्य पर ऐसी आस्था है तब वेद में श्रद्धाशील आस्तिकजनों की तो कथा ही न्यारी है। यह श्लोक हमारे लिए बड़े महत्त्व का है। नास्तिक हिन्दुओं की सत्य-निष्ठा इतनी दृढ़मूल है, तब आस्तिक हिन्दुओं की बात क्या कही जाय?

उद्योग-पर्व में 'हठवश सब संकट सहे गालव नहुष नरेश' में निर्दिष्ट गालव ऋषि का उपाख्यान कुछ विस्तार के साथ वर्णित है। उन्होंने ययाति राजा की पुत्री माधवी की कृपा से गुरु विश्वामित्र को आठ सौ श्यामकर्ण

घोडो के दानरूपी घोर प्रतिज्ञा को पार किया था। ययाति को अन्त मे स्वर्ग मिला, पर पुण्य के क्षय हो जाने पर उन्हे पुनः इस भूतल पर आना पडा। यहा आकर उन्होने चार राजाओ को यज्ञ करते देखा। उन्हे पता नही था, पर ये चारो उनकी पुत्री माधवी के पुत्र होने से उनके दौहित्र थे। इन चारो ने अपने पुण्यो को राजा को दे दिया, जिससे ययाति को फिर से स्वर्गप्राप्ति हुई। इसी प्रसग मे उशीनर के पुत्र राजा शिवि ने अपनी सत्यनिष्ठा की जो बात कही है, वह विशेष उल्लेखनीय है। इतनी निष्ठा अन्यत्र कही मिल सकती है? राजा ने कहा—बालकों के विषय मे, स्त्रियों के विषय मे, हँसी-मजाक मे, प्रतिज्ञा के अवसर पर, विपत्ति मे मैने कभी झूठ नही कहा; सदा सत्य ही बोलना था। इस सत्य के बल पर आप स्वर्ग चले जायं। हे राजन्! मै प्राणों को छोडने के लिए तैयार हू, इस विशाल राज्य को भी छोड सकता हू, अपने काम-सुख को भी छोड़ सकता हूं, पर मै सत्य को कभी छोड़ नही सकता। इस सत्य के बल से आप स्वर्ग चले जाय।

यथा प्राणांश्च राज्यं च राजन् कामसुखानि च।
त्यजेयं न पुनः सत्यं तेन सत्येन खं व्रज॥

—उद्योग-पर्व १३१।१०

इसका फल भी तुरन्त हुआ। राजा ययाति फिर स्वर्ग चले गए। राजा शिवि जैसी सत्यनिष्ठा कही देखने को भी न मिलेगी। जो मनुष्य हृदय पर हाथ रखकर प्रतिज्ञापूर्वक कह सकता है कि किसी भी प्रसग मे, जीवन की विकट स्थिति मे तथा आनन्ददायक अवस्था मे, उसने कभी झूठ नही कहा, वह सचमुच आदर्श चरित्रवाला पुरुष है। भारतवर्ष मे ऐसे उदाहरण साधारण रूप से मिलते है, पर अन्य देश में ऐसा चरित्र मिलना नितान्त दुष्कर है।

इसका कारण यह है कि हमारे रग-रग मे सत्य की निष्ठा भरी है। हिन्दुओ के हृदय मे सत्य के प्रति वास्तविक श्रद्धा है, गहरा सम्मान है। यह भारतीय सभ्यता की प्रधान विशेषता है। सत्यपरायणता हिन्दू संस्कृति तथा धर्म का प्राण है। आज इस कलिकाल में भी, हिन्दुओ के हृदय मे, जितना प्रेम, श्रद्धा, सम्मान सत्य के लिए विद्यमान है, उतना शायद ही कही अन्यत्र देखने को मिल सकेगा। हमारे घरो में 'सत्यनारायण' की पूजा शुभ

अवसर पर, अमावस्या तथा पूर्णिमा पर, किसी मांगलिक कार्य के आरम्भ होने पर बराबर होती है। इस पूजा का प्रधान उद्देश्य यही है कि प्रत्येक हिन्दू के हृदय पर सत्य की महिमा की अमिट छाप डाल दी जाय। 'सत्य' ही नारायण है, इस सिद्धान्त का प्रचार जैसा हमारे धर्म में दिखलाई पड़ता है वैसा अन्यत्र शायद ही हो। सत्य भगवान् के पूजन के अन्दर कथा-श्रवण का प्रसग आता है। इन कथाओं की छानबीन करने से यही शिक्षा मिलती है कि सत्य बोलनेवाले का कल्याण सदा होता है और सत्य के तिरस्कार करनेवाले का अमगल अवश्यम्भावी होता है। सत्यनारायण की कथा का प्रधान पात्र एक व्यापारी सज्जन है, जो बार-बार प्रतिज्ञा कर उसमें टल जाता है, अपनी नाव मे रखी गई अमूल्य सम्पत्तियों को 'लतापत्रादि' कहकर प्रश्न-कर्ता दण्डी को झूठी सूचना देता है। परिणाम तुरन्त होता है। वह राजा के द्वारा दण्ड पाता है, घोर कारागार में ठूस दिया जाता है। 'सत्य'-पूजन की प्रतिज्ञा करने पर क्लेश से मुक्त हो जाता है तथा सासारिक कल्याण को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार हिन्दुओं मे जिस तरह सत्य भगवान् की पूजा की जाती है, भला वैसी पूजा अन्यत्र दीख पडेगी? हमारी सत्यनिष्ठा विलक्षण है, श्लाघनीय है और अनुकरणीय है।

सत्य के रहस्य को समझना सहज काम नही है। इसकी छानबीन विशेष विद्वान् ही कर सकता है। हमारे ऋषियों ने इस तत्त्व की आलोचना बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से की है। सत्य का आदर्श स्वरूप क्या है? इस मृषाबहुल जगत् मे उस आदर्श का कितना पालन हो सकता है? किन विकट परिस्थितियों मे पडकर हमें उस आदर्श को व्यवहार के अनुरूप तथा अनुकूल लाना पड़ता है?—इत्यादि अनेक प्रश्न इस विषय में उपस्थित होते है, जिनके समुचित उत्तर हमारे धर्म तथा दर्शन-ग्रन्थों में दिये गए है। इनके अध्ययन से हमे सत्य के यथार्थ स्वरूप के निर्णय करने की कुजी मिल जाती है।

सबसे पहले 'सत्य' शब्द की व्युत्पत्ति तथा तज्जन्य अर्थ पर ध्यान देना चाहिए। 'सत्य' की व्युत्पत्ति 'निरुक्त' मे अनेक प्रकार से दी गई है। यास्क से पहले शकटायन नामक आचार्य ने इस शब्द की व्युत्पत्ति दो धातुओं के

योग से बनलाई है। 'सत्य' के दो खण्ड हो सकते है—सत् और य। इन खण्डो के लिए उन्होने दो धातुओं का उपयोग किया है। 'सत्' अस् (होना) धातु से बना साक्षात् रूप है, पर 'य' इ धातु (जाना) के प्रेरणार्थक रूप (आययति) का एक अशमात्र है। इस व्युत्पत्ति के **अनुसार** सत्य का अर्थ होगा—**सन्तमर्थम् आययति प्रत्याययति गमयतीति सत्यम्** (दुर्गाचार्य) अर्थात् विद्यमान रहनेवाले पदार्थ को जो बोध कराये, वह 'सत्य' हुआ। जो वस्तु जिस रूप मे विद्यमान है, उसका उसी रूप मे बोध कराना 'सत्य' के नाम से पुकारा जाता है। इस निरुक्ति मे दो धातुओं ('अस्' धातु और 'इ' धातु) का उपयोग किया गया है, यह ढग यास्क को पसन्द नही है। अत उन्होने स्वय इसकी व्याख्या दो प्रकार से करके दिखलाई है। **सत्यं कस्मात् ? सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा।** 'सत्य' कैसे हुआ ? एक कारण तो यह है कि सज्जनो के रहते उसका तान या विस्तार किया जाता है अर्थात् सज्जनों के पास झूठ नही बोला जा सकता। उनमे कुछ ऐसी सात्त्विक शक्ति रहती है कि जिसके वशीभूत होकर वक्ता सत्य बोलने के लिए बाध्य हो जाता है। दूसरा कारण यह है कि सत्य 'सत्'-जनों से प्रसूत होता है। अर्थात् जो सत्जन है, वे सत्य ही बोलते है। सत्य से इतर भाषण कभी नही करते। इन दोनो प्रकारो मे एक ही धातु का उपयोग कर सत्य की निरुक्ति की गई है। इन निरुक्तियो को एक साथ निरीक्षण करने से सत्य के सामान्यरूप का परिचय भली-भाति प्राप्त हो जाता है। जिस वस्तु की सत्ता जिस रूप मे हो उसका उसी रूप मे ज्ञान कराना सत्य का काम है। सज्जन (सत्जन) और सत्यभाषी दोनो समानार्थक शब्द है। सत्जन वे ही है, जो सत्य भाषण करते है और सत्य का विस्तार सज्जनों के पास किया जाता है। सत्पुरुष मे ऐसी शक्ति देखी जाती है कि कोई कितना भी झूठ बोलनेवाला हो उसके पास उसे सत्य बोलने के लिए कुछ बाध्य-सा होना पड़ता है।

यह तो हुआ 'सत्य' का निरुक्तिगम्य अर्थ। अब इसके स्वरूप की मीमासा पर ध्यान देना चाहिए। 'पातंजल सूत्रों' के 'व्यास-भाष्य' में यह मीमासा भली-भाति की गई है। वाचस्पति ने 'तत्त्ववैशारदी' तथा विज्ञान-भिक्षु ने 'योगवार्तिक' मे इसके स्वरूप को और भी सरल रूप से समझाने

का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। महर्षि पतञ्जलि ने जिन पाच 'यमो' को बतलाया है (**अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः** २।३०), उनमे अहिंसा के अनन्तर 'सत्य' का स्थान है। इसी सूत्र की व्याख्या मे 'व्यास-भाष्य' में बडी महत्त्वपूर्ण बाते बतलाई गई है। ✓

सत्य मे वाणी और मन दोनो यथार्थ होते है, अर्थात् इन्द्रियो की सहायता से जो वस्तु जिस रूप मे देखी गई है या अनुमान के साधनों से जिस रूप मे उसका अनुमान किया गया है, उसका उसी रूप मे मन मे रखना तथा शब्दो के द्वारा उसी रूप का प्रकट करना वाङ्मनस् का यथार्थ होना कहलाता है। सत्य का सम्बन्ध केवल वाणी से नही होता, प्रत्युत उसका निश्चित सम्बन्ध मन से रहता है। वाणी के द्वारा किसी वाक्य का उच्चारण ठीक ढग से भले होता रहे, पर यदि मन मे छल भरा हुआ है तो वह सत्य कहा का ? यह तो केवल वाचिक सत्य हुआ। वाणी का उपयोग ही इसीलिए तो होता है कि अपने ज्ञान को दूसरे व्यक्ति पर सक्रमण किया जाय (**परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वाग् उक्ता**)। किसी पुरुष-विशेष को किसी वस्तु की कुछ जानकारी है। वह चाहता है कि उसका ज्ञान दूसरे किसी व्यक्ति को भी हो जाय। इस कार्य के लिए प्रधान साधन है हमारी वाणी। शब्द-प्रयोग करके हम अपने मनोगत भावो को अभिव्यक्त कर सकते है। आचार्य दण्डी ने इस विषय मे बहुत ठीक कहा है—

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयंज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥

अर्थात्—यह समग्र तीनो भुवन घने अन्धकार के रूप मे परिणत हो जाय, यदि शब्द नामक ज्योति इसे प्रकाशित न करे। अतः शब्द की उप-योगिता ससार के व्यवहार मे कितनी है, इसे विशेष रूप से बतलाने की जरूरत नही।

अब यह वाणी सत्य कब हो सकती है ? जब उसमे तीन दोषो को स्थान न दिया जाय। यदि इस वाणी में वचना न हो, भ्रान्ति न हो, तथा प्रतिपत्ति-शून्यता न हो। **सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिशून्या वा भवेदिति**—व्यासभाष्य। विपरीत अर्थ के बतलाने की इच्छा से प्रयुक्त की जानेवाली वाणी को 'वचिता' कहेगे। अपने पुत्र की मृत्यु के विषय मे द्रोणा-

चार्य के द्वारा पूछे जाने पर युधिष्ठिर का दिया गया सुप्रसिद्ध उत्तर 'वंचिता' वाणी का उदाहरण हुआ। अपने हृदय में बैठे हुए ज्ञान का यथार्थ संक्रमण यहा कहां हुआ ? हुआ उससे विपरीत अर्थ का बोध। अतः इस दोष से शून्य होने पर ही वाणी सत्य हो सकती है। 'भ्रान्ता' वाणी भ्रम से युक्त होती है। भ्रम कभी भी हो सकता है। ज्ञेय वस्तु के स्वरूप-निर्धारण के अवसर पर या विवक्षा के अवसर पर। प्रतिपत्ति-शून्यता का अभाव वाणी में तभी आ सकता है, जब अप्रसिद्धपदों का प्रयोग उसमे न हो। इन दोषों के होने पर मनोगत भावों की दूसरे के ऊपर अभिव्यक्ति यथार्थरूप मे हो नही सकती। अतः इन दशाओं मे हम उसे असत्य कहेगे तथा इन दशाओ मे निर्मुक्त होने पर ही उसे सत्य कहेगे।

वाणी मे इतनी बातों के होने पर भी एक अन्य गुण की आवश्यकता अबतक बनी हुई है। वह गुण है सर्वभूतोपकारिता (**एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय**)। वचनों को केवल श्रवण करके ही उनका कार्य समाप्त नही हो जाता, प्रत्युत उनकी कार्यरूप में परिणत करने में ही उनका अन्तिम उद्देश्य सिद्ध होता है। यदि इस उद्देश्य की सिद्धि मे प्राणियो का कल्याण-साधन नही होता तो वह वाणी सत्य से सर्वथा च्युत समझी जानी चाहिए। वाणी मे वास्तविक सत्यता की सत्ता तभी माननी चाहिए जब उससे प्राणियों का उपकार हो, मगल हो। यदि वाणी का प्रयोग प्राणियों का उपघात ही उत्पन्न करे तो उससे पाप ही होगा, ऊपर से देखने में भले वह पुण्य-सा प्रतीत हो। अत उसके प्रयोग करनेवाले को उस पुण्याभास के लिए कठोर यातना सहनी पड़ती है। शब्दप्रयोग का उद्देश्य सिद्ध नही हुआ। उसका विषम फल फला। अतः वह पुण्य नही हुआ, प्रत्युत पुण्य-प्रतिरूपक हुआ। इसलिए खूब परीक्षा कर सब प्राणियों के हित-साधन करनेवाले सत्य वचन को बोलना चाहिए; यही 'व्यासभाष्य' के विवेचन का निष्कर्ष निकलता है।

इस पुण्यप्रतिरूपक का एक मनोरम दृष्टान्त वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका में दिया है। एक बूढ़े साधक तपस्वी थे, जिनका नाम 'सत्यतपाः' था। सत्य पर उनकी दृढ निष्ठा थी, गहरी आस्था थी। जंगल में रहकर वह तपस्या किया करते थे। स्थान था बडा बीहड़। एक दिन उधर से माल-असबाब से

लदा हुआ सौदागरों का एक झुड उसी रास्ते से होकर निकला। तापस ने उसे देखा। कई घण्टों के बाद डाकुओं का एक दल उधर आ निकला और उस स्थान पर सत्यतपा को देखकर सौदागरों के जाने के मार्ग को उसने पूछा। अन्तिम परिणाम को बिना विचारे श्रद्धालु तापस ने सच्ची बात कह दी। परिणाम महाभयंकर हुआ। बेचारे सौदागर लूटे गए और अपने जीवन से भी उन्हें हाथ धोना पडा। सत्यतपा के वचन थे तो सत्य, पर उनका परिणाम नितान्त प्रतिकूल निकला। सर्वभूतोपकारिता के स्थान पर उनमे अमंगलकारिता भरी थी। इस सत्याभास के प्रयोगकर्ता तापस को इसके लिए उचित दण्ड भोगना पडा होगा, यह बतलाने की आवश्यकता प्रतीत नही होती।

'व्यासभाष्य' के अनुसार की गई सत्य की यह मीमासा 'महाभारत' के 'शान्तिपर्व' में किये गए विवेचन से सर्वथा साम्य रखती है। इन दोनो ग्रन्थो के विवेचन का साराश नीचे के पद्य में मिलता है—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम॥

दर्शन मे वर्णित सत्य का रूप भी इससे भिन्न नही है। दृष्टि का भेद होने पर मूल तथ्य में भेद के समान प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुत. सत्य सत्य ही है। उसके रूप मे भेद की सम्भावना नही होती।

दर्शन और लोकोत्तर ज्ञान

प्राचीनकाल से ही इस देश मे आत्मतत्त्व का अनुसधान प्रवर्तित हुआ था। 'अहं' की प्रतीति किसको आश्रय करके एव किसे अवलम्बन कर उठती है? इसकी आलोचना चिन्ताशील व्यक्ति मात्र ही करते थे। जो व्यक्ति तपस्वी, योगी तथा साधना-सम्पन्न थे, वे अपने योग-बल से अपने अंतःकरण तथा बाह्य इन्द्रियों का उत्कर्ष साधन कर लौकिक प्रत्यक्ष से कही श्रेष्ठ उच्च श्रेणी का प्रत्यक्ष ज्ञान लाभ करने में समर्थ होते थे। इन्द्रियों के दोष तथा अपटुतावश, पदार्थ की सूक्ष्मता के कारण या आवरणवश, या चित्त की कलुषता तथा प्राक्तन संस्कारों के कारण लौकिक प्रत्यक्ष द्वारा सत्य का अभ्रांतस्वरूप साक्षात्कार करना सम्भव नहीं है। इसलिए वे लोग नैतिक

जीवन का उत्कर्ष सम्पादन तथा समाधि का अभ्यास अथवा अन्य किसी प्रकार के साधनाप्रणाली का अभ्यास आवश्यक समझते थे। बौद्ध लोग जिस शील तथा समाधि को प्रज्ञालाभ का हेतु मानते है, उसका हिंदू तथा जैन आचार्य भी समर्थन करते है। शील अर्थात् यम-नियमादि के द्वारा नैतिक विशुद्धि लाभ होने पर ही देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि सत्य-धारण करने की योग्यता प्राप्त करती है। इन्द्रिय तथा मन के सयम से बुद्धि के स्वच्छता लाभ कर लेने पर ही सत्य का शुभरूप अभ्रान्तरूप से चिन्तारूपी दर्पण मे प्रतिबिबित होता है। योग-साधना के द्वारा इस सयम तथा अत शुद्धि लाभ करना पडता है। इस प्रकार क्रिया-योग के द्वारा क्लेश तथा मलो को क्षीण कर समाधिजनित ज्ञानाग्नि द्वारा उन्हे जलाना होता है। इस प्रकार जब मन की चंचलता सम्यक् रूप से निरुद्ध हो जाती है, वृत्तिरोधावस्था में स्वयप्रकाश सत्य अपने-आप अपने मे प्रकाशित होता है। सत्य ज्योतिस्वरूप है और भास्वर है। उसके उदय होने से चित्त प्रकाशित और शान्त हो जाता है। उसके अज्ञान और चचलता के बीज नष्ट हो जाते है। चित्त की अवचेतन भूमि मे जो सस्कार विद्यमान है, वे सत्यज्ञान लाभ करने के एकदम विरोधी है। नाना प्रकार की वृत्तिया तथा वासनाए सत्य ज्ञान लाभ करने के विरोधी रूप मे चित्त की चेतन तथा अवचेतन भूमि मे विद्यमान है। साधना के द्वारा स्वभावसिद्ध महाशक्ति का जब उद्‌बोधन होता है तब ये सब विरुद्ध शक्तिया अपने-आप निस्तेज हो जाती है। ऐसे समय ही सत्य का विमल रूप प्रकट होता है। इसमे किसी प्रकार के विकल्प का मिश्रण नही रहता। केवल अन्तर्बुद्धि (इटयूशन) कहने से समाधिजनित प्रज्ञा का बोध नही हो जाता। यह और भी ऊपर की अनुभूति है। अंतर्बुद्धि से लेकर उन्मेष (रेवेलैशन) तक सब कुछ इसीके अन्तर्गत है। इस ज्ञान को प्रातिभ-ज्ञान कहते है। यह साक्षात् होता है। इसलिए इसमे भ्राति की सम्भावना भी नही होती। फिर भी प्राप्त करते समय ठीक तरह से धारण न कर सकने से अर्थात् सामयिक रूप से चित्त मे चाचल्य उत्पन्न हो जाने से इसमें भ्रांतिक बीज निहित हो जाते है। दिङ्‌नागाचार्य ने इसीलिए अभ्रान्तप्रत्यक्ष को 'कल्पनाशून्य' कहा है। 'पातंजल योगशास्त्र' में यही 'पर प्रत्यक्ष' नाम

से ख्यात है। यह निर्विकल्प होता है, किन्तु अन्य आधार मे संचार के समय शब्दमूलक विकल्प का आश्रय इसे लेना होता है। श्रुति भी इसी 'पर-प्रत्यक्ष' को अनुमान का बीज मानती है। जो सब शास्त्र सत्य के निर्मल स्वरूप को प्रकाशित कर लोक-शिक्षा के कार्य में प्रवृत्त हुए है, उनके मूल में इसी तरह की अनुभूति या प्रत्यक्ष ज्ञान है। इस प्रकार की अनुभूति का उदय साधना के फलस्वरूप केवल विशेष आधारो मे ही हुआ करता है। किन्तु अनुभूति के उदय के मूल मे महाशक्ति अर्थात् विश्वातीत सत्ता का अनुग्रह सबको स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योकि इस प्रकार का ज्ञान मन या बुद्धि का धर्म नही है। मन या बुद्धि की वृत्ति जबतक संयत नही हो जाती तबतक इसका उदय ही नही होता। यह लोकोत्तर ज्ञान है। साधना के द्वारा क्षेत्र तैयार हो जाने पर तथा इसके धारण की योग्यता आ जाने पर यह महाज्ञान अनाहत रूप मे अपने-आप आ जाता है। जिस महाभाग्यवान मे इस ज्ञान का उदय होता है,वह देहधारी होने पर भी देहातीत महासम्पत्ति के अधिकारी है। वह शब्द के द्वारा इस ज्ञान को भाषा मे निबद्धकर इसे सविकल्परूप देकर शास्त्र के रूप मे या उपदेश-वाक्य के रूप मे ससार को प्रदान करते है, तब वह आप्तपुरुष के नाम से ख्यात होते है। अभ्रान्तज्ञान, महाकरुणा तथा करणादि का पटुत्व या सामर्थ्य, अर्थात् विशुद्ध इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति,क्रिया-शक्ति इन तीनो का उनमें प्रकाश रहने के कारण वे 'आप्तपुरुष' नाम से परिचित होते है। जो लोग ईश्वर मानते है, वे परम आप्त से इन त्रिविधशक्ति-सम्पन्न पुरुष को लक्ष्य करते हैं। अतः ईश्वर के मानने या न मानने पर आप्तपुरुष तत्त्व निर्भर नही करता। क्योंकि सांख्य नित्यसिद्धि ईश्वर नहीं मानता, फिर भी आप्तवचन स्वीकार करता है। इसी प्रकार मीमांसा ईश्वरास्तित्त्व को न स्वीकार करके भी नित्य वाक्य के रूप में वेद को स्वीकार करता है। वस्तुतः आगमों मे वर्णित विमर्श-शक्ति ही इसका परमस्वरूप है।

इस लोकोत्तर ज्ञान को नित्य सिद्ध समझना चाहिए। मीमांसक लोग भी वेद के स्वरूप से यह समझते है। यह अभ्रान्त सर्वविषयक अनन्त ज्ञान है। आगम में इसे 'परावाक्' नाम देकर परमशिव से अभिन्न शक्तिरूप कहा गया है। इससे ही क्रमशः विभिन्न स्तरों मे क्षीण होकर महाज्ञान का

अवतरण होता है। इस ज्ञान का आश्रय न कर व्यावहारिक क्षेत्र अनुमान-प्रवृत्त नही हो सकता। अनुमान का स्वभाव युक्ति या योजना है और इसके मूल में व्याप्ति-ज्ञान है। व्यापक ज्ञान की सम्भावना ही जहां नहीं है, वहां वास्तव मे व्याप्ति का उदय ही कैसे होगा। सार्वभौम सत्य स्थापित करने के लिए देशकाल से अपरिछिन्न व्यक्तिगत सस्कारों से अनाविल विशुद्ध व्यापक ज्ञान चाहिए। खण्ड सत्य सब इसी महाज्ञान मे निकलते है। यही 'निगमन' है। मूल मे व्यापक ज्ञान मान लेने पर युक्तितर्क की अवतारणा फलदायक होती है, नही तो सबकुछ वितण्डा मे परिणत हो जाता है। इसी कारण वेदान्त सूत्र मे तर्क को अप्रतिष्ठ कहा गया है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने भी इसका समर्थन किया है।

दर्शन का अर्थ

लोकायतमत को छोड़कर साधारणतया यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के मूल मे विशुद्ध अनुभूति-स्वरूप परमसत्य का प्रकाश है। इसे स्वीकार कर इसे समझने के लिए युक्ति तथा विचारधारा का उपयोग किया जाता है। अति प्राचीन काल से ही उपनिषदो मे तथा अन्यत्र **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'** अर्थात् आत्मा ही दर्शन व साक्षात्कार का विषय है, यह सिद्धान्त सर्वत्र मान लिया गया है। दर्शन या दृष्टि शब्द के प्रयोग के मूल में भी यही सिद्धान्त है। जो लोग श्रद्धासम्पन्न अर्थात् सत्य धारण करने मे उपयुक्त है, अनुकूल मनोवृत्ति से सम्पन्न है, वे गुरु से अथवा वेद आगमादि अपौरुषेय ग्रंथसमूह से अथवा चिदाकाश मे स्वय उद्भूत विवेक-वाणी से या अंतरात्मा की वाणी से पहले सत्य को शब्द के रूप मे श्रवण करते है। यह श्रवण-व्यापार सबके क्षेत्र मे बहिर इन्द्रिय द्वारा ही सम्पादिक होगा, ऐसा नही कहा जा सकता। विशुद्ध तथा सस्कार-मुक्त वाह्य इन्द्रिय अथवा शुद्ध अंत करण द्वारा यह शब्द गृहीत होता है। यह विशुद्ध विकल्परूप ज्ञान है, जो शब्द को आश्रयकर श्रद्धालु श्रोता के अंतःक्षेत्र मे आविर्भूत होता है। यदि किसी आधार में चित्तगत या देहगत मलिनता न रहे तो इस शब्द के श्रवणमात्र से साक्षात् रूप में या परम्पराक्रम से अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है। इसे ही दर्शन या साक्षात्कार कहते है। आध्यात्म-मार्ग

के इतिहास मे इसका दृष्टान्त विरल नही है। किन्तु यदि आधार मे असंभावना-दोष रहे अर्थात् यदि चित्त सरल एव स्वच्छ न होकर सशयाकुल हो तो शब्दजन्य ज्ञान चित्त मे साक्षात्कार का रूप नही ग्रहण कर सकता। इन सब आधारों मे श्रद्धा की मात्रा कम होने के कारण स्वभावत: ही इनमे सशय और तर्क उदित होना है, जिन्हे दूर करने के लिए मनन अथवा युक्ति-विचार की आवश्यकता होती है। युक्ति-विचार के क्षेत्र मे स्वाभाविक नियमादि का पालन करना होता है, अर्थात् विचार-प्रणाली की जो संगति-पूर्ण धारा है, जिसे अवलम्बन न करने मे युक्ति अभिनव ज्ञान का उन्मेषक न होकर असम्बद्ध प्रलाप मात्र हो जाता है, उसका आश्रय ग्रहण करना पडता है। इसीका नाम 'यौक्तिक विचारणा का नियम' (लाज आफ रैशनल थिंकिंग) है। इस विचार की प्रणाली में पूर्व-वर्णित आप्त वाक्य को स्थापित करना होता है। यदि चित्त सशयाकुल न हो तो इसकी आवश्यकता नही होती, किन्तु यदि वह संशयाकुल हो तो इसकी आवश्यकता पडती है। क्योंकि ऐसी अवस्था मे श्रद्धा की मात्रा अपेक्षाकृत कम रहती है, और जितनी रहती है वह सत्य वाक्य को सिद्धान्त के रूप मे हृदय में धारण करने में सहायता करती है और तर्क को कुतर्क मे परिणत नहीं होने देती। यदि उतनी भी श्रद्धा हृदय मे न हो तो विचारधारा के मूल में आश्रय के रूप मे कुछ भी नही रहता। इस प्रकार तर्क व विचार अपने अन्दर चक्कर लगाया करते है। इसमे तत्त्व का निर्णय नही हो, तो कुछ अंश तक केवल विजिभिषावृत्ति प्रशमित होती है। ऐसे स्थान पर अनवस्था दोष का होना अवश्यम्भावी है। चित्त के असम्भावना-दोष को दूर करने के लिए ही मनन शास्त्र की आवश्यकता है। लेकिन सभी भारतीय दार्शनिक एक स्वर से कहते चले आये है कि मनन के द्वारा आप्तजन से प्राप्त तत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान पूर्णरूप से नही प्राप्त किया जा सकता। अवश्य यह बात सत्य है कि श्रद्धा का आधिक्य हो तो ऐसा होना भी असम्भव नही। किन्तु जिस आधार में असम्भावना के अतिरिक्त विपरीत भावना भी विद्यमान है, वहां निदिध्यासन अथवा योगाभ्यास की आवश्यकता स्वीकार करना पड़ता है। असम्भावना न रहना भी यदि केवल विपरीत भावना रहे तो उसे दूर करने के योगाभ्यास की जरूरत होती है। किन्तु यदि क्षेत्र भी

श्रद्धा का अतिशय्य हो, आत्मप्रत्यय प्रबल हो, तो योगाभ्यास की आवश्यकता भी नही हो सकती है।

श्रोतव्यः श्रुतिशक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपत्तिभिः
यत्वा सततं ध्येयः एत दर्शनहेतवः।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन ये तीनों साधारणतया दर्शन के हेतु कहे जाते हैं। 'न्यायकुसुमांजलि' में उदयनाचार्य ने कहा है, "**न्यायचर्चेयम् ईशस्य मनन व्यपदेशभाक्श्रवणानन्तरगता**"—अर्थात् श्रवण के उपरान्त जो न्याय-चर्चा या दार्शनिक आलोचना युक्ति-तर्कपूर्वक की जाती है, वह वस्तुतः मनन का अश होती है। यह कुछ अश तक उपासना का ही प्रकार-भेद है। अद्वितीय दार्शनिक पण्डित उदयन का यह दृष्टिकोण विचार करने योग्य है। उन्होंने अपने ग्रथ 'आत्मतत्त्व-विवेक' के अत में इस प्रकार की भावना का कुछ आभास दिया है।

भारतीय दर्शन का प्रस्थान-भेद

यद्यपि अति प्राचीन समय में शृखलाबद्ध दार्शनिक विचार-धारा प्रचलित न थी, किन्तु दार्शनिक चिन्ता का प्रस्थानगत वैशिष्ट्य अति-प्राचीनकाल से ही था, जिसका पता हमे बौद्धों के पाली-साहित्य, जैनो के प्राकृत-साहित्य और उपनिषद और महाभारत के शान्तिपर्व आदि की आलोचना करने में लग जाता है। स्वभाववाद, यदृच्छावाद, नियतिवाद, कालवाद, प्रकृतिवाद, ईश्वरवाद प्रभृति असख्य वादों का उल्लेख प्राचीन साहित्य में बहुत स्थलो पर मिलता है। ये सब वाद विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों से निकले है, इसमें कोई सन्देह नही, किन्तु इन्हे किसी निर्दिष्ट प्रकार की दर्शन-प्रणाली और धारा से युक्त नहीं किया जा सकता। सुश्रुत की टीका में (डल्लनाचार्य-कृत) बृहतसहिता की टीका में (भट्ट उत्पल-रचित) प्राचीन सांख्य सप्तति की लुप्त कारिका में (जिसका उद्धार स्व० श्री बालगंगाधर तिलक ने किया था) तथा अन्यान्य ग्रन्थों के बहुत स्थानों में इनका उल्लेख तथा आनुषंगिक विवरण मिलता है। डा० श्रादर ने जर्मन भाषा में लिखित अपने एक स्वतन्त्र निबन्ध में भगवान् बुद्ध और महावीर के समय में प्रचलित सब वादों का सक्षिप्त विवरण दिया है।

'न्यायदर्शन' और वात्सायन-भाष्य के चतुर्थ अध्याय मे कुछ वादो का उल्लेख है। 'कथा वथ्थु' नामक पाली ग्रन्थ मे बौद्ध सप्रदाय मे परिचित कुछ वादो का उल्लेख मिलता है, लेकिन ये सब वाद कोई निर्दिष्ट दार्शनिक प्रस्थान नही है। अति प्राचीन समय मे इस प्रकार के प्रस्थान भी नहीं थे। उदाहरण के लिए हम स्वभाववाद को लेते है, साधारणतया लोग लोकायत मत या चार्वाक मत को ही स्वभाववाद समझते है। एक दृष्टि से यदि देखा जाय तो यह समझना ठीक ही है, किन्तु सचाई तो यह है कि स्वभाववाद प्रत्येक दर्शन में किसी-न-किसी रूप में माना गया है। कार्यकारण-भाव की समालोचना के प्रसग मे जो स्वभाववाद का वर्णन मिलता है और जिसका उल्लेख उदयनाचार्य ने अपने ग्रथ 'न्याय कुसुमाजलि' के प्रथम स्तबक मे किया है, वही एकमात्र इसका दृष्टान्त नही है। साख्य-दर्शन में अति प्राचीन काल से ही प्रकृति के परिणाम के सम्बन्ध मे दो मत प्रचलित थे। उनमें से एक यह है कि प्रकृति का परिणाम स्वाभाविक है। सदृश परिणाम और विसदृश परिणाम दोनों ही स्वाभाविक है। दूसरे मतानुसार प्रकृति का परिणाम किसी बाह्य निमित्त के वश हुआ करता है। इस निमित्त के रूप मे अधिकाश स्थल पर 'काल' को ग्रहण किया जाता है। किसी-किसी मे श्वरसाख्य के मत मे काल के स्थान पर ईश्वर की इच्छा ली जाती है। इस प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

दार्शनिक विचारधारा किस समय से सूत्राकार धारण कर श्रेणीबद्ध होने लगी, यह कहना बहुत ही कठिन है। इसमे सन्देह नहीं कि यह अति प्राचीन समय में यदि नही भी हुआ तो प्राचीन समय में तो अवश्य ही हुआ होगा। श्रेणीबद्ध होने के बाद कितने दार्शनिक प्रस्थान प्राचीन काल में दर्शन-कोटि मे आ सके, यह निश्चित नही बताया जा सकता। फिर भी यह कहा जा सकता है कि उनकी सख्या कम न थी। 'षड् दर्शन समुच्चय' की टीका से तथा अन्यान्य बहुत स्थानो से इनका परिचय मिल जाता है। इन सब दर्शनों में लोकायत या चार्वाक-दर्शन को भी स्थान मिला है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे 'विद्या समुद्देश' प्रकरण मे आन्वीक्षिकी और सांख्य के साथ लोकायत-मत को स्थान मिला है। षड्दर्शनसमुच्चय में भी लोकायत-मत है, सर्वदर्शन संग्रह में भी है। अतः लोकायत-दर्शन को दर्शन की श्रेणी के

बाहर नहीं रख सकते। लेकिन प्राचीन काल से ही आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न महर्षियो ने इस मत की उपेक्षा की है। बौद्ध, जैन, वैदिक या आगमिक आर्य-साहित्य से इसका पता लगता है।

भारतीय दर्शन-मुख्यतया दो विभागो मे विभक्त किया जाता है—१. आस्तिक दर्शन और २. नास्तिक दर्शन। यहां आस्तिकता की कसौटी क्या है? सामान्यतः ईश्वर को न माननेवाले व्यक्तियों को 'नास्तिक' और ईश्वर के अस्तित्व में श्रद्धा रखनेवाले व्यक्ति को 'आस्तिक' माना जाता है। साधारणतया इन शब्दो के ये ही अर्थ लोक-व्यवहार में प्रचलित है। पाणिनि के अनुसार परलोक की सत्ता में विश्वास न रखनेवाला 'नास्तिक' कहलाता है। यहा ये दोनों ही अर्थ अभीष्ट नही हैं। 'नास्तिक' की धार्मिक परिभाषा वही है, जो मनु ने अपनी 'स्मृति' मे निर्दिष्ट की है—**नास्तिको वेदनिन्दकः**—अर्थात् नास्तिक वही है, जो वेद की निन्दा करता है, वेद के प्रामाण्य मे विश्वास नही करता और इसलिए वेद द्वारा प्रतिपादित धर्म, आचार तथा विचार मे श्रद्धा नही रखता। दर्शन के प्रसंग में व्यवहृत इस शब्द का यही अर्थ अभीष्ट है। फलतः आस्तिक दर्शन वेद को प्रमाण माननेवाले तत्त्वज्ञान का सांकेतिक शब्द है, तो नास्तिक दर्शन उस प्रामाण्य को अस्वीकार करनेवाले तत्त्वज्ञान का द्योतक अभिधान है। इस दृष्टि से विचार करने पर नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत तीन दार्शनिक धाराएं स्वीकृत की जाती है—१. चार्वाक, २. जैन तथा ३. बौद्ध। ये तीनों ही वेद के अक्षुण्ण प्रामाण्य में विश्वास नही रखते और न वेद प्रतिपाद्य यज्ञयाग के अनुष्ठान को मानव-जीवन के लिए श्रेयस्कर साधन मानते है। चार्वाक-दर्शन के उद्भावक बृहस्पति नामक कोई आचार्य थे। आज बृहस्पति-प्रणीत कतिपय सूत्र (बार्हस्पत्य सूत्र) ही इस दर्शन की प्राचीनतम मौलिक निधि है। जैन-दर्शन का इतिहास बड़ा लम्बा है। इस धर्म के प्रतिष्ठापक आचार्य 'तीर्थंकर' के नाम से प्रख्यात है, जो संख्या में चौबीस है। इसके मौलिक धर्म ग्रन्थ-'अंग' के नाम से विख्यात हैं तथा इनमे निहित बीजों का विपुल विकास मध्ययुगी जैन दार्शनिकों के तर्क-बहुल ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। जैनधर्म अहिंसा का पक्षपाती है—**'अहिंसा परमो धर्मः'** उसीका मुख्य धार्मिक मन्त्र है। फलतः वह न विश्वास

करता है ईश्वर मे, न वेद मे और न वेद द्वारा प्रतिपाद्य हिंसा-बहुल यज्ञानुष्ठान में। जैन-दर्शन की नास्तिकता का यही कारण है। बौद्धधर्म के प्रतिष्ठापन का श्रेय सिद्धार्थ गौतमबुद्ध को दिया जाता है, जो इतिहास-प्रसिद्ध पुरुष थे। इस धर्म का मूल ग्रन्थ 'त्रिपिटक' है—सुत्त पिटक, विनय पिटक, अभिधम्म पिटक। इन पिटकों में विशेषतः अन्तिम पिटक मे बौद्ध धर्म का दार्शनिक आधार बडी प्रौढता के साथ प्रतिपादित किया गया है। इसकी चार दार्शनिक धाराएं कालान्तर मे प्रवाहित हुई—१. वैभाषिक, २. सौत्रान्तिक, ३. योगाचार तथा ४. माध्यमिक। इनके सिद्धान्तों मे पर्याप्त पार्थक्य है। साथ-ही-साथ इनमे मौलिकता भी कम नही है। ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्धधर्म का उदय जैनधर्म के अनन्तर माना जाता है। बौद्ध धर्म भी जैनधर्म के समान ही वेद प्रामाण्य का घोर विरोधी है। फलतः वह भी नास्तिक दर्शन की श्रेणी के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार ये तीनों दर्शन नास्तिक दर्शन के नाम से प्रख्यात है।

आस्तिक दर्शन की सख्या मे भी पर्याप्त मतभेद है, परन्तु सामान्य रीति से वह छः प्रकार का माना जाता है। १. न्याय, २. वैशेषिक, ३. साख्य, ४. योग, ५. कर्म-मीमांसा (या केवल 'मीमासा') तथा ६. वेदान्त। इनकी तीन श्रेणियां बनाई गई है। न्याय-वैशेषिक प्रथम श्रेणी का प्रतिपादक है; साख्य-योग दूसरी का तथा मीमासा-वेदान्त तीसरी का। इन छहों दर्शनों के विकास का क्रम प्रायः समान रूप रखता है। सबसे प्राचीन वे ग्रन्थ है, जो सूत्र रूप मे निबद्ध है। ये सूत्र-ग्रन्थ तत्तत् दर्शन के आजकल आरम्भिक ग्रन्थ भले ही माने जायं, परन्तु इन ग्रन्थों से इन दर्शनों का आरम्भ नही होता। इन दर्शनों का आरम्भ तो इन सूत्र-ग्रन्थों के निर्माण से भी प्राचीनतर है। कालान्तर में इन सूत्रों पर भाष्य लिखे गये तथा इन्हे सुबोध बनाने के लिए इन भाष्यों पर वार्तिक तथा व्याख्याएं निबद्ध की गई। स्वतन्त्र निबन्ध-ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ, परन्तु व्याख्यात्मक पद्धति ही दर्शन के विवरण की अपनी शैली है। न्याय-दर्शन के सूत्रों के रचयिता है—अक्षपाद गौतम, भाष्यकार है वात्स्यायन तथा वार्तिककार है—उद्योतकर। वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार है—कणाद; भाष्यकार है प्रशस्तपाद तथा व्याख्याकार है शकर मिश्र (उपस्कार के लेखक)। सांख्य-

दर्शन के सूत्रकार है कपिल, भाष्यकार है विज्ञान भिक्षु ('साख्य-प्रवचन' के कर्ता) तथा वृत्तिकार है अनिरुद्ध। ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' को साख्य का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मानना चाहिए। योगदर्शन के सूत्रकार है पतञ्जलि, भाष्यकार है व्यास, वार्तिककार है विज्ञान भिक्षु, वृत्तिकार है भोजराज। मीमासा के सूत्रकार है जैमिनी, भाष्यकार है शबरमुनि, वार्तिककार है कुमारिल, वृत्तिकार है प्रभाकर, निबन्धकार है शालिकनाथ तथा माधवाचार्य। वेदान्त के सूत्रकार है बादरायण व्यास, भाष्यकार है नाना मतो के व्याख्याता अनेक आचार्य, जिनमे शकराचार्य (शारीरिक भाष्य--अद्वैत मत), रामानुज (श्रीभाष्य--विशिष्टाद्वैत मत), निम्बार्क (द्वैताद्वैत) मध्व (द्वैतवादी), वल्लभ (अणुभाष्य--शुद्धाद्वैत मत) आदि प्रमुख है। वृत्तिकार विभिन्न मतो मे अनेक है। इस प्रकार षड्दर्शनों का साहित्य इन आचार्यों के विपुल वैदुष्य का निःसन्देह द्योतक है।

इन निगममूलक दर्शनो के अतिरिक्त आगममूलक दर्शनों का भी भारतीय विचारधारा के इतिहास मे प्रमुख स्थान है। आगमो की विविधता तथा विपुलता निःसन्देह उनकी एक महती विशिष्टता है। यहा आगमो के दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए विशेष स्थान नही है, तथापि स्वल्प परिचय विषय की पूर्ति के लिए देना नितान्त आवश्यक है। आगमो (या तन्त्रो) के तीन प्रकार है—

१. पाचरात्र—अर्थात् वैष्णव आगम।

२. शैव—जिसके भीतर पाशुपत, सिद्धान्ती, त्रिक तथा प्रत्यभिज्ञा मुख्य माने जाते है।

३. शाक्त—शक्ति को उपास्य माननेवाले दार्शनिको के आचार-विचार इन आगमो मे प्रदर्शित किये गए है। शाक्तो के भीतर अनेक भेद-प्रभेद है, परन्तु आचार और सिद्धान्त की दृष्टि से 'समय' तथा 'कौल' ये दो प्रधान भेद स्वीकृत किये जाते है।

भारतीय दर्शन के प्रस्थान-भेद का यह एक सामान्य परिचय है।

दर्शन का उपयोग

सांख्य की शिक्षा का उपयोग जीवन मे किस प्रकार किया जा सकता

है ? यह विचारणीय विषय है। सांख्य ही क्यों ? समस्त भारतीय दर्शन के उदय का भी यही मूल कारण है। संसार में दुःख की सत्ता का अपलाप कथमपि नही किया जा सकता। दुःख की सत्ता इतनी प्रबल है कि मनुष्य को पद-पद पर उससे विचलित होना पडता है। दुःख दूर करने के लिए मनुष्य कितना भी उद्योग करे, परन्तु वह हटाये नहीं हटता। एक ही प्रकार का दुःख होता, तो उसे हटाने का मार्ग भी सुगमता से मिल जाता, परन्तु यहां तो तीन दुःखो का अखण्ड तथा अच्छेद्य साम्राज्य विराजमान है, जो प्राणियों को अपने चंगुल में फसाये रहता है। इन दुःखों के क्रमश नाम तथा इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

१. **आध्यात्मिक**—इसका अर्थ है आत्मा अर्थात् देह से सम्बन्ध रखनेवाला दुःख। शरीर तथा मन से सम्बद्ध होने पर यही दो प्रकार का हो जाता है। शरीर-दुःख है व्याधि तथा मानस-दुःख है आधि (जैसे चिन्ता, उद्वेग, क्रोध आदि)। इन दोनों से सम्बद्ध दुःखों के प्रकार या प्रभेद का अन्त नही है। मनुष्य को कभी कोई रोग सताया करता है तो कभी कोई। **'शरीरं व्याधि मन्दिरम्'** की लोकोक्ति प्रसिद्ध ही है।

२. **आधिभौतिक** — इसका अर्थ भूतों अर्थात् बाहरी पदार्थों से उत्पन्न होनेवाला दुःख। जैसे साप तथा बिच्छू का काटना, चोरों के द्वारा लाठी से आघात आदि की गणना इस प्रकार में की जायगी।

३. **आधिदैविक**—अधिदेव जैसे भूत-प्रेतादि अमानव जीवों के कारण उत्पन्न दुःख। इन तीनो प्रकार के दुःखों के भी अनन्त विभेद है।

इन दुःखों से बचने तथा सुख पाने के लिए प्राणी सर्वदा सचेष्ट रहता है। उसकी समग्र क्रियाओं का, कार्यकलापों का एक ही उद्देश्य रहता है कि वह किसी प्रकार सुख की उपलब्धि करे तथा जीवन को सुखपूर्वक बितावे। परन्तु क्या यह कथमपि सम्भव है ? नही। सुख दुःख के साथ हमेशा मिश्रित ही मिलता है। ऐसी दशा में विशुद्ध सुख को जीवन में पाना मृग-मरीचिका ही है। फलत सुख से ध्यान हटाकर दुःख की निवृत्ति की ओर ही ध्यान देना हमारा आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। परन्तु दुःख की निवृत्ति आत्यन्तिक होनी चाहिए अर्थात् निवृत्त हो जाने पर वह दुःख पुन उत्पन्न न हो। यदि निवृत्त होने पर भी वह फिर पैदा हो जाता है तो

इस क्षणिक विराम या विश्राम से हमे लाभ क्या ? हमे चाहिए स्थायी उपाय, टिकाऊ औषध, हमेशा के लिए दु:खो से छुटकारा। और याद रखिये जीवन का यही लक्ष्य है और इसी लक्ष्य की प्राप्ति में साख्य-दर्शन हमारे पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है।

प्रश्न यह है कि इन दुःखो के नाश के निमित्त शास्त्र के पास जाने की जरूरत ही क्या है ? क्या वैद्य और मानस-चिकित्सक की अचूक औषध हमे रोग से मुक्त नही कर सकती ? अवश्य कर सकती है। परन्तु इसका लाभ स्थायी नही होता और न दवा ही हमेशा अचूक होती है। एक रोगी को रोग मे कारगर होने पर भी वही दवा उसी रोग की निवृत्ति मे अन्यत्र लाभदायक सिद्ध नही होती। वैदिक अनुष्ठान की भी यही दशा है। यही कारण है कि अपने जीवन की लक्ष्य-सिद्धि के निमित्त साधक को शास्त्र की शरण लेनी पड़ती है।

वैदिक उपाय—यज्ञयागादिक क्यो इस कार्य मे लाभदायक नही होते, इसका कारण, साख्य की दृष्टि मे, यह है कि वैदिक उपचार मे अविशुद्धि है—यज्ञ मे हिंसा होने से यजमान को अपने हिंसापरक अनुष्ठान के लिए कुछ पाप भी भोगना पड़ता है। वह उपचार क्षय तथा अतिशय से युक्त है। यज्ञ से मिलता है स्वर्ग, परन्तु यह स्वर्ग भी, अनेक कल्पों के बाद ही सही, अपना अन्त अवश्य पा लेता है। फलत: स्वर्ग नाशवान् होता है। उसमे अतिशय भी विद्यमान रहता है। यज्ञीय अनुष्ठानों के फलो में तारतम्य होता है, कोई छोटा होता है और कोई बड़ा। ऐसी दशा मे आत्यन्तिक निवृत्ति दुःखो की न तो लौकिक उपायो से सिद्ध है, न वैदिक उपायों से। इसीलिए दर्शन के पास हमे जाना पडता है। वह बतलाता है—**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**—अर्थात् बिना ज्ञान के मुक्ति नही होती। दु खो का मूल कारण तो अज्ञान है, जिसका नाश ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। अज्ञान है अन्धकार के समान सब तथ्यो का आवरक, ढकनेवाला, और ज्ञान है आलोक के सदृश सब तत्त्वों का प्रकाशक। बिना चन्द्रोदय हुए अन्धकार दूर नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञान-चन्द्र की रश्मिया बिखरकर मानस अन्धकार के गाढ़ पटल को दूर करने मे समर्थ होती है। इसीलिए शास्त्रों, वेदो, पुराणों में ज्ञान की इतनी महिमा गाई गई है। तत्त्वों के विश्लेषण के विषय मे दर्शन की भिन्न-

भिन्न धाराओं में वैषम्य भले ही दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ज्ञान की गरिमा के विषय में समस्त तत्त्वज्ञानियों में दो मत है ही नहीं। यही भारत में दर्शन का महत्त्व है, तत्त्वज्ञान का उपयोग है, जीवन को लक्ष्य तक पहुचाने में ज्ञान की भूयसी विशिष्टता है; साधक को अपना मार्ग समुन्नत और प्रशस्त बनाने में दर्शन लाभ पहुचाता है। परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि यह ज्ञान कोरा ज्ञान नहीं होना चाहिए, प्रत्युत उसे अपने जीवन में उतारना भी बहुत जरूरी है। जीवन अनुभूति के सहारे आगे बढकर लक्ष्य तक पहुचता है। यदि ज्ञान-अनुभूति का रूप धारण कर जीवन के विषम मार्ग को सरल-शोभन, रुचिर-सुन्दर नहीं बनाता, तो वह वास्तविक लाभ हमें नहीं दे सकता। मुक्ति का साधक ज्ञान, वृत्तिज्ञान, कोरा ज्ञान, शाब्दिक ज्ञान न होकर अनुभूतिप्रधान होना चाहिए। इस विषय में शास्त्रकारों में मतैक्य है। साख्य-दर्शन ने सक्षेप में दर्शन की उपयोगिता पर बहुत ही सुन्दर कहा है—

दु खत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ
दृष्टे साऽपार्था चेत् नैकान्ततत्तोऽभावात्।

इस महत्त्वपूर्ण कारिका का आशय है कि तीनों (आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक) दु.खो के अभिघात से मनुष्य को उन दु:खों के दूर करनेवाले कारणों के जानने की इच्छा होती है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि दृष्ट उपायो की सत्ता विद्यमान है, तब शास्त्र के चिन्तन की क्या आवश्यकता ? उत्तर है—बात ऐसी नहीं, दृष्ट उपाय ऐसे नहीं है, जो दु.खों को एकान्त रूप से (निश्चित रूप से) तथा अत्यन्त रूप से (अर्थात् सदा के लिए) नष्ट कर दें। इसीलिए इन दु.खों को सर्वदा के लिए तथा निश्चित रूप से नष्ट करने के लिए दर्शन-शास्त्र की आवश्यकता पडती है।

हमारे अपूर्ण जीवन को पूर्णत्व की कोटि में पहुचा देना दर्शन का वास्तविक उद्देश्य है। भारतीय दर्शन जीवन की समस्याओं को अध्यात्म से सम्बद्ध समस्याओं को— भली-भाति सुलझाता है। प्रत्येक साधक अपने जीवन को पूर्ण बनाने का इच्छुक होता है और भारतीय दर्शन इसमें किस प्रकार सहायक होता है, यह विस्तार से समझने की आवश्यकता है।

हृदय में पूर्णत्व की आकांक्षा का उदय तभी होता है जब मनुष्य को अपनी अपूर्णता का ज्ञान हो जाता है और उसमें ज्ञानोद्दीपन की इच्छा

प्रकट होती है जबतक वह अपनेको अपूर्ण नही जानता, तबतक पूर्ण होने की इच्छा का उदय ही क्यो कर हो सकता है। इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता (१३।११) मे ज्ञान के साधनों के बीच **'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्'** को ज्ञान ही माना है-अर्थात् जन्म, मृत्यु, बुढापा और रोग दुःखदायी होते है और उनमे दोष भरा हुआ है; इस बात का बारम्बार विचार करना भी ज्ञानरूप ही है। जबतक इनमे दुःख का ज्ञान नही होता, तबतक यथार्थ सुख पाने की इच्छा का उदय नही हो सकता।

भोगो की इच्छा तथा पूर्णत्व की आकाक्षा मे महान् अन्तर है। इच्छा सासारिक वस्तुओ, स्वार्थनिष्ठ अधिकार, अपना प्रभुत्व, तुच्छ सुख तथा इन्द्रियजन्य भोग-विलास की चाह है, परन्तु पूर्णत्व की आकांक्षा इससे नितान्त भिन्न वस्तु है। दैवी वस्तुओं--जैसे सदाचार, दया, शुद्ध तथा प्रेम की चाह है। आकाक्षा मनुष्य के लिए अपनी त्रुटियों को दूर कर पवित्र जीवन बिताने के लिए एक बहुत ही आवश्यक साधन है। बहुतों की तो यह अनुभूति है कि मनुष्य पूर्णत्व की आकाक्षा के पखो के द्वारा पृथ्वी से देवलोक को, अज्ञानता से ज्ञान को और अन्त मे अन्धकार से उच्च ज्ञानलोक को प्राप्त कर लेता है। पूर्णत्व की आकाक्षा से हीन प्राणी तुच्छ, सांसारिक, विषयी तथा अनुत्साही बना रहता है। यदि मनुष्य अपनी वास्तविक उन्नति चाहता है, तो उसके हृदय मे पूर्णत्व की आकांक्षा की दीपशिखा जलनी ही चाहिए। पखो मे रहित पक्षी उड नही सकता; उसी भाति पूर्णत्व की आकाक्षा के बिना मनुष्य न तो अपनेको उच्च बना सकता है, न विषय-वासनाओ पर विजय प्राप्त कर सकता है। वह सामान्य प्राणी के समान अपनी इन्द्रियो का दास तथा विषयो के अधीन बना रहता है और निर्बल होने के कारण वह घटनाओं की परवर्तन-धारा मे इधर-उधर लुढकता रहता है।

पूर्णत्व की आकाक्षा से सम्पन्न मानव की स्पष्ट पहिचान है—अपनी तुच्छ दशा से असन्तोष तथा उच्च बनने की चाह। जिस प्रकार प्रबुद्ध मानव आगे बढ़ना चाहता है; निद्रा से जागकर अपनेको ज्ञान के मार्ग पर बढ़ते हुए पाता है, उसी प्रकार इस आकांक्षावाला मनुष्य भी अपनी वर्तमान हीन-दीन दशा की बुराई से परिचित हो जाता है और चाहता है कि

वह श्रेष्ठतम स्थिति को प्राप्त करे। इस प्रकार की आकाक्षा करने से मनुष्य को कल्पनातीत विलक्षण फल प्राप्त होते है। कठिन-से-कठिन वस्तु उसके लिए सुलभ बन जाती है, वास्तविक उन्नति का मार्ग खुल जाता है; उसके हृदय मे दिव्य ज्ञान तथा प्रसाद के सब द्वार खुल जाते है। कविता, सगीत, गीति आदि पवित्र तथा सुन्दर वस्तुओ के पाने का मार्ग भी तभी खुल जाता है, जब वह अपने हृदय को आकाक्षा की उदयभूमि बनाने के लिए तैयार हो जाता है। पर यह आकाक्षा स्थिर भाव मे होनी चाहिए। आज दिव्य वस्तु के लिए इच्छा तो हुई किसी उपदेशक की शिक्षा से, परन्तु कल ही वह लुप्त हो जाती है, क्योकि हमारा हृदय दुर्बल होता है, हमारी भावना कमजोर होती है, हममे अन्त सत्त्व, भीतरी बल का अभाव होता है।

ऊपर कहा गया है कि सासारिक विषयो मे दोष का दर्शन, ज्ञान का अन्यतम साधन है। इसका अर्थ यह है कि जबतक ससार के विषयो का स्वाद मनुष्य को मीठा लगता है तबतक वह उनसे ही सन्तुष्ट रहता है—आगे बढना ही नही चाहता। परन्तु जब वह उस मीठी वस्तु को तीता मानने लगता है, तब उसके हृदय मे ऊचे-ऊचे विचार उत्पन्न होते है। मानव की वर्तमान दशा का वर्णन भागवत के इस श्लोक मे बडी सुन्दरता से किया गया है—

कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः
क्वेद कलेवरमशेषरुजां विरोहः।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्
कामानलं मधुलवैः शमयन् दुरापैः॥

(७।६।२५)

कानो को सुख देनेवाले सासारिक विषय मृगतृष्णा के समान है। कहा वे और कहां यह शरीर जो, सम्पूर्ण रोगो के उद्गम का स्थान है। परन्तु तिसपर भी इन बातो को भली-भांति जानने पर भी, प्राणी को ससार से वैराग्य नही होता। वह छोटे-छोटे मीठे मधु के टुकड़ो से अपने काम की आग को शान्त करता रहता है और समझता है कि इसी प्रकार सब कामनाए स्वत शान्त हो जायगी। ऐसी दयनीय स्थिति है इस मानव की। ऐसी दशा मे

दिव्य ज्ञान की आकाक्षा का जन्म कहा हो ? उसका जन्म तो तब होता है जब वह सांसारिक सुखो से वंचित हो, अपवित्रता के कारण दु ख पाने लगे अथवा शोक से नितान्त विह्वल-चित्त हो। मतलब यह है कि जिसे वह अब-तक अपनी प्रिय वस्तु समझता आया है, उससे उसे धक्का लगना चाहिए। प्रेम का प्रवाह नीचे की ओर न जाकर ऊपर की ओर होना चाहिए। तभी ऐसी उच्च आकाक्षा का उदय होता है।

ऐसी दशा मे मनुष्य मे उन्नत होने की इच्छा प्रथम आवश्यक साधन है। मनोविज्ञान का यह पक्का नियम है कि जिस वस्तु की जितनी स्पृहा होती है, वह वस्तु उतनी जल्दी ही मिलती है। मनुष्य यदि तुच्छ विषयो की इच्छा तीव्र रूप से करता है तो उसे वे मिल जाते है। अत उच्च तथा श्रेष्ठतम भावों की ओर हमे अपने मन को पहले झुकाना चाहिए। सदा पवित्र विचारों को मन में स्थान दो। गंदे विचारों से बढ़कर अपवित्रता क्या हो सकती है ? विचार ही मनुष्य को पवित्र तथा अपवित्र बनाता है। यदि विचार पवित्र है तो मनुष्य पवित्र है। यदि विचार ही अपवित्र हैं तो मनुष्य भी अपवित्र है। इसमे आगे बढने की पहली सीढी है—पवित्र विचारो को जगाना। इस मार्ग का पथिक जीवन मे कभी असफल नही होता।

मनुष्य ही अपनी त्रुटियो, अभावो तथा अपवित्रताओ के लिए उत्तर-दायी है। यदि वह समझता है कि ये वस्तुए कही बाहर से उसमे आ गई है, तब तो वह उन्हे भगाने की, हटाने की कभी कोशिश ही नहीं करता। इसलिए अपनी जिम्मेदारी पहले समझनी चाहिए। अपना अपराध ही नहीं सम-झेगा तो उन्हें दूर कैसे और क्यों करेगा ? मनुष्य को चाहिए कि वह पहले अपने अपराधों को समझे और अपनी बुराई को देखे। कबीर ने ऐसे जीव की भावनाओं को इस दोहे में पूर्णतया प्रकट किया है—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो तन देखा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

परन्तु एक बात ध्यान देने की यह है कि बिना परिश्रम तथा प्रयत्न किये अध्यात्म की सिद्धि नही होती।

'या लोकद्वयसाधनी चतुरता सा चातुरी चातुरी।'

वही चतुरता वास्तव मे चतुरता है, जो दोनो लोको को सिद्ध करनेवाली होती है।

जिससे लोक भी सुधरे और परलोक भी सुधरे, वही तो चतुरता है। परिश्रम दोनो के लिए जरूरी होता है। जिस प्रकार व्यापारी लगातार परिश्रम करने से सासारिक सफलता को पाता है, साधक की भी वही दशा होती है। परमार्थ का मार्ग गुलाब का फूल नही है। वह बडा ही कटकाकीर्ण है। उसपर सभल-संभलकर कदम रखना पड़ता है। प्रयत्न पग-पग पर करना पडता है।

जब पूर्णत्व की आकाक्षा का हर्षावेग मन को स्पर्श करता है, तब उसे तुरन्त ही सुधार डालता है और अपवित्रता को दूर हटाने लगता है; परन्तु इस स्थिति को बनाये रखने के लिए सतत तथा सुदृढ प्रयत्न चाहिए। मन मे एक अच्छी भावना का जन्म हुआ, परन्तु वह देर तक नहीं टिकती। वह सकुचित और क्षणिक होती है। भावना के हटते ही चित्त फिर उसी खदक मे जा गिरता है। अपवित्रताए पुराने अभ्यास से उसे चारों ओर से घेर लेती है। इसीलिए अध्यात्मपथ के पथिक को अपने प्रयत्न को निरन्तर नूतन बनाये रखने की आवश्यकता होती है।

शुद्ध जीवन का प्रेमी सदा अपने मन को पूर्णत्व की आकांक्षा के उत्साह-दायी प्रकाश से नया बनाता रहता है। वह प्रात काल उठता है और प्रबल विचारों तथा सतत प्रयत्न से अपने मन को दृढ करता है। वह जानता है कि मन का स्वभाव ऐसा है कि वह एक क्षण भी विचार में लगा हुआ नही रह सकता और यदि वह उच्च विचार तथा शुद्ध आकाक्षाओं से वश में रखे जाते हुए सत्य-मार्ग में नहीं चलाया जायगा तो अवश्यमेव तुच्छ विचार तथा भोग इच्छाओं का दास बनकर बुरी राह में फंस जायगा।

भोगेच्छा के समान उच्च आकाक्षा भी दैनिक अभ्यास से पाली जाती है और पुष्ट की जाती है। दैविक पथप्रदर्शक के समान इसे खोजकर मन में प्रवेश कराया जा सकता है या उपेक्षा करके मन में घुसने नही दिया जा सकता। प्रतिदिन शांत स्थानों में (मुख्य या खुले मैदान में) कुछ समय के लिए जाकर पवित्र हर्षावेग की लहरों को उठाने के लिए मानसिक शक्तियों का आह्वान करने से हम लोग अपने मन को महान् आत्मिक विजय तथा

दैविक महिमा के लिए प्रस्तुत करते है, कारण कि ऐसे ही हर्षावेग से ज्ञान उत्पन्न होता है । शान्ति का प्रारम्भ इसीसे होता है। मन शुद्ध वस्तुओ का ध्यान कर सके, इसके पहले इसे उनकी श्रेणी मे पहुंचाना चाहिए। उच्च आकाक्षा वह साधन है, जिसके द्वारा इसकी शुद्धि हो सकती है। इसकी सहायता से मन बहुत ही ऊचा उठता है और दिव्य लोक तक पहुच-कर ईश्वरीय वस्तुओ का अनुभव करने लगता है । मन इसीके द्वारा विवेक पाता है और सच्चे ज्ञान के दैविक प्रकाश से सत्य-पथ पर चलना सीख लेता है। आशय यह है कि सदाचार के लिए पिपासित रहना, शुद्ध जीवन के लिए बुभुक्षित रहना, पूर्णत्व की आकाक्षा के द्वारा हर्ष तथा उत्साह पाना, यही ज्ञान की प्राप्ति के लिए सच्चा मार्ग है। दिव्य मार्ग का यही आरम्भ है।

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को सदा सोचते रहना चाहिए कि 'कोऽहं का च मे शक्ति.' अर्थात् मै कौन हू ? मेरा स्वरूप क्या है तथा मेरी शक्ति कितनी है ? ऐसा जागरूक व्यक्ति ही आगे बढने का अधिकारी होता है और आगे बढकर वह अपने लक्ष्य को पा लेता है। जो विषकृमि के समान विषयो में ही आनन्द मनाया करता है, वह कभी आगे नही बढ सकता। इसलिए मनुष्य को अपनी वर्तमान दशा मे दोषो को देखकर दिव्य जीवन, दिव्य आनन्द,शाश्वत सुख के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। पूर्णत्व की आकांक्षा इसी उत्कर्ष की सूचक एक महनीय भावना है। याद रखो— '**महान् भावयन् महान् भवति**' बडे की भावना करने से मनुष्य महान् बनता है। फलत यह भावना लक्ष्य पर पहुचानेवाली आरम्भ की सीढी है।

भारतीय दर्शन और मनोविज्ञान

भगवान् ने मन के रूप मे हमारे भीतर एक दैवीशक्ति से सम्पन्न वस्तु को निहित कर रखा है। हम नित्य-प्रति मन की शक्तियो को देखते है, परन्तु उसकी गहराई के भीतर कभी नही उतरते। यदि हम सावधानी से उसमे उतरे तो हमें पता चलेगा कि उसके भीतर कितनी शक्तियां अन्तर्निहित है। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने मन को 'शिवसकल्प' होने की अनवरत प्रार्थना की है। मन जो भी संकल्प करता है, उसे कार्यरूप मे परिणत कर देना है।

अतएव आवश्यक है कि मन का सकल्प 'शिव' हो, 'रौद्र' न हो; विधायक हो, विनाशक न हो, कल्याण का स्रष्टा हो, विनाश का रचयिता न हो। जितने बड़े-बडे मगल कार्यों की सघटना हम देखते है, उनके भीतर यह मन का 'शिवसकल्प' सदा जागरूक रहता है। किसी भी कार्य को व्यवहार के स्तर पर आने मे पहले मानसिक तथा वाचनिक स्थिति मे होकर जाना ही पड़ता है। इसलिए अपने यहां एकाकारता का प्रतीक है—मनसा-वाचा-कर्मणा का सिद्धान्त। उपनिषदों का यही कथन है कि व्यक्ति मन के द्वारा जो चिन्तन करता है, उसीको वचनो के द्वारा प्रकट करता है तथा आगे चलकर उसे ही वह कार्य के रूप मे निष्पन्न करता है। अतएव यदि आप किसी शुभ कार्य को करने के लिए उद्यत है तो सर्वप्रथम अपने मन के संकल्प को कल्याणकारी बनाइये। वही मूल स्रोत है। कार्य-मन्दाकिना का मन ही स्रोतभूत हिमाचल है। कार्य-सरिता अपनी पुष्टि तथा समृद्धि के लिए वहा से पवित्र सकल्प-सलिल को एकत्र करती रहती है। यह माना हुआ सिद्धान्त है कि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की शक्ति विलक्षण तथा व्यापक है। जो वस्तु जितनी ही सूक्ष्म होती है, उसकी शक्ति उतनी ही अधिक तथा गहराई तक पहुचानेवाली होती है। होमियोपैथिक औषधो के चुनाव मे यही तो सिद्धान्त काम करता है। जो दवा जितनी सूक्ष्म होगी, उसका प्रभाव उतना ही अधिक, चिरस्थायी तथा दीर्घकालीन होगा। **'बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः'** भारवि के इस कथन का सकेत ऐसी ही सूक्ष्म औषध की ओर है।

मन अणु माना गया है। उसकी शक्ति आणविक शक्ति है। आजकल की भाषा में वह 'ऐटमबम' की तरह कार्यशाली है। बम का प्रयोग हानि के लिए ही हो रहा है, परन्तु वह विधायिनी शक्ति के उत्पादन के लिए भी लगाया जा सकता है और आज का वैज्ञानिक उसी उपाय के खोजने में लगा है, जिससे वह संचालित शक्ति हानि न उत्पन्न करके लाभ ही पैदा करे। मन की भी ठीक यही दशा है। वह हमारे शरीर के भीतर रहनेवाला 'ऐटम बम' ही है। वैदिक ऋषियों ने मन की दो शक्तियों पर विशेष रूप से जोर दिया है। एक शक्ति है—नयन-शक्ति और दूसरी है नियमन-शक्ति। इस सुप्रसिद्ध मन्त्र में इन्हीं दोनों शक्तियो की ओर लक्ष्य किया गया है—

सुवारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसकल्पमस्तु॥

इस मन्त्र मे सुन्दर सारथि की उपमा मन से तथा इन्द्रियो की उपमा घोडो से बड़े सुन्दर ढंग से दी गई है। 'अश्व' तथा 'वाजी' शब्द सामान्यतः घोड़े के लिए प्रयुक्त होते है। परन्तु दोनों में अन्तर है। अश्व है साधारण घोड़ा, जो टिक-टिक करता हुआ अपना रास्ता तै किया करता है, परन्तु 'वाजी' है वह तीव्र गतिवाला, जोरों से दौडनेवाला घोडा है, जिसे यदि न रोका जाय तो वह किसी भयानक दुर्घटना मे अपने सवार को डाल देगा। सुयोग्य सारथि प्रथम प्रकार के घोडों को मार्ग मे ले जाता है--उन्हे चाबुक मारकर आगे बढने को बाध्य करता है, परन्तु वह वाजी को उन्मार्ग मे जाने से रोकता है, लगाम को जोरों से खीचकर। एक का वह नयन करता है, तो दूसरे का नियमन (नियन्त्रण)। मन का ठीक यही कार्य है। कुछ आदमी स्वभाव से इतने शिथिल होते है कि मन को उन्हे प्रेरित करने की आवश्यकता होती है और कुछ ऐसे उद्धत होते है कि उन्हें विवेक-मार्ग पर रोककर रखने की आवश्यकता होती है। मन दोनो ही कार्य करता है। वह हृदय मे प्रतिष्ठित होता है (हृत्प्रतिष्ठम्) तथा कभी वृद्ध नही होता (अजिरम्)। शरीर जीर्ण-शीर्ण भले हो जाय, झुर्रिया भले लटकने लगे, भले ही वह अपने पैरों पर सीधे न खड़ा हो सके और लकुटिया टेककर ही वह चल-फिर सके; परन्तु क्या मन की दशा वैसी होती है? वह एकदम युवा बना रहता है, शक्तियों का पुज बना रहता है। जिस प्रकार पृथ्वी के नीचे से झरना स्वय फूट निकलता है, उसी प्रकार मन की शक्तिया भी वृद्धावस्था में भी उसमे फूटकर निकला करती है। यह निश्चित है कि मन कभी बूढा नहीं होता। वह नितान्त वेगशाली है। उसमे शीघ्रगामी वस्तु का पता अभी तक नहीं है। शीघ्रगमन में मन ही उपमानभूत है। इस विषय में वह कभी उपमेय नहीं होता। लका को पार करनेवाले मारुत-नन्दन हनुमान्जी 'मनोजव' बतलाये गए है। ऐसे प्रभावशाली मन के सकल्प--इच्छाए--शिव हों, कल्याणकारी हो--वैदिक ऋषि की यही प्रार्थना है

और इससे सुन्दर प्रार्थना और हो ही क्या सकती है। गीता कहती है—
'**योयच्छ्रद्धः स एव स** ।'मनुष्य श्रद्धा का पुंज है। वह सकल्प का खजाना है। इसीलिए सकल्प के शिवत्व की प्रार्थना की गई है।

मन में बडी भारी शक्ति भरी हुई है। मन तो जीता-जागता डायनमो है, जिससे अपनी इच्छा के अनुसार बिजली पैदा की जा सकती है। मन जो इच्छा करता है, वह एक दिन पूरा हुए बिना न रहेगी। जितना मन शुद्ध होगा, उतना ही जोर उसकी इच्छा मे बना रहेगा। प्राचीन ऋषि-मुनियो की बाते हमने पुराणो मे सुनी है। मन उनका इतना सात्विक था कि जिस वस्तु की उन्होंने इच्छा की, वह तुरन्त पैदा हो जाती थी। आजकल अशुद्ध मन यह काम नही कर सकता; पर इसे तो कोई अस्वीकार नही कर सकता कि उसमे असीम शक्ति भरी हुई है।

तब हमे अपने मन से कैसे काम लेना चाहिए? मन जिधर जायगा, उधर ही उसकी शक्ति खर्च होगी। मान लीजिये कि मेरा मन किसी लोभ्य वस्तु पर लगा हुआ है, तब तो उतनी उसकी शक्ति घट जायगी। यदि दूसरी ओर से भी उसी जोर की अभिलाषा हो तो दोनो मिलकर अनुकूल भाव का अनुभव करेंगे। पर यदि उधर से अनुकूल भाव की प्रेरणा नही हुई तो हमारा मन बेहाथ हो जायगा, उसकी सारी शक्ति मारी जायगी। इस कारण वह अपनेको हीन और क्षीण पायगा। इस ससार के पदार्थ नश्वर ही तो हैं। अतः उनसे यदि मन लगा तो कभी-न-कभी सम्बल के नाश हो जाने पर मन की क्या बुरी दशा होगी, इसका भी तो विचार करना चाहिए। स्त्री मे मन लगा है। कभी वह ससार से चल बसती है। जिस प्रकार बिना जजीर की नाव आंधी के समय नदी की उत्ताल तरंगो के ऊपर थपेडे खाती हुई सीधी नही रह सकती, उलटकर सरिता के नीचे जाने लगती है, ठीक वही दशा इस आश्रयहीन मन की हो जाती है। शोक चारों ओर से इसे थपेडे मारने लगता है। विकलता की आधी चारों ओर से बहने लगती है। फल यही होता है कि चित्त काबू मे नही रहता, पागल हो जाता है। किसीका थोडे समय के लिए और किसीका तो सदा के लिए। मन की प्रवृत्ति के वेगावेग के ऊपर यह परिणाम अवलम्बित रहता है। यह तो हुई नश्वर आश्रय पर अवलम्बित रहनेवाले मन की दुर्दशा की करुण-कहानी।

ऐसे मन को ठहराने के लिए हमे दृढ आश्रय की आवश्यकता होती है। एक तो वह स्वय चचल ठहरा, जविष्ठ ठहरा, फिर यदि वह चचल विषय की ओर लगाया जायगा, तव वह और भी चचल हो उठेगा। तूफान के समय मल्लाह अपनी नाव को ठोस जमीन मे खूटों को गाड़कर टिकाता है। यदि जमीन दलदली हो तो न तो नाव का पता चलेगा और न मल्लाह का। दोनों बेकिनार हो रहेंगे। ठीक यही दशा मन की है। यदि दृढ आश्रय पर उसे हम नहीं टिकायेंगे तो वह हमें कही का न रखेगा। न इस घाट लगेगा और न उस घाट। वह हमे अथाह सागर मे ले जाकर झोंक देगा। इसीलिए संतों का कहना है कि मन को बाधने के लिए दृढ रस्सी चाहिए, उसे टिकाने के लिए दृढ़ आधार चाहिए, उसे पकड रखने के लिए दृढ प्रलोभन चाहिए। तभी वह काबू मे आ सकता है। हम नही कहते कि उसे मार डालो। उसे जीवित रहने दो। वह मारे मरेगा नही। परन्तु उसका उपद्रव करने का जो स्वभाव है, उसे तो दूर भगा दो। उसे शुभ कर्मो मे लगाओ, यही ऋषियों का साग्रह कथन है।

इसके लिए हम क्या करे ? मन का उपयोग अपने हित मे कैसे करे ? उपाय तो आपाततः कठिन है। पर अभ्यास से कौन वस्तु साध्य नही होती। पहले तो इसे बाहर जाने ही न दीजिये। जितना बाहर जायगा, उतना ही यह क्षीणशक्ति—हीनवीर्य—होता जायगा। इसकी शक्ति को भीतर-ही-भीतर सचित कीजिये। किसी भी इष्टदेव मे इसे लगा दीजिये। बस, अनइवर देवता के साथ यह सदा खेला करे। यदि यह रूप का लालची है तो घनश्याम की पीताम्बर-कलित मयूर-पुच्छधारी वनविहारी छवि को सदा निरखा करे। यदि मधुर शब्दों के सुनने की अभिलाषा उठती है तो तीनो लोकों को भुला देनेवाली काम-मन्त्र से अनुप्राणित मुरली की आवाज को सुना करे। यदि हाथ-पाव अपने-अपने काम करने के लिए उतावले हो रहे है तो इन्हें भगवान् के ही काम मे लगा दो। हाथ भगवान् के विग्रह की पूजा करे तथा पाव मन्दिर मे जा-जाकर अपनी चरितार्थता अनुभव किया करे। यदि नाक से सुगन्धित वस्तु के सूघने की इच्छा है तो वनमाली के शरीर-स्पर्श से परिचित होनेवाली पुष्पमाला तथा तुलसी की गन्ध का आनन्द लिया करो। ये वस्तुए है किनकी ? उनकी, जो इस जगत् के

नियन्ता है, सबके आधार है, सदा और सर्वत्र रहनेवाले है। यदि ऐसे व्यक्ति मे हमारा मन लगा रहेगा तो क्या उसकी शक्ति कभी क्षीण होगी। क्या उसे कभी विचलित होने का अवसर आयेगा? नही, कभी नही। आनन्दमयी मा के साथ जो मन क्रीडा करता है, उसे असुख कहां? सच्चिदानन्द के साथ जो रहना है, उसे बेचैनी कहा? गोपी-सखा के साथ जो वृन्दावन की हरियाली का मजा लेता है, उसे उदास या सूखा रहने का अवसर कहा?

अत: भारतीय दर्शन कहता है—छोडो पत्र-कलत्र की ममता। छोडो उनमे चित्त लगाना, जोडो इसे भगवान् के अरविन्द-सुन्दर चरण-द्वन्द्व मे। तभी कल्याण होगा। तभी एकान्त मगल होगा। तभी विषय वा गणो से मुक्ति-लाभ करोगे, अन्यथा नही।

भारत मे दर्शन का महत्त्व

किसी भी जाति तथा राष्ट्र की सभ्यता के मापक साधनों मे सबसे अधिक महत्त्वशाली मै दर्शन या तत्त्वज्ञान को मानता हू। जो जाति अध्यात्म के चिन्तन मे प्रवीण होती है, जिसका तत्त्वसमीक्षण अधिक तथा गभीर होता है, जो अपने आचार और व्यवहार का निर्णय विचार की कसौटी पर कसकर करती है, जो जाति अपने व्यवहार के साथ-ही-साथ अपने अध्यात्म के विचार मे भी समर्थ होती है, वही जाति सस्कृति तथा सभ्यता के इतिहास मे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। सभ्यता का प्रथम प्रभात किस देश के गगन मे सबसे पहले उदित हुआ? इस प्रश्न की मीमासा करते समय पश्चिमी विद्वान् मिस्र देश का नाम बडे आदर तथा गौरव के साथ लेते है, परन्तु मिस्र के दार्शनिक तथा साहित्यिक चिन्तनो पर विचार करने मे हमे मौनावलम्बन ही करना पडता है। भौतिकवाद का अनुरागी राष्ट्र अध्यात्म-चिन्तन का प्रेमी कभी नही हो सकता। मिस्र की सभ्यता भौतिकता मे सनी थी, भौतिक सुख की प्राप्ति ही उस देश के राजाओं का परम लक्ष्य थी। फलत: रम्य तथा सुन्दर प्रासादो का रचयिता शिल्पी ही मिस्री सभ्यता मे परम सम्मान का भाजन था; हृदय की कली को मनोरम कविता लिखकर खिलाने वाले कवि की न वहा पूछ थी और न उन्नत तत्त्वज्ञान के अभ्यासी

दार्शनिक की वहा प्रतिष्ठा थी। फलतः अध्यात्म-चिन्तन के अभाव में मिस्र देश की सभ्यता को हम सम्मान की दृष्टि से नही देख सकते। 'कवि' को आदर देनेवाली जाति ही सभ्यता की कसौटी पर खरी उतरती है। पश्चिमी जगत् मे प्राचीन यूनानी तथा पूर्वी ससार मे चीनी तथा भारतीय जाति ही 'कवि' के गौरव को समझती है और उसे सम्मान प्रदान करने में सदा अग्रसर रही है। इसीलिए इन जातियो का प्रभाव सभ्यता के प्रसार मे बहुत ही अधिक रहा है। हमारी दृढ धारणा है (और इसके लिए हमारे पास प्रचुर प्रमाण भी है) कि सभ्यता का उदय सप्तसिधु-प्रदेश मे सबसे पहले हुआ। हमारा पूरा विश्वास है कि भारतीय कवि की यह सूक्ति—

प्रथम प्रभात उदय तब गगने।
प्रथम सामरव तव तपोवने॥

केवल प्रतिभा का विलास नही है, अपितु इतिहास की कसौटी पर भी खरी उतरती है। 'कवि' का जितना सम्मान हमारी पुण्यमयी भारत-भूमि मे होता रहा है, उतना अन्यत्र नही।

'कवि' का मूल व्यापक अर्थ है इन्द्रियो से अगोचर तत्त्वों का साक्षात्-कार करनेवाला व्यक्ति। **कवयः क्रान्तदर्शिनः**। और 'ऋषि' शब्द का भी यही महत्त्वपूर्ण अर्थ है। आध्यात्मशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् का प्राचीन अभि-धान 'कवि' ही है और इसी अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग हम गीता तथा उपनिषदों में ही नही पाते, प्रत्युत सहिताओ में भी यह महनीय शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त उपलब्ध होता है। कठोपनिषद के अनुसार कवि लोग सूक्ष्म बुद्धि से ग्राह्य ब्रह्म की ओर जानेवाले मार्ग को छुरे की धार के समान तेज तथा दुर्गम बतलाते है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥ (३।१४)

प्रश्न (५।७), मुण्डक (१।२।१), महानारायण (१।३), मैत्री (२।७)—में सर्वत्र कवि का प्रयोग मूल अर्थ में मिलता है। श्वेताश्वतर ने जगत् के मूल कारण के विषय में कवियो के विभिन्न मतों का निर्देश किया है (**स्वभावमेके कवयो वदन्ति**—६।१)। गीता '**कवयोऽप्यत्र मोहिताः**' (४।१६) तथा '**सन्यासं कवयो विदुः**' (१८।२)—आदि स्थलों में इसी

औपनिषदिक अर्थ का अनुसरण करती है। ऋक्-संहिता मे इस शब्द का प्रयोग बहुलता से मिलता है—**समानमेकं कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते** (७।८६।३)। ध्यान देने की बात है कि 'कवि' शब्द का प्रयोग स्वयं उस साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म के लिए भी अनेक स्थलो पर किया गया है। ईशावास्य की वाजसनेयी श्रुति उस पुरुष को 'कवि' कहकर पुकारती है—**कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधन् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः** (मन्त्र ८)। महानारायण उपनिषद् के अनुसार परमेश्वर अनन्त और अव्यय होने के अतिरिक्त कवि भी है—**अनन्तमव्ययं कविम्** (महानारायण ११।७) उपनिषदों के स्वर में अपना स्वर मिलाकर श्रीभगवद्गीता भी यही कहती है—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः। (गीता ८।९)

इन उद्धरणो से स्पष्ट है कि अध्यात्म-विद्या का वेत्ता पुरुष 'कवि' के नाम से अभिहित होता है। स्वय परमेश्वर भी इसी 'कवि' की पवित्र पदवी से मण्डित है। इससे बढकर दर्शन-शास्त्र की प्रतिष्ठा की सूचना क्या हो सकती है?

भारतवर्ष में 'कवि' का आदर सदा से होता रहा और आज भी यह समादर का भाव लेशमात्र भी क्षुण्ण नही हुआ है। प्राचीन यूनान में भी अध्यात्म विद्या के अनुरागी व्यक्तियो की कमी न थी, दार्शनिक भी कम नहीं थे, परन्तु समग्र यूरोप के अध्यात्म-शिक्षण के विषय मे गुरुस्थानीय यूनान की काली करतूतों को देखकर हम भारतीयो के हृदय मे विस्मय तथा विषाद की भावना उठ खडी होती है। यूनानी लोगों ने ही मिलकर अपने देश के सबसे बड़े दार्शनिक सुकरात को विष देकर मार डाला था और दूसरे बड़े दार्शनिक अफलातू (प्लेटो) को उनके ही एक भक्त शिष्य ने सरे बाजार मे गुलाम बनाकर बेच डाला था। पश्चिमी जगत् की मूर्धन्य जाति का यह दुराचरण, दार्शनिकों की इतनी अवहेलना, किसे अचम्भे में नही डालती? परन्तु भारत तथा भारतीय सभ्यता से अनुप्राणित समग्र पूर्वी देशों मे दार्शनिकों का बोलबाला था, समाज के वे अग्रणी थे, राष्ट्र के वे निर्माता थे, समाज को परमकल्याण की ओर ले जानेवाले वे महनीय नेता थे। चीन की यही दशा है। भारत की तो बात ही निराली है। भगवान् मनु का

निःसन्दिग्ध प्रमाण है—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

(१२।१००)

वेदशास्त्र का ज्ञाता सेना के सचालन तथा राज्य पर शासन करने के योग्य है। दण्डविधान तथा सब लोकों का आधिपत्य करने का अधिकारी वही है।

प्लेटो भी मनु के इस कथन से प्रभावित हुए थे। उन्होंने आदर्श राष्ट्र के सचालन का भार दार्शनिक के ऊपर ही रखा था। यद्यपि 'रिपब्लिक' में उन्होंने बडी युक्तियों से इस मत का समर्थन किया, पर वह हवाई महल ही बनाते रहे, उनका स्वप्न कभी कार्यरूप में परिणत न हो सका, वह मृगमरीचिका से बढकर सिद्ध न हो सका। परन्तु भारत में राज्य का सूत्र अध्यात्मवेत्ता व्यक्तियों के हाथों में रहा करता था। राजर्षि जनक की ओर आपका ध्यान आकृष्ट कर देना ही पर्याप्त होगा।

राजर्षि जनक मिथिला के मालवीय नरेश थे, परन्तु साथ-ही-साथ अपने युग के परम प्रवीण अध्यात्मवेत्ता याज्ञवल्क्य के शिष्य होने के नाते वह तत्त्वज्ञान के आदरणीय ज्ञाता थे। बृहदारण्यक उपनिषद् में ही उनके उदात्त अध्यात्मतत्त्वों का हमें परिचय नहीं मिलता, प्रत्युत महाभारत के शान्ति-पर्व के अन्तर्गत पंचशिख जैसे प्रख्यात साख्यवेत्ता तत्त्वविद् के साथ अध्यात्म-विषय पर उन्हें वाद-विवाद करते हुए भी हम पाते हैं। गीता की दृष्टि में वह आदर्श कर्मयोगी थे। इस प्रकार यवन देश में जो सिद्धान्त कल्पना-जगत् में भ्रमण करता रहा, वही यहां भारतवर्ष में पूर्णतया चरितार्थ हुआ। भारतवर्ष में दार्शनिकों का कोरा आदर ही नहीं होता था, प्रत्युत देश के शासन की बागडोर भी ऐसे व्यक्तियों के हाथ में देकर भारत व्यावहारिक कल्याण की ओर से सदा निश्चिन्त रहता था।

तत्त्वों के अन्वेषण की प्रवृत्ति भारतवर्ष में उस सुदूर प्राचीन काल से है, जिसे हम 'वैदिक युग' के नाम से पुकारते हैं। ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन युग से ही भारतीय विचारों में द्विविध प्रवृत्ति और द्विविध लक्ष्य के दर्शन हमें होते हैं। प्रथम प्रवृत्ति प्रतिभा या प्रज्ञा-मूलक है तथा द्वितीय प्रवृत्ति

तर्कमूलक है। प्रज्ञा के बल से पहली प्रवृत्ति तत्त्वों के विवेचन मे कृतकार्य होती है और दूसरी प्रवृत्ति तर्क के सहारे तत्त्वो के समीक्षण मे समर्थ होती है। अंग्रेजी शब्दों मे पहली को हम 'इन्टयूशनिस्टिक' कह सकते है और दूसरी को 'रैशनलिस्टिक'। लक्ष्य भी आरम्भ मे ही दो प्रकार के थे—धर्म का उपार्जन तथा ब्रह्म का साक्षात्कार। ऋग्वेद के एक ऋषि प्रातिभ-ज्ञान के बल पर जगत् के मूल तत्त्व की व्याख्या करते हुए अद्वैत तत्त्व के अन्वेषण मे समर्थ होते है। वह कहते है—**आनीदवातं स्वधया तदेकम्** (ऋ १०। १२९।२) उस समय एक ही वस्तु वायु के बिना ही अपनी शक्ति से सांस लेती थी, उसे छोड़कर और कोई दूसरा था ही नही। उसी वेद का दूसरा ऋषि तार्किक बुद्धि का प्रयोग कर लोगों को प्रोत्साहन दे रहा है—**संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्** (१०।१९१।२) अर्थात् आपस मे मिलो, विषय का विवेचन करो तथा एक-दूसरे के मन को जानो। इन उभय प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ने का फल वैदिक युग मे सर्वत्र दीख पडता है। तर्कमूलक प्रवृत्ति के वैदिक कर्मकाण्ड के ऊपर प्रभाव पडने का फल हुआ 'कर्म-मीमासा' की उत्पत्ति। मीमासक ही हमारे पहले दार्शनिक है और पूर्वमीमासा पहला दर्शन है, जिसमें तर्क का उपयोग कर यज्ञ-विधानों मे व्यवस्था स्थिर की गई। वेद के यज्ञयागादिको मे आपाततः अनेक विरोध साधारण दृष्टि से दीख पड़ते है। इन्ही विरोधो का परिहार तार्किक बुद्धि से सम्पन्न कर दार्शनिकों ने पूर्व-मीमासा को जन्म दिया। मीमांसा के 'न्याय' कहलाने का यही रहस्य है। प्रज्ञा-मूलक और तर्क-मूलक प्रवृत्तियों के परस्पर सम्मिलन से आत्मा के औपनिषद तत्त्वज्ञान का स्फुट आविर्भाव हुआ। उपनिषदों के ज्ञान का पर्यवसान आत्मा और परमात्मा के एकीकरण को सिद्ध करनेवाले प्रतिभामूलक वेदान्त मे हुआ।

इस प्रकार उभय मीमांसाओ मे पूर्व-मीमासा तर्कमूलक प्रवृत्ति का फल है तो उत्तर-मीमांसा प्रातिभ-ज्ञान पर अवलबित है। उपनिषद्-काल में ही शुद्ध तर्क-मूलक तत्त्व-ज्ञान का भी ऊहापोह होता रहा, जिससे प्रकृति-पुरुष के द्वैत को सिद्ध करनेवाले सांख्य का, व्यावहारिक योग का, बहुत्ववादी वैशेषिक का तथा 'समानतन्त्र' रूप न्यायदर्शन का उदय हुआ। कुछ विद्वानो ने उपनिषद से सम्बन्ध विच्छेद कर निरपेक्ष भाव से अपनी स्वतन्त्र

तार्किक बुद्धि के द्वारा तत्त्वों का समीक्षण किया। इसीका परिणाम हुआ जैनियों का स्याद्वाद, बौद्धों का शून्यवाद और विज्ञानवाद तथा चार्वाकों का भूतात्मवाद। अतः उपनिषदों से ही समग्र भारतीय दर्शनों का विकास सम्पन्न हुआ, इस कथन में किसी प्रकार के इतिहास से विरोध नहीं है।

उपनिषदों के मूल स्रोत का पता हमें संहिताओं में लगता है। भारतीय दार्शनिक विकास की जो पद्धति साधारणतया हमें सिखलाई जाती है, वह नितांत दोषपूर्ण है। पश्चिमी विद्वानों का आग्रह है कि संहिताओं में केवल कर्मकाण्ड पर ही जोर दिया गया है। ज्ञान-काण्ड का उदय तो कर्म-काण्ड के विरोध रूप में उपनिषदों में ही सर्वप्रथम हुआ। परन्तु उपनिषदों का अध्ययन इस धारणा को निरवलम्ब तथा भ्रान्त सिद्ध कर रहा है।

उपनिषदों में अनेक विद्याओं का विवरण मिलता है, जिनमें मधु-विद्या अन्यतम है। इस विद्या का तात्पर्य है कि जगत् तथा यहां के प्राणी आपस में एक-दूसरे के साथ उपकार-उपकारी भाव से सम्बद्ध हैं। पृथ्वी तथा जल आदि वस्तुओं से जगत् के प्राणियों का कल्याण होता है और ये प्राणी भी पृथ्वी आदि का उपकार करते हैं। इसकी सम्भावना का कारण यह है कि इन दोनों के पीछे आत्मा की सत्ता रहती है। आत्मा पृथ्वी, जल आदि पदार्थ को प्रकाशित करता है और वही आत्मा जगत् के प्राणियों को भी प्रकाशित करता है। इस विद्या का उपदेश अथर्ववेद के ज्ञाता दध्यच नामऋषि ने अश्विनी कुमारों को दिया था। इस विद्या के उपदेश का स्पष्ट संकेत ऋग्वेद के एक मन्त्र (१।११६।१२) में भी किया गया है। इससे स्पष्ट रूप से जाना जाता है कि ऋग्वेद की संहिता में बीजरूप से निर्दिष्ट विद्या का पल्लवन उपनिषद् में किया गया है।

इस विषय को सिद्ध करने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण में मधु-विद्या का बड़ा ही सुन्दर तथा साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है।

इसी प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद के द्वितीय अध्याय के आरंभिक पांच मन्त्र वाजसनेयी संहिता के ११वें अध्याय से उद्धृत किये गए हैं। द्वैतवाद का प्रधान उद्बोधक मन्त्र—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(मुण्डक ३।१।१)

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६३वें सूक्त की बीसवीं ऋचा है तथा अथर्ववेद के नवम काण्ड के नवम सूक्त का बीसवा मन्त्र है। इस मन्त्र का अक्षरार्थ तो यहहै—साथ-साथ रहनेवाले और समान आख्यानवाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते है। उनमें से एक तो स्वादिष्ट अर्थात् मीठे कर्मफल (पिप्पल) का भोग करता है और दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है। परतु इसका भावार्थ है कि इस शरीर मे जीवात्मा तथा परमात्मा दोनो एक साथ पक्षियो के समान आलिगन किये हुए निवास करते है। उन दोनो से जीव अपने कर्म से प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख रूप फल को अविवेकवश भोगता है; परन्तु दूसरा पक्षी, जो पहले पक्षी से नितान्त भिन्न है, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप सर्वज्ञ ईश्वर का प्रतिनिधि है। ईश्वर कर्म के फल को न ग्रहण करता है और न भोगता है। वह केवल द्रष्टारूप से ही रहता है। अपनी केवल सत्ता से भोक्ता और भोग्य दोनो का ही प्रेरक है।

ऐसी दशा में उपनिषदो को नवीन ज्ञान के आलोक से हम आलोकित कैसे माने? संहिताओ मे ज्ञान के मूल तत्त्वों का दिग्दर्शन ऋषियों ने अपने प्रातिभ-चक्षु से निरीक्षण कर स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता का वर्णन अनेक सूक्तो में मे उपलब्ध होता है। इसके सबसे सुन्दर दृष्टान्त ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०।९०) अदिति सूक्त (१।८९) तथा अथर्ववेद के स्कम्भ सूक्त (१० काण्ड, ७-८ सूक्त), और उच्छिष्ट सूक्त (११।९) है। वह सहस्र सिरवाला, सहस्र नेत्र तथा सहस्र पादवाला 'पुरुष' चारों ओर से इस पृथ्वी को घेरकर परिमाण मे दश अगुल अधिक है—**अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्**। पुरुष सूक्त की यह स्पष्ट उक्ति है कि जो कुछ इस समय वर्तमान है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है तथा जो कुछ उत्पन्न होनेवाला सब पुरुष ही है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्। (पु०सू० मन्त्र २)

गौतम ऋषि का अनुभूत सत्य है कि अदिति ही आकाश है, अदिति ही अन्तरिक्ष है, अदिति ही माता, पिता तथा पुत्र है। अदिति ही समस्त देवता-

रूप है और वही समग्र वर्णों की समष्टि है। जो कुछ उत्पन्न हुआ है और जो होनेवाला है, वह सब अदिति ही है।

अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्ष—
मदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना
अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

(ऋग्० १।९९।१०)

अथर्ववेद इसी परम तत्त्व को 'स्कम्भ' तथा 'उच्छिष्ट' के अभिधानों से पुकारता है। जगत् का आधार होने से वह ब्रह्म ही स्कम्भ है। दृश्य प्रपञ्च के निषेध रहने पर जो अवशिष्ट रहता है, वही 'उच्छिष्ट' है। अतः 'उच्छिष्ट' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ प्रपञ्च-विरहित, बाध-रहित ब्रह्म। अथर्व श्रुति कहती है—

उच्छिष्ट पर नाम-रूप अवलम्बित रहता है: उच्छिष्ट पर सब लोक आश्रित रहते हैं, उच्छिष्ट ही इन्द्र और अग्नि है। यह समग्र विश्व उसीके भीतर सम्यक् रूप से स्थापित है—

उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥

(अथर्व ११।९।१)

वेदान्त के इतिहास में 'नामरूप' की कल्पना कितनी महत्त्वपूर्ण है, इसे दर्शन के प्रेमियों को बतलाने की आवश्यकता नहीं। बौद्ध-दर्शन में भी 'नामरूप' की विशिष्ट कल्पना है। इन दोनों का मूल यही है। 'स्कम्भ' आत्म-तत्त्व का ही पर्यायवाची है, इसके लिए श्रुति का स्पष्ट निर्देश है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू
रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो—
रात्मानं धीरमजरं युवानम्॥

(अथर्व १०।८।४४)

वह परमात्मा कामना से रहित है। वह बुद्धि की प्रेरणा करता है। वह अमर है, नित्य है, कभी मरता नहीं। वह स्वयं उत्पन्न होनेवाला है,

क्योंकि उसका उत्पादक कोई भी नहीं होता। वह पूर्ण आनन्द में तृप्त रहता है। कहीं से उसमें कमी नहीं रहती। उसी धीर (बुद्धि के प्रेरक), अजर (कभी वृद्ध न होनेवाले) तथा सर्वदा युवा रहनेवाले आत्मा को जाननेवाला व्यक्ति मृत्यु से कभी नहीं डरता। उस आत्म-तत्त्व का ज्ञान ही मानव को अभय बनाता है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि उपनिषदों ने संहिता के मन्त्रों में निहित सूचनाओं तथा चिन्तनों का ही उपबृंहण किया है। ज्ञान-काण्ड का प्रथम अवतार उपनिषदों में ही हुआ—इस भ्रान्त धारणा को हम जितनी जल्दी अपने हृदय से उखाड़ फेंके, उतना ही अच्छा है।

भारतीय दर्शनों का विकास उपनिषदों में बीजरूप से निहित तथा व्यक्तरूप से प्रतिपादित सिद्धान्तों को लेकर हुआ है। हमारी दृष्टि से हमारे षड्दर्शनों के विकास का यह प्रकार है। औपनिषद तत्त्वज्ञान का पर्यवसान 'तत् त्वमसि' मन्त्र में था। इस मन्त्र के द्वारा वैदिक ऋषियों का यह गम्भीर घोष है कि तत् तथा त्व—ब्रह्म तथा जीव—की नितान्त एकता है। समष्टि में जो 'तत्' है, वह व्यष्टि में 'त्व' है। 'अद्वैत तत्त्व' धर्म के साक्षात्कार करनेवाले वैदिक ऋषियों की दार्शनिक संसार के लिए महती देन है। प्रातिभज्ञान से उसकी स्फुरणा पहले हुई, तर्क से उसकी प्रतिष्ठा पीछे सिद्ध की गई। इसी तत्त्व को हृदयंगम करने के लिए दर्शन विकसित हुए। उपनिषद के पश्चाद्वर्ती युग के सामने यही विषम समस्या थी कि इस तत्त्व का साक्षात्कार किस प्रकार किया जाय। कतिपय दार्शनिक लोग कहने लगे कि विभिन्न गुणवाले जीव और भौतिक जगत्—पुरुष तथा प्रकृति—के गुणों के ठीक-ठीक न जानने में ही यह संसार है। प्रकृति-पुरुष के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से तत्-त्व की एकता सिद्ध होती है। अनात्मख्याति में भेद तथा सम्यक् ख्याति (सम्यक् ज्ञान) में अभेद है। इस सम्प्रदाय का नाम हुआ सम्यक् ख्याति अर्थात् सांख्य। यह तो हुआ केवल बौद्धिक साक्षात्कार। परन्तु इससे काम चलता न देख उसे व्यावहारिक रूप से प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस आवश्यकता की पूर्ति ध्यान-धारणा की व्यवस्था करनेवाले 'योग' से हुई। इस प्रकार सांख्य और योग एक ही तत्त्व-ज्ञान के दो पक्ष हैं। बौद्धिक पक्ष का नाम है—सांख्य और व्यवहार पक्ष का

अभिधान है---योग। कालान्तर में जीव-जगत् के यथार्थ रूप को जानने के लिए उनके गुणों की छानबीन करना आवश्यक प्रतीत होने लगा। इस प्रकार आत्मा तथा अनात्मा के गुण-विवेचन के लिए---अर्थात् उनकी विशिष्टता जानने के लिए 'वैशेषिक' की उत्पत्ति हुई। परन्तु ज्ञान-प्राप्ति की परिष्कृत पद्धति के अभाव मे यह विवेचन सुचारु रूप से सम्पन्न हो नही सकता। अतः ज्ञान की शास्त्रीय पद्धति के निरूपण के लिए 'न्याय' का जन्म हुआ। न्याय है शुष्क तर्कवादी। अनेक विद्वानों की दृष्टि मे केवल तर्क से अध्यात्म का ज्ञान हो नही सकता और इसलिए इन्होने श्रुति की ओर अपनी दृष्टि फेरी। 'श्रुति की ओर लौटो'---इस सिद्धान्त का प्रचार होने लगा। दार्शनिकों ने वेद के पूर्वकाण्ड (कर्म-काण्ड) की विवेचना करना आरम्भ कर दिया और इसी विवेचन का परिणाम हुआ कर्म-मीमासा का उदय। परन्तु इस दर्शन ने विशेष अनुशीलन ने व्यक्त कर दिया कि मानवो की आध्यात्मिक प्रवृत्तियां केवल कर्म की उपासना से तृप्त नही हो सकती। अतः उत्तर-काण्ड (ज्ञान-काण्ड) की मीमांसा होने लगी और इसीका पर्यवसान 'वेदान्त' मे हुआ। इस प्रकार औपनिषद 'तत्त्वमसि' महावाक्य की यथार्थ व्याख्या करने के लिए इस क्रम से षड्दर्शनों की उत्पत्ति हुई---सांख्य और योग, वैशेषिक तथा न्याय, कर्म-मीमासा तथा वेदान्त।

भारतीय दर्शन के सच्चे स्वरूप के विषय मे आज भी अनेक भ्रान्त धारणाएं हमारे हृदय मे विद्यमान है। इसका कारण कुछ तो अपने दर्शन-ग्रन्थो से अपरिचय है और बहुत-कुछ पाश्चात्य शिक्षको की शिक्षा का दुष्परिणाम है। स्वार्थी लोगो ने हमारे दर्शन को निराशावादी कहकर बदनाम कर रखा है। परन्तु इसमे प्रवेश करके इसका अवलोकन करने से तो यह दर्शन नितान्त आशावादी के रूप मे झलक उठता है। तथ्य कथा कुछ दूसरी ही है। भारत मे दर्शन का जन्म दु खो की जिज्ञासा तथा उनके दूर करने के उपायो के चिन्तन से ही होता है (**दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ---सांख्यकारिका १**)। इस भवसागर मे प्राणी क्लेशों के लहरो के थपेडों को खाकर, पद-पद पर विपत्तियो से आक्रान्त होकर इतना अधीर हो उठता है कि उसे जीवन नैराश्य की दीर्घपरम्परा प्रतीत होने लगता है। दर्शन ही उसे सच्चा आश्वासन देकर उस पार ले जानेवाली

नौका के समान सबको आश्रय देकर पार पहुंचा देता है। यदि हमारे दार्शनिकों की जिज्ञासा दुःख ही तक समाप्त होती तो हम उन्हें निराशावादी मानने के लिए कथमपि उद्यत होते; परन्तु वे तो आगे बढते है और वे उसके कारणो को ढूढकर उससे सदा (वास्तविक मोक्ष) छुटकारा पाने का मार्ग बतलाते है। मोक्ष-शास्त्र भी चिकित्सा-शास्त्र के समान ही चतुर्व्यूह है। रोग, रोग-हेतु, आरोग्य तथा भैषज्य इन चार तथ्यो के ऊपर वैद्यक शास्त्र आश्रित है। उसी प्रकार मोक्ष-शास्त्र भी संसार, संसारहेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय के ऊपर अवलम्बित है। आनन्दमय आत्मा की प्राप्ति को चरम लक्ष्य माननेवाला दर्शन नैराश्यवादी क्योकर हो सकता है? यह तो साधारण बुद्धि के बाहर की बात है। हमारा दर्शन परम आशावादी है। वह मनुष्यों को सदैव आगे बढने का उपदेश देकर उस गन्तव्य देश की ओर ले जाता है, जिसे पाने के बाद अन्य कोई प्राप्तव्य वस्तु अवशेष ही नही रहती। इसके पाने का मार्ग अवश्य कठिन है, परतु मार्ग तो है। क्या यह नैराश्यवाद का सूचक है? उपनिषद के शब्दों मे——

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत् कवयो वदन्ति॥

(कठोपनिषद् १।३।१४)

कठोपनिषद का यह प्रख्यात मन्त्र मानवों को जागृति की ओर बढने के लिए उपदेश दे रहा है। वह कहता है——अरे अविद्या-ग्रस्त लोगों, उठो, अज्ञान निद्रा से जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। ज्ञान का पंथ बड़ा ही कठिन है। जिस प्रकार छुरे की धार तेज और दुस्तर (कठिनता से पार करने लायक) होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्ग को वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं। फलतः योग्य आचार्यों से मिलकर तत्त्वज्ञान के रहस्य को प्राप्त करो।

यह आशावादी दर्शन का शंखनाद है।

भारतीय तत्त्वज्ञान की व्यापक दृष्टि किस विद्वान् के समादर का पात्र नहीं बनती? यहां के दार्शनिकों ने 'सत्' की व्याख्या करने में अनुभवगम्य विषय की ओर ध्यान देने की अपेक्षा अनुभवकर्ता विषयी की ओर अधिक ध्यान दिया है। तर्क-बुद्धि का अनुसरण कर आत्मा को तुच्छ अनात्मा से

पृथक् करना विद्वानों का प्रधान कार्य था। इस प्रकार **आत्मान विद्धि—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः**—आत्मदर्शन ही यहां का मूल मन्त्र रहा है। परन्तु आत्मा का परोक्ष-ज्ञान न होकर अपरोक्ष ज्ञान होना चाहिए। इस विषय में हमारा दर्शन अन्य दर्शनों से बहुत-कुछ आगे है। वह तत्त्वज्ञान की व्यावहारिक शिक्षा देता है। जिस प्रकार दृश्यमान विविधता के अन्तस्तल में विद्यमान रहनेवाली एकता का निरूपण करनेवाला अद्वैतवेदान्त तात्त्विक विवेचन की पराकाष्ठा को सूचित करता है, उसी प्रकार विभिन्न मानस-वृत्तियों का सर्वांगीण निरूपण कर योग तत्त्वज्ञान की व्यावहारिक शिक्षा देता है। भारतीय दर्शनों की आलोचना करने से दो सामान्य सिद्धान्त दृष्टिगत होते है। पहला है नानात्मक जगत् की पारमार्थिक एकता, यह है तार्किक सिद्धान्त अर्थात् वेदान्त। दूसरा है ध्यान, धारणा, समाधि के द्वारा इस अनुस्यूत एकता अर्थात् अर्थात् मूलभूत आत्म-तत्त्व का साक्षात् अनुभव। यह है व्यावहारिक सिद्धान्त योग। भिन्न-भिन्न दर्शनों में इन सिद्धान्तों की मान्यता आंशिक रूपेण या पूर्ण रूप से स्वीकृत की गई है।

हमारे दर्शन जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के चैतन्य की विशद व्याख्या करने में निरत है। जाग्रत् दशा की व्याख्या करने से द्वैतवाद तथा बहुत्ववाद (प्लुरेलिज्म) के समर्थक तत्त्वज्ञान का उदय होता है। स्वप्न-दशा की व्याख्या विषयी-प्रधान दर्शन (सबजेक्टिविज्म) की जननी है और सुषुप्त का धार्मिक निरूपण रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म) का जनक होता है। पाश्चात्य दर्शन जाग्रत् दशा तथा तत्सम्बन्ध चैतन्य के समझाने में ही विशेष व्यस्त है। पाश्चात्य मनोविज्ञान मन की अवचेतन दशा का विवरण हाल में प्रस्तुत करने लगा है। इसीलिए हम वहां इस त्रिविध अनुभव के एक अंश की व्याख्या पाते है। परन्तु हमारा दर्शन इस अनुभव के प्रत्येक अंश का ग्रहण कर उसके यथार्थ निरूपण करने में कृत-कार्य हुआ है। इसीलिए अनुभव की पूर्ण व्याख्या यहां की चिन्तनधाराओं की भूयसी विशेषता रही है।

भारतीय दर्शन स्वानुभूति को विशेष महत्त्व देता है। आत्मसाधन के जो तीन प्रकार—श्रवण, मनन, निदिध्यासन—उपनिषदों में प्रतिपादित किये गए है, वे परानुभूति को स्वानुभूति में परिणत करने के क्रमिक मार्ग

हैं। महर्षियों की अनुभूति को प्रदर्शित करनेवाला ग्रन्थ वेद है। इसके तत्त्वों को श्रवण करना चाहिए। ज्ञान को निःसंदिग्ध बनाने के लिए मनन की नितान्त आवश्यकता है। मनन युक्तियों के सहारे किया जाता है। वेद में प्रतिपादित सिद्धान्त सन्देह-रहित है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। परन्तु जबतक साधक उन्हें तर्क की कसौटी पर नहीं कसता, तबतक उनकी सत्यता में उसे विश्वास नहीं जमता। इसीलिए मनन की आवश्यकता होती है। हमारे दर्शनशास्त्र की व्यावहारिकता का यह प्रधान निदर्शन है कि वह निर्धारित तथ्यों को कार्यरूप में परिणत करने का आदेश देता है। जो दर्शन पृथ्वीतल से बहुत ऊपर उठकर कल्पना के साम्राज्य में विचरण किया करता है, वह जनता के विशेष लाभ के लिए नहीं होता। दर्शन तो वही ठीक है जो जनसाधारण की उलझी विपत्तियों में आश्वासन तथा सान्त्वना दे, विह्वल चित्त को सन्तोष प्रदान करे और आश्वस्त चित्त के लिए निःश्रेयस का मार्ग बतलावे।

दर्शन हमारा जीवन है। धर्म और दर्शन के सामंजस्य का यही कारण है। भारत में विचार-शास्त्र पण्डित जनों की कमनीय कल्पना का प्रस्फुटन नहीं है, अपितु उसका अधिराज्य इस व्यावहारिक पृथ्वीतल पर है। दर्शन-शास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ प्रतिष्ठा है। जैसा विचार, वैसा आचार। बिना धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शन की स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है। धर्म का प्रासाद खड़ा करने के लिए दर्शन उसकी नींव रखता है। कोई भी धर्म-तत्त्व तबतक विद्वानों का प्रियपात्र नहीं बन सकता, जबतक वह दर्शन की नींव पर खड़ा नहीं होता। भारत में इस सामंजस्य का मधुर रूप दिखलाई पड़ता है। धर्म के सहयोग से भारतीय दर्शन की व्यापक व्यावहारिक दृष्टि है और दर्शन की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित होने से भारतीय धर्म आध्यात्मिकता से अनुप्राणित है तथा वह तर्कहीन विचारों तथा विश्वासों से अपने-आपको बचा सका है। दुःख को निवृत्ति के खोज से धर्म उत्पन्न होते हैं और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का एकमात्र उपाय यही दर्शन है। परमात्मदर्शन, परमेश्वर का दर्शन, ब्रह्मलाभ, 'स्व' को 'पर' में निमग्न कर देना, यही

उन्नत दर्शन है। इस प्रकार धर्म की पराकाष्ठा का ही नाम दर्शन है। पराकाष्ठा से अभिप्राय यह है कि सच्चे दर्शन से सबका सामंजस्य, सबकी परस्पर अनुकूलता, सबकी तुष्टि और पुष्टि हो जाती है। आत्मदर्शन जिस प्रकार दर्शन का चरम लक्ष्य है, उसी प्रकार वह परम धर्म भी है। मनु और याज्ञवल्क्य आत्मदर्शन को ही परम धर्म मानते है—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञान पर स्मृतम्।
तद् ह्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥

(मनुस्मृति अ० १२।८५)

द्रव्याचार-दया-हिंसा-यज्ञ-स्वाध्याय कर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्॥

(याज्ञवल्क्य-स्मृति)

सब ज्ञानों मे आत्मज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। वही सब विद्याओं में अग्रगण्य है, क्योकि उसीसे अमरत्व की प्राप्ति होती है। यह तो मनु का वचन है। याज्ञवल्क्य का वचन भी इसीसे मिलता-जुलता है। उनका कथन है कि द्रव्य का दान, आचार, दया, अहिंसा, यज्ञ तथा वेद का अध्ययन—ये सब धर्म के नाम से अभिहित होते है। परन्तु इन धर्मों में भी सबसे बड़ा धर्म है योग के द्वारा आत्मा का दर्शन।

इस पुण्यभूमि भारत मे गगा और यमुना के सम्मिलन के समान धर्म और दर्शन का मधुर मिलन भारतीय संस्कृति के परम सामरस्य का सूचक है। भगवती श्रुति दोनों का मूल है। उस मूल को तिरस्कृत कर देने पर दोनों की स्थिति आपत्तियों मे घिरी रहती है। केवल तर्क मे किसी बात का ठीक निर्णय नहीं हो सकता। इसीलिए श्रुति का आश्रय आदरणीय है। भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' मे इस तत्त्व का विवेचन बहुत ही ठीक किया है—

प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
कियद् वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता॥
तत्तद् उत्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना।
अनुपासितवृद्धानां विद्या नाति प्रसीदति॥

विभिन्न वैदिक दर्शनों के द्वारा अभ्यास प्रज्ञा विवेक को प्राप्त करता है। अपने ही तर्क के अनुसंधान से कितने तत्त्वों का उन्नयन किया जा

सकता है ? जिन्होंने तत्वज्ञानी पुरुषों की उपासना नही की है और जिन्होने प्राचीन वैदिक आगमो के आधार का सर्वथा परित्यागकर अपनी ही उत्प्रेक्षा से तन्त्रो की समीक्षा की है, उनकी विद्या अत्यन्त प्रसन्न नही होती।

भारतवर्ष के आधुनिक स्वातन्त्र्य युग में तत्त्वचिन्तकों का उत्तर-दायित्व और भी बढ गया है। यहां एक आदर्श समाज के सगठन की आवश्यकता सर्वोपरि प्रतीयमान है। यह आदर्श समाज किस पुरुषार्थ का प्रधानतया अवलम्बन कर प्रतिष्ठित हो सकेगा ? यह आज भी विचारणीय विषय है, जिसका समाधान राजनेतिक नेता की अपेक्षा समाज-शास्त्र का मर्मज्ञ तत्त्ववेत्ता ही अधिक जागरूकता के साथ कर सकता है। यूरोपीय समाज की प्रतिष्ठा अर्थमूलक है, परन्तु उस समाज का आदर्श क्या कभी भारत मे मान्य हो सकता है ? उत्तर का सकेत निषेध की ओर है। भारतीय सस्कृति धर्म, अर्थ तथा काम, इस पुरुषार्थत्रयी के सन्तुलन पर आधित है। वह धर्म की उपेक्षा कर अर्थ और काम के पक्ष को कभी प्रबल बनाने के पक्ष मे नही रही है और न वह अर्थ-काम के आमूल निरसन की पक्षपातिनी रही है। भारतीय सस्कृति का मूल मन्त्र है—पुरुषार्थों का सन्तुलन।

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकभक्तः स नरो जघन्यः।
तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे॥

इस महनीय सिद्धान्त का तात्पर्य है कि धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों का एक साथ समान रूप से सेवन करना चाहिए। जो मनुष्य तीनों मे से किसी एक की ही सेवा में आसक्त है, वह 'जघन्य' कहलाता है। जो तीनो मे से किन्ही दो का उपासक है, वह 'मध्यम' कहलाता है, परन्तु धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनो मे अभिरत व्यक्ति 'उत्तम' कहलाता है।

धर्म की आसक्ति भी उसी प्रकार उपेक्षणीय है, जिस प्रकार अर्थासक्ति तथा कामासक्ति। इस त्रिवर्ग के पारस्परिक सम्बन्ध की समीक्षा हमे इस निष्कर्ष पर पहुचाती है—

अर्थ का मूल है धर्म तथा अर्थ का फल है काम। अर्थ का वृक्ष धर्म के बीज से उत्पन्न होता है तथा काम के फल को फलता है। इस त्रिवर्ग का मूल है निवृत्ति, जिसे मोक्ष कहा जाता है। 'महाभारत' के श्लाघनीय शब्दों मे हम कह सकते है—

धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते ।
मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते ।।

इस प्रकार भारतीय सामाजिक दर्शन मे अर्थ तथा काम की कथमपि उपेक्षा नही है, इन्ही मूल तत्त्वों के ऊपर लोक-व्यवहार के निर्वाह के कारण इनकी उपेक्षा सम्भव भी नही है। परन्तु इन्हे धर्म के आश्रय मे, नियन्त्रण मे, रखने से ही समाज का कल्याण है। इसके अभाव मे निश्चय ही समाज छिन्न-भिन्न हो जाता है, व्यक्ति तथा समाज का सघर्ष हो जाता है, तथा नियमतः वह समाज विघटित हो जाता है। इसका प्रधान कारण यह है कि स्वच्छन्द अर्थ-काम की प्रकृति तथा धर्म की प्रकृति मे महान् अन्तर है। धर्म का लक्ष्य होता है भेद के बीच अभेद की प्रतिष्ठा, वैषम्य के मध्य साम्य की प्रतिष्ठा, विरोध के भीतर मिलन की प्रतिष्ठा तथा बहुत्व के भीतर एकत्व की प्रतिष्ठा। अर्थ-काम प्राणियो को भेद, वैषम्य, विरोध तथा बहुत्व की ओर ले जाते है। ये मनुष्य को परार्थ को पराभूत करके स्वार्थ के साधन में नियोजित करते है। धर्म का आदर्श परार्थ-साधन के भीतर से ही प्रत्येक की स्वार्थसिद्धि का पथप्रदर्शन करना है। अर्थ और काम की अनुप्राणना दूसरों के सुख और स्वाधीनता को पददलित करके अपनी चरितार्थता और गौरववृद्धि करने की शिक्षा देती है, परन्तु धर्म की अनुप्राणना दूसरों की सेवा मे आत्मोत्सर्ग करके, दूसरो को सुख और स्वाधीनता प्रदान कर अपने जीवन को सार्थक बनाने की शिक्षा देती है। भारतीय संस्कृति मे इसीलिए यज्ञ की इतनी महिमा है। त्याग के भीतर से ही स्थायी सौख्य की उत्पत्ति होती है। दान के भीतर से ही यथार्थ स्थायी प्राप्ति प्रकट होती है। यह विश्व यज्ञ के द्वारा निश्चित ही विधृत है तथा परिचालित है। समष्टि के कल्याण मे व्यष्टि के आत्मोत्सर्ग द्वारा और व्यष्टि के पोषण मे समष्टि के शक्ति-नियोग के द्वारा, त्याग के भीतर से भोग की व्यवस्था के द्वारा और विश्व के सभी विभागो मे सबका सप्रेम सहयोगिता के द्वारा जगत् विधृत है, इस जगत् की शृंखला और सामञ्जस्य सुरक्षित है तथा जगत् का क्रमशः अभ्युदय होता है।

शिव के द्वारा दक्षप्रजापति के यज्ञ-विध्वंस की पौराणिक कहानी का गूढ निर्देश इसी तथ्य की ओर है। इस विश्व के भीतर सामूहिक मङ्गल

तथा कल्याण का प्रतीक है शिव तथा विश्व मे नाना प्रकार के चमत्कारी भौतिक द्रव्यो के जनक भौतिकवाद का प्रतिनिधि है दक्ष प्रजापति। 'दक्ष' का अर्थ है सामर्थ्य अर्थात् भौतिक पदार्थों पर सामर्थ्य प्राप्त करना। यह दक्ष प्रजापति है नित-नूतन प्रजाओ की सृष्टि मे समर्थ है। 'शिव' का अर्थ है परम कल्याण। दक्ष यदि शिव के साथ सघर्ष करता है, यदि भौतिकवाद परम मगल तथा आध्यात्मिक कल्याण की भावना को पछाडने के लिए बद्धपरिकर है तो बिना उसका मस्तक छिन्न-भिन्न किये कल्याण नही। अनियन्त्रित भौतिकवाद आध्यात्मिकता को उदरस्थ करने मे किसी प्रकार रुक नही सकता, यदि उसका मस्तक उडा न दिया जाय। विश्व के सतुलन मे शिव का प्राधान्य अपेक्षित है, दक्ष का नही। विश्व को चरम लक्ष्य की ओर ले चलने के लिए शिव का सामर्थ्य है, दक्ष का नही। शिव का वाहन क्या है? वृषभ, जो साकेतिकता की दृष्टि से धर्म का ही प्रतीक है। शिव वृषभ पर चढकर चलते है। कल्याण धर्म का आश्रय लेकर प्रतिष्ठित होता है। धर्म का आश्रय छोड़ देने पर कल्याण का उदय कभी नही हो सकता। इसीलिए धर्मविहीन समाज की कल्पना भारत की पुण्यमयी भूमि में नितात निराधार है, अप्रामाणिक है, सर्वथा अनुपादेय है।

भारत के अध्यात्मवेत्ता डके की चोट पर प्रमाणित करते आ रहे है कि अर्थ की उपासना स्वार्थमयी प्रवृत्ति की जननी है। वह कभी परम सौख्य की ओर मानव-समाज को कथमपि अग्रसर नही कर सकती। हिरण्यकशिपु के पुत्ररूप मे प्रह्लाद का जन्म अवश्य होता है, परन्तु पुत्र ही पिता के सर्वनाश का कारण बनता है। इस घटना का रहस्य नितान्त गूढ तथा उत्तेजक है। 'कशिपु' का अर्थ है शैय्या, सेज। **'सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः'** भागवत की इस प्रख्यात सूक्ति मे कशिपु का तात्पर्य शैया से ही है। अतः 'हिरण्यकशिपु' का अर्थ है सोने की सेज पर सोनेवाला प्राणी, भोग-विलास मे आसक्त मानव। 'प्रह्लाद' का तो स्पष्ट अर्थ है प्रकृष्ट आह्लाद अर्थात् सातिशय आनन्द। धनी के घर ही प्रह्लाद जन्मता है। 'हिरण्यकशिपु' के घर प्रह्लाद नही जन्मेगा, तो क्या वह दीन-हीन टूटी खाट पर सोनेवाले, दरिद्र के घर पैदा होगा? पहाड से प्रह्लाद गिराया जाता है, परन्तु वह मरता नही। पहाडों पर घूमने से विलासी पुरुष का आनन्द कम नही होता

है, प्रत्युत वह बढता है। जल में डुबाने से प्रह्लाद नही मरता। आज भी समुद्र की सैर आनन्द उपजानेवाली होती है, परन्तु हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद का संघर्ष अवश्यभावी है। भोग की भित्ति पर आनन्द टिक नही सकता। त्याग के सग मे ही आनन्द चिरस्थायी होता है। प्रह्लाद ने स्वय इस आध्यात्मिक तत्त्व का सकेत इस सुन्दर पद्य मे किया है—

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः।
तप्तस्य तत् प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्टः
तावद् विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम्॥

—भागवत ७।९।१९

भगवान् की उपेक्षा ही दुःखों की जननी है। माता-पिता भी भगवान् के द्वारा उपेक्षित बालक के रक्षक नही हो सकते। औषधि रोगी की रक्षा नही कर सकती, क्योकि औषधि देने पर भी मृत्यु देखी जाती है। नाव भी समुद्र मे डूबते हुए प्राणी की रक्षा नही कर सकती। दुःखो से सन्तप्त मनुष्यो के दुःखो की निवृत्ति के जो उपाय है, वे आप-से-आप उपेक्षित लोगो के लिए केवल क्षणिक दुःख-निवृत्ति करते है, उनसे दुःखों की चिरस्थायी निवृत्ति नही हो सकती। अतएव प्रह्लाद का अस्तित्व भगवान् की अपेक्षा मे, सत्ता श्रद्धा और आध्यात्मिक जीवन के यापन मे ही हो सकता है।

भारतीय समाज की भव्य प्रतिष्ठा इसी मूलभूत तथ्य पर हो सकती है। आध्यात्मिक मार्ग की कुजी इस छोटे-से पद्य मे भागवतकार ने बड़ी सुन्दरता से बतलाई है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्-वाग्-वपुर्भि-र्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

—भागवत १०।१४।८

श्लोक का भावार्थ—हे भगवन्, जो मनुष्य क्षण-क्षण पर आपकी कृपा ही बड़ी उत्सुकता से भली-भाति अनुभव करता है और प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ सुख या दुःख उसे मिलता है, उसे निर्विकार मन से भोगता है एवं जो प्रेमपूर्ण हृदय से, गद्गद वाणी से और पुलकित शरीर से अपनेको आपके चरणों में समर्पित करता रहता है—इस प्रकार जीवन बितानेवाला

पुरुष आपके परम पद पाने का ठीक वैसा ही अधिकारी हो जाता है, जैसे अपने पिता की सम्पत्ति का पुत्र स्वभाव से ही अधिकारी होता है।

मानव के आध्यात्मिक आचरमें तीन सोपान है--(क) कर्मों के फल को आसक्तिरहित होकर भोगना; (ख) भगवान् की अनुकम्पा का प्रतिक्षण प्रतीक्षण; (ग) हृदय से भगवान् का चिन्तन, वाणी के द्वारा गुणकीर्तन तथा शरीर के द्वारा वदन। इन तीनो सोपानो के अभ्यास से प्राणी को उसी प्रकार मुक्ति प्राप्त होती है, जैसे पिता की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति पुत्र को प्राप्त होती है। आशय यह है कि ऐसा जीवन बितानेवाले पुरुष को मुक्ति दायभाग से प्राप्त होती है अर्थात् अवश्यमेव प्राप्त होती है। इस तथ्य को जीवन का मन्त्र बनाने की आवश्यकता है। भारतीय दर्शन व्यावहारिक दर्शन है, जो चिन्तन के द्वारा व्यवहार के प्रकार का निर्णय करता है। उच्च सिद्धान्तो की गवेषणा के साथ-साथ इस व्यावहारिक रूप को जनता के सामने रखने की आवश्यकता है।

दर्शन ही जीवन है। वहीहमारे धर्म तथा आचार की भित्ति है। वर्तमान समाज मे विद्यमान धार्मिक तथा सामाजिक कलह बाहरी रूपों की ओर ध्यान देने का ही विपमय फल है। अतः अनेकता के भीतर हम एकता को पहचाने। तुमुल कलह तथा सग्रामसे छिन्न-भिन्न जगत् के लिए परस्पर बन्धुता का आदर्श उपस्थित करे। भगवान् करे उस दिन का मंगल प्रभात शीघ्र हो जब मानव पारस्परिक कलह को भुलाकर मानवता का मूल्य समझ, तथा दार्शनिक दृष्टि को अपनाकर स्वय जीये और दूसरो को भी जीने दे।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

पद्य का तात्पर्य है कि विश्व के समस्त-प्राणी, केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि सब जीव-जन्तु, विपत्तियो को पार करे। सब प्राणी कल्याण का दर्शन करे। सब प्राणी अपनी इच्छाओं को प्राप्त करे। सब प्राणी इस संसार में सब जगह आनन्दित हो। ससार के जीव आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन तीनो दुःखों से शान्ति प्राप्ति करे।

: २ :

श्रौत दर्शन

श्रुति या वेद या उपनिषदों के भीतर जो तत्त्वज्ञान है, उसे हम 'श्रौत दर्शन' के नाम से अभिहित करते है। 'दर्शन' शब्द विचारों की एक व्यवस्थित धारा की ओर संकेत करता है और ऐसा होना उचित ही है, क्योंकि दर्शन एक ही ज्ञानधारा का सुव्यवस्थित प्रवाह होता है। उपनिषदो में अनेक मननशील ऋषियों की अनुभूतियों का विशाल संग्रह है और आपाततः उनमें व्यवस्था का अभाव लक्षित होता है, परन्तु बात ऐसी नही है। इन विचारो मे भी व्यवस्था, एकता, समरसता है तथा सामजस्य है। यद्यपि उपनिषदों मे अन्य विभिन्न दर्शनो के भी बीज विद्यमान है,तथापि उनमे एकरूपता का अभाव नही है। इसलिए हमने उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान के लिए 'श्रौतदर्शन' की सज्ञा प्रदान की है। उपनिषदों मे आपाततः विरोधी सिद्धान्तों के अविरोध और सामजस्य प्रदर्शित करने के लिए ही 'ब्रह्मसूत्रों' की रचना बादरायण व्यास के द्वारा की गई। उपनिषदो के तत्त्वों का निचोड़ दिखलाने के लिए ही भगवद्गीता का निर्माण किया गया। फलतः ये तीनों ग्रन्थ—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता—भारतीय दर्शन के पीठस्थानीय आधार ग्रन्थ है और इसीलिए ये प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रख्यात है। गीता तथा ब्रह्मसूत्र उपनिषन्मूलक होने से ही इतने महत्त्वपूर्ण हैं। फलतः उपनिषद् ही भारतीय दर्शन के आधार ग्रन्थ है, जिनमें निहित बीजों को ग्रहण कर कालान्तर मे अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय तथा अभ्युदय हुआ। इस तत्त्वज्ञान से परिचय पाने से पहले वेद के महत्त्व, स्वरूप तथा प्रतिपादित धर्म की जानकारी रखना बहुत ही आवश्यक है। इसलिए इसका एक सक्षिप्त विवरण यहा प्रस्तुत किया जा रहा है।

महत्त्व

भारतीय दर्शन तथा धर्म के लिए तो वेद की महिमा अक्षुण्ण तथा

सर्वोपरि है ही, परन्तु आर्य धर्म के रूप-रंग जानने के लिए वेद से बढकर प्राचीन तथा प्रामाणिक ग्रन्थ दूसरा नहीं है। संसार के समस्त ग्रन्थों मे वेद ही प्राचीनतम माना जाता है। हिन्दुओं की दृष्टि मे वेद अपौरुषेय हैं, अतएव नित्य है, परन्तु जो विद्वान् वेद को इतिहास तथा पुरातत्त्व की कसौटी पर कसने का आग्रह रखते है, उनकी दृष्टि मे भी वेदों की रचना आज से छः हजार वर्ष से पहले ही हुई थी। अत्यन्त प्राचीन काल मे आर्यजनों के आचार-विचार, रहन-सहन, धर्म तथा तत्त्वज्ञान की जानकारी के लिए वेद से बढकर साधन हमारे पास नही है। जैमिनि का धर्म-परिभाषा के विषय मे यह प्रख्यात सूत्र है—**चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः**। 'चोदना' मीमासा का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है वेद के द्वारा प्रतिपादित विधि। फलतः धर्म के निर्णय करने मे वेद ही सर्वाधिक प्रामाण्य है। वेद के विधि-वाक्यो (आदेश देनेवाले वाक्यो) के द्वारा जिस स्पृहणीय तथा प्रार्थनीय वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है, वही 'धर्म' है। स्मृति भी धर्म के लिए प्रमाण रखती है, परन्तु श्रुति के अनुकूल होने पर ही उसका प्रामाण्य मान्य है, अन्यथा नही। आशय यह है कि श्रुति तथा स्मृति के विरोध होने पर श्रुति को ही प्रमाण मानते है। इसीलिए मनु का कहना है—**प्रमाणं परमं श्रुतिः**—श्रुति ही धर्म के विषय मे सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। इस प्रकार श्रुति या वेद प्रामाण्य धर्म के लिए सर्वातिशायी है, इसमे तनिक भी सन्देह नहीं।

विभाग

वेद के प्रधानतया दो विभाग है—सहिता और ब्राह्मण। 'सहिता' का अर्थ है समुदाय। 'सहिता' मे वेद के मन्त्रों का समुदाय सुरक्षित है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन्ही मन्त्रों की एक प्रकार से विस्तृत व्याख्या है, परन्तु विशेषतः यज्ञों के विविध विधानो और अनुष्ठानों का विस्तृत विवरण यहा दिया गया है। 'ब्राह्मण' के तीन खण्ड है—१. ब्राह्मण, २ आरण्यक तथा ३. उपनिषद्। ब्राह्मण यज्ञपरक ग्रन्थ है। आरण्यक ग्रन्थ वे है, जो जन-साधारण से दूर जंगल मे पढे जाते है तथा जिनमें यज्ञों के आध्यात्मिक रूप का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उपनिषद् से मुख्य तात्पर्य ब्रह्मविद्या से है,

जिसके अनुशीलन से प्राणी ससार के दुःखों से छुटकारा पाकर अनन्त सुख का अधिकारी बनता है। गौण तात्पर्य ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थो मे है। उपनिषद् वेद का अन्तिम भाग है। इसलिए उसे 'वेदान्त' (वेद + अन्त) कहते है। 'वेदान्त' का एक दूसरा तात्पर्य भी है। अन्त का अर्थ सिद्धान्त भी होता है। फलतः वेदो के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के कारण भी इन ग्रन्थो को वेदान्त नाम से पुकारते है।

सहिता

वेद की सहिताए मन्त्रों के समुदाय है। 'मन्त्र' क्या है? किसी देवता-विशेष की स्तुति मे प्रयुक्त होनेवाले अर्थ को स्मरण करानेवाले वाक्य को 'मन्त्र' कहते हैं। वैदिक सहिता चार है—(क) ऋक् सहिता, (ख) यजुः सहिता, (ग) साम सहिता तथा (घ) अथर्व सहिता। वेद तो वस्तुतः एक ही है, परन्तु यज्ञ की दृष्टि से महर्षि कृष्णद्वैपायन ने इसके पूर्वोक्त चार विभाग किये है। यज्ञ के पूर्ण अनुष्ठान के लिए चार ऋत्विजो की आवश्यकता होती है—होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। होता अनुष्ठान के अवसर पर विशिष्ट देवता के प्रशसात्मक मन्त्रो का उच्चारण कर उस देवता का आह्वान करता है। होत्रकर्म के लिए उपयुक्त मन्त्रों का संग्रह ऋक् संहिता या ऋग्वेद के नाम से प्रख्यात है। अध्वर्यु का काम यज्ञों का विधिवत सम्पादन है और उसका विशिष्ट वेद यजुर्वेद है, जिसमें उसके लिए उपयोगी मन्त्रो का समुदाय सगृहीत है। उद्गाता (उच्च स्वर से गानेवाला) के लिए 'सामवेद' का सकलन है तथा ब्रह्मा (यज्ञकर्म का निरीक्षक) के लिए आवश्यक मन्त्र 'अथर्वसहिता' मे सकलित है। वेद का एक अन्य अभिधान 'त्रयी' भी है। इस नामकरण का कारण यह है कि वेदों के मन्त्र तीन प्रकार के होते है—ऋक्, यजुष् तथा सामन्। कुछ मन्त्र तो छन्दोबद्ध होते है अर्थात् गायत्री, त्रिष्टुप् आदि छन्दों में निबद्ध है। ऐसे मन्त्रों को ऋक (ऋच् या ऋचा) कहते है। गद्यात्मक मन्त्रों की संज्ञा 'यजुः' (या यजुष्) है। ऋचाओ के ऊपर भिन्न-भिन्न स्वरों में गायन या गीति का विधान है, जिन्हे 'साम' कहते है। इन तीन प्रकार के मन्त्रों से सम्पन्न होने से वेद को 'त्रयी' नाम से पुकारते है।

ऋग्वेद अनेक देवो की भव्य स्तुतियों का एक विशाल भाण्डागार है। द्युतिमान् होना देवत्व का मुख्य लक्षण है। देव प्रकृति के विविध रूपो को अभिव्यक्त करनेवाले माने जाते है। प्रकृति के जो दृश्य और घटनाए वैदिक आर्यो की दृष्टि मे चमत्कारपूर्ण तथा विस्मयजनक हुई, उन्हे ही सामान्य रूप से 'देव' का अभिधान प्रदान किया गया है। देव के तीन रूप होते है—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। इन तीनों दृष्टियो मे देवत्व का प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थो मे उपलब्ध है। स्थान-विशेष से तीन देवता मुख्य हैं—(क) पृथ्वी-स्थान देव (जिनमे 'अग्नि' मुख्य है); (ख) अन्तरिक्ष-स्थान देव (जिसमे मुख्यता 'इन्द्र' या 'वायु' की है); (ग) द्युस्थान देव (जिसमें प्रधानता है सूर्य तथा सविता की)। इन तीनो मुख्य देवो की स्तुति के रूप समझने के लिए यहा तीन मन्त्र दिये जाते है—

(क) अग्नि

न यो वराय मरुतामिव स्वनः
सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः।
अग्निर्जम्भैस्तिगितं रक्षति भंवति
योधो न शत्रून् स वना न्यृञ्जते॥

—ऋग्वेद १।१४३।५

भावार्थ—अग्नि को कोई रोक नही सकता। ऐसा है दुर्धर्ष अग्नि। इस दुर्धर्ष रूप को प्रकट करने के लिए तीन उपमाए दी गई है। जिस प्रकार वायु की आवाज प्रचण्ड होती है, जिस प्रकार चारों ओर भेजी गई सेना दुर्धर्ष होती है, जिस प्रकार दिव्य वज्र का गर्जन प्रचण्ड होता है, उसी प्रकार अग्नि प्रचण्ड और अदमनीय है। अग्नि अपनी तीक्ष्ण ज्वालाओ से खाता है और नष्ट कर डालता है। जिस प्रकार योद्धा शत्रुओं को परास्त कर नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, उसी तरह अग्नि जगलो को जला डालता है। इस प्रकार अग्नि के अदम्यरूप को दिखलाने के लिए वैदिक ऋषि नाना उपमाओ का प्रयोग करता है।

(ख) इन्द्र—ऋग्वेद के सूक्तो मे इस बलिष्ठ देव की स्तुति बड़े ही भव्य मन्त्रों के द्वारा की गई है। इन्द्र मध्यलोक या अन्तरिक्ष के प्रधान देवता हैं। वह इतना बलवान् है कि उसकी सास से पृथ्वी और आकाश

दोनों कापते हैं। इन्द्र ने सृष्टि के आदि काल मे हिलने-डुलनेवाली पृथ्वी को दृढ बना दिया, चंचल और चलायमान पर्वतो को स्थिरता प्रदान की, विस्तृत अन्तरिक्ष लोक को मापा और आकाश को स्तम्भित कर दिया। ऐसे प्रभावशाली इन्द्र की ओर वैदिक आर्यों का आकृष्ट होना स्वाभाविक है। जो काले रग के दास लोग आर्यो पर आक्रमण किया करते थे, उन्हे इन्द्र ने परास्त कर पर्वत की गफाओ में मार-भगाया और जिस प्रकार जूए के खेल मे जुआडी लाखो रुपयो को जीत लेता है, उसी प्रकार इन्द्र ने भी शत्रुओं को परास्तकर लाखो रुपयो को छीन लिया है—

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि
मो दासं वर्णमधरं गुहाक. ।
श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाद-
दर्य. पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥

—ऋग्वेद २।१२।४

इन्द्र का प्रधान शत्रु वृत्र था, जिसे अवर्षण का दानव माना जाता है। वृत्र ने सब नदियो के पानी को रोक रखा था तथा बादल के भीतर पानी को बन्द कर रखा था। इन्द्र ने अपने मुख्य आयुध वज्र के सहारे वृत्र को मार डाला, जिससे सप्त सिन्धुओं के जल का प्रवाह चल निकला। चारों ओर सुख-समृद्धि विराजने लगी तथा अन्धकार दूर होकर प्रकाश चारो ओर फैल गया। इन्द्र-वृत्र का यह सग्राम प्रतीकात्मक है। प्रत्येक वर्ष वर्षा-ऋतु मे अवर्षण होता है, पानी नही बरसता, तब वर्षा के देव इन्द्र उस अवर्षण को दूर कर चारो ओर वृष्टि कराते है। यही प्राकृतिक घटना इन्द्र-वृत्र-संग्राम के रूप मे ऋग्वेद के मन्त्रो मे बहुशः वर्णित है।

(ग) **सविता**—द्युस्थानीय देवों मे प्राधान्य है सूर्य का। उनके भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार उन्हे विभिन्न नामों से पुकारते है। सविता, पूषा, सूर्य, मित्र, विष्णु आदि सूर्य के ही भिन्न-भिन्न नाम है, जो उसके किसी विशिष्ट व्यापार को लक्षित कर दिये गए है। 'सविता' का अर्थ है प्रसव करनेवाला। सविता के उदय लेने पर ही जगत् में चेतनता का संचार होता है, नही तो वह मृतक के समान विद्यमान रहता है। वही सब क्रियाओ के उत्पादक होने के कारण 'सविता' का नाम धारण करता है। उसके क्रिया-

शील रूप को 'विष्णु' नाम से संबोधित किया जाता है। उसके स्वरूप के विषय में एक-दो मन्त्र यहा दिये जाते है—

मित्रं देवानामुदगादनीकं
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

—ऋग्वेद १।११५।१

सूर्य की स्तुति का यह मन्त्र है। चमकनेवाली किरणों का तेजपुञ्ज रूप आश्चर्यजनक सूर्य-मण्डल उदयाचल के ऊपर उदित हो रहा है। यह मित्र, वरुण, अग्नि का नेत्र स्थानीय है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश को उसने अपनी किरणों से व्याप्त कर लिया है। सूर्य स्थावर (स्थिर रहनेवाले) तथा जंगम (गच्छतीति) जगत् पदार्थों का आत्मा है। वह समग्र विश्व का कारण-भूत है। सूर्य के उदय लेने पर मृतप्रायः ससार पुनः चेतनायुक्त होता है। इसीलिए तैत्तिरीय आरण्यक (१।१४।१) का कथन है—

योऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणान् आदाय उदेति

अर्थात्—जो यह चमकता सूर्य उदय ले रहा है, वह सब प्राणियो के प्राणों को लेकर उदय ले रहा है।

सविता का जो सन्तत क्रियाशील स्वरूप है, वह वेद मे विष्ण के नाम से अभिहित किया गया है। विष्णु के अनेक शौर्य-सम्पादक कार्य है जिन-में मुख्य है—तीन डगों में समग्र विश्व को माप लेना। इसी विशिष्टता के कारण वह 'उरुगाय' तथा 'त्रिविक्रम' के नाम से भी प्रख्यात है—

प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणे-
ष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥

—ऋग्वेद १।१५४।२

वीरता के कारण वह विष्णु ऋषियों के द्वारा प्रशसित किया जाता है। वह उस भयंकर पशु (सिह) के समान है, जो पर्वतों पर रहता है तथा पृथ्वी पर विचरण किया करता है। उसने तीनों डगों से समस्त विश्व को माप

लिया है और उसके तीन डगों के भीतर ही समस्त भुवन निवास करते है।

अन्य देवो की भी स्तुतियां वेद के सूक्तों मे सर्वत्र उपलब्ध होती है। ध्यान देने की बात है कि वेद इन विभिन्न देवों को स्वतन्त्र, पृथक्-पृथक् मानता हुआ भी इन्हे एक ही महान् देव की विभिन्न अभिव्यक्तियां स्वीकार करता है। इस विषय का सकेतक यह प्रख्यात मन्त्र है—

इन्द्र मित्रं वरुणमग्नि माहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णा गरुत्वान्
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

—ऋग्वेद वे० १।१६४।४६

वह एक ही है, परन्तु विद्वान् लोग उसे बहुत प्रकार से निर्देश करते है। वही अग्नि है, यम है तथा मातरिश्वा है। सहिताभाग के तत्त्व-ज्ञान का यह एक सक्षिप्त निदर्शन है। एकत्व की भावना पर ही वैदिक देवतातत्त्व आश्रित है।

ब्राह्मण

सहिता तथा ब्राह्मण के स्वरूप तथा विषय का पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है। सहिता का स्वरूप दोनो प्रकार का है। अधिकांश सहिताए छन्दोबद्ध है। उनके कतिपय अंश ही (कृष्णयजुर्वेदीय सहिताए तथा अथर्वसहिता का स्वल्प अश) गद्यात्मक है, परन्तु ब्राह्मण सर्वथा गद्यात्मक ही है। विवेच्य विषय मे भी अन्तर है। ऋक् मन्त्रों मे देव-स्तुतियों का प्राधान्य है। अथर्व-मन्त्रों मे नाना प्रकार के ऐहिक तथा पारलौकिक फल देनेवाले विषयों का विवेचन है। उसके सूक्त रोग-निवारण, सुयोग्य पति का वरण, घर बनाने, हल जोतने, बीज बोने आदि गार्हस्थ्य-सम्बन्धी कार्यो के लिए आशीर्वाद, राजकीय विषयों—जैसे शत्रु को परास्त करना, सग्राम में सेना का सचालन तथा तदुपयोगी साधनो—का विवरण आदि लौकिक विषयों का प्रतिपादन विस्तार से करते है। यजुर्वेद की सहिताओ में मुख्यतया दर्शन पौर्णमास इष्टियो तथा अन्य यज्ञो का विस्तृत विवरण उपलब्ध किया

गया है। ब्राह्मणों का विवेच्य विषय इनसे नितान्त भिन्न होता है। ब्राह्मणों का मुख्य विषय है—विधि अर्थात् यज्ञ का विधान कब किया जाय? कैसे किया जाय ? उसमें किन साधनों की आवश्यकता होती है ? कौन उन यज्ञों के अधिकारी होते है ? इस प्रकार के योग की प्रक्रिया के विषय को सुलझाने के लिए ही इस साहित्य का उदय तथा अभ्युदय हुआ। यज्ञ के विषय मे यदि कुछ विराध प्रतीयमान होता है तो उसका परिहार करना भी ब्राह्मण का उद्देश्य है। शबरस्वामी के अनुसार ब्राह्मण की विधियों की सख्या दस है। कहने का साराश यह है कि सहिता मे स्तुति का प्राधान्य है तो ब्राह्मण मे विधि का।

जैमिनि ने भी 'कर्ममीमासा' मे यह पूर्वपक्ष उठाया है कि "वेद मे केवल विधि-वाक्यों का ही तो अस्तित्व नही है। उनके भिन्न विषयो के प्रतिपादन करनेवाले वाक्यो की भी यहा सत्ता है। फलतः ये वाक्य तो अनर्थक ही है; विध्यर्थक न होने से नितान्त व्यर्थ है" (**आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्**) सिद्धान्त पक्ष का कथन है कि इन वाक्यों की उपादेयता है। ये स्वत उपयोगी नही है, प्रत्युत विधियो की स्तुति करने के कारण ये विधि-वाक्यो के साथ एक वाक्य हो जाते है। विधि की ही प्रशसा में ये प्रयुक्त है और इसीलिए विधि-प्रतिपादित अर्थ के ही ये अवान्तर वाक्य समझे जाने चाहिए। अतः परम्परा या इनका उपयोग विधि-विधान में अवश्यमेव है—**विधिना तु एक। वाक्यात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः**(जैमिनि सूत्र १।२।७) यह विश्लेषण ब्राह्मणों के विषय को ही लक्ष्य कर प्रस्तुत किया गया है।

'ब्राह्मण' के विषय समझने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण शतपथ का विषय विवेचन यहा दिया जाता है। यजुर्वेद से सम्बद्ध शतपथ-ब्राह्मण की महत्ता इस घटना से है कि वह विभिन्न प्रकार के यज्ञयागो का बड़ा ही सागोपाग तथा पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है, जो अन्य ब्राह्मणो में दुर्लभ है अथवा मात्रा मे बहुत ही न्यून है। यज्ञ का आरम्भ वैदिक युग के आरम्भ-काल से है। पहले यज्ञ का विधान सक्षेप मे ही होता था, परन्तु कालान्तर में यह यज्ञ-संस्था बहुत ही विस्तृत बन गई। यज्ञ के विभिन्न अंशों के यथावत अनुष्ठान पर विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। ब्राह्मण-युग यज्ञ-संस्था

के पूर्ण विकास का युग है, जिसका परिचय हमें विभिन्न ब्राह्मणों से लग सकता है। इस ब्राह्मण-साहित्य का भी अपने वर्ण्य विषयों के विस्तार, विचार तथा विवरण के कारण शतपथ ब्राह्मण मुकुटमणि माना जाता है।

शतपथ ब्राह्मण का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से (अर्थात् वाजसनेयी संहिता से) है। इसलिए संहिता में निर्दिष्ट इष्टि और याग उसी क्रम से यहां भी उल्लिखित है। शतपथ के प्रथम नौ काण्डों में वाजसनेयी संहिता के प्रथम अठारह अध्यायों की क्रमबद्ध व्याख्या है, जिसमें ब्राह्मणोचित आख्यायिकाओं का भी यथास्थान निवेश यज्ञ के शुष्क वर्णनों को सजीव तथा रोचक बना देता है। इष्टियों में दर्श, पूर्णमास प्रधान तथा प्रकृति माने जाते हैं। दर्श-इष्टि प्रत्येक अमावस्या के अनन्तर प्रतिपद में सम्पन्न होती है और पूर्णमास इष्टि पूर्णिमा के दूसरे दिन होनेवाली प्रतिपद् में। इनके प्राधान्य के कारण इनका सांगोपांग विवरण शतपथ के प्रथम काण्ड में दिया गया है। इन इष्टियों के उपयुक्त मन्त्रों का निर्देश संहिता के प्रथम अध्याय की पंचम कण्डिका से लेकर द्वितीय अध्याय की २८वीं कण्डिका तक किया गया है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र का वर्णन प्रथमतः है। प्रत्येक आर्य गृहस्थ के लिए अग्नि का आधान करके उसमें प्रातः और सायं हवन करने की विधि है। इसीका नाम 'अग्नि होत्र' है, 'पिण्ड-पितृ-यज्ञ' पितरों की तृप्ति के उद्देश्य से किया जाता है। 'नवान्नेष्टि' में अगहन के महीने में नये अन्न के उत्पन्न होने पर उसीसे हवन का विधान है। 'चातुर्मास्य' भी एक विशिष्ट याग है। पूर्वोक्त चारों यागों का विवरण शतपथ के द्वितीय काण्ड में प्रस्तुत मिलता है।

तृतीय और चतुर्थ काण्ड का विषय सोमयाग है। सोमयाग से सोमलता को कूटकर उसका रस निकालते हैं और उसमें गाय का दूध तथा मधु मिलाकर उचित समय पर देवता के निमित्त याग में हवन करते हैं। सोमयाग का प्रकृतिभूत याग 'अग्निष्टोम' कहलाता है, जिसके उपयोगी मन्त्रों का संकलन वाजसनेयी संहिताके सोलहवें अध्याय से आरम्भकर उन्नीसवें अध्याय की ३२वीं कण्डिका तक किया गया है। प्रकृतियाग होने के कारण 'अग्निष्टोम'का वर्णन तृतीय काण्ड में तथा इसकी विकृति होनेवाले उक्थातिरात्र आदि इतर सोमयागों का वर्णन चतुर्थ काण्ड में दिया गया है। पंचमकाण्ड में

वाजपेय तथा राजसूय का विस्तृत विवरण है। राजसूय एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण याग है, जिसका मूर्धाभिसिक्त क्षत्रिय नरेश ही अधिकारी होता है। यह अभिषेक प्राचीन भारत में राजनैतिक आधिपत्य का सूचक एक महनीय व्यापार है। अभिषिक्त राजन्य राजसूय जैसे लम्बे याज्ञिक अनुष्ठान का सम्पादक होता था। षष्ठ काण्ड से लेकर दशम काण्ड तक 'अग्निचयन' का विशिष्ट और विस्तृत विवरण है। इन काण्डों में शाण्डिल्य का प्रामाण्य विशेष रूप के स्वीकृत है और उनकी सम्मति बड़े आदर के साथ उद्धृत की गई है। इन शाण्डिल्यकाण्डों में गान्धार, केकय और शाल्व जनपदों का उल्लेख किया गया है, जबकि इतर काण्डों में आर्यावर्त के मध्य भाग के निवासी अथवा पूरब के निवासियों का--कुरु, पाचाल, कोशलविदेह, सृञ्जय, आदि--उल्लेख मिलता है। इससे डा० मैक्डोनल ने निष्कर्ष निकाला है कि इन काण्डों के रचयिता याज्ञवल्क्य न होकर शाण्डिल्य है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं प्रतीत होती। प्राच्य लोगों के उल्लेख से यही जान पड़ता है कि याज्ञवल्क्य विदेह के निवासी थे और विदेह के राजा जनक उनके शिष्य थे। सम्भवतः शाण्डिल्य का सम्बन्ध उत्तर-पश्चिम प्रान्तों से था और इसीलिए उनके निर्देश के सग में इन जनपदों का उल्लेख स्वाभाविक प्रतीत होता है। आर्यनिवास के तीनों खण्डों में इस समय पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध का अभाव न था। ये तीन प्रान्त थे--(क) गन्धार और पजाब, (ख) कुरु-पांचाल और मध्यदेश, (ग) पूरबी भाग, विदेह और कोशल। ब्राह्मणों में स्पष्ट वर्णन है कि व्याकरण का अध्ययन उत्तरी भाग में विशेष रूप से किया जाता था और कर्म-काण्ड का मध्यदेश में। वैयाकरण पाणिनि का जन्मस्थान गन्धार प्रान्त के शालातुर नामक स्थान में था तथा कुरु-पाचाल आर्य-सस्कृति का विकास-क्षेत्र था--इन बातों की सगति पूर्णरूप से जमती है। फलतः शाण्डिल्य के प्रामाण्य का उल्लेख होने पर भी इन काण्डों की रचना का श्रेय याज्ञवल्क्य को ही देना उचित प्रतीत होता है।

शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम चार काण्डों की विषय-योजना मूल सहिता के आधार पर है। ११वें काण्ड में पशुबन्ध, पच महायज्ञ तथा दर्श पूर्णमास के अवश्यक विधानों का वर्णन है। भूतयज्ञ, मनुष्य-यज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ

और ब्रह्मयज्ञ---ये प्रख्यात यज्ञ 'महासत्र' के रूप में यहा अंकित है (११।५।६) स्वाध्याय---वेद का अध्ययन---ब्रह्मयज्ञ का ही रूपान्तर है. जिसकी यहाँ (११।५।७) भूयसी प्रशसा बडी ही आलकारिक शैली मे की गई है। "ऋक् का अध्ययन देवो के लिए पयआहुति है, यजुष् का आज्याहुति, साम का सोमाहुति, अथर्वांगिरस का माद आहुति तथा अनुशासन (वेदाग), विद्या, इतिहास-पुराण और नाराशसी गाथाओं का अध्ययन देवो के लिए मधु की आहुति है।" और इसलिए शतपथ का वेद तथा वेदाग के अनुशीलन के लिए बडा ही प्रबल आग्रह है। (अनेक प्रमाणों से 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' का समर्थन इस काण्ड का महिमामय सिद्धान्त है। द्वादश काण्ड मे द्वादश सत्र, सवत्सरसत्र, सौत्रायणी और और्ध्वदेहिक अनुष्ठान का विस्तृत वर्णन है, जो यज्ञ आरम्भ के दिन से लेकर लगातार बारह दिनों तक चलते है, उन्हे 'ऋतु' कहते है। बारह दिनो से अधिक दिनो (छह मास या कई सालों) तक चलनेवाले यज्ञो को 'सत्र' कहते है। द्वादशाह दोनों प्रकार का होता है---सत्र और अहीन। द्वादशसत्र और सवत्सरसत्र (वर्ष भर तक चलनेवाला यज्ञ) के अनन्तर सौत्रायणी नामक प्रख्यात याग का विवरण कुछ विस्तार के साथ किया गया है (१२।७।१)। इस याग के अध्यात्मिक रूप का भी विवेचन बडा मार्मिक है (१२।६।१)।

१३वे काण्ड मे अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध तथा पितृमेध का विवरण है। मूर्धाभिषिक्त राजन्य को ही 'अश्वमेध' करने का अधिकार था। अश्वमेध अनेक दिनो में व्याप्त होनेवाला याज्ञिक विधान था, जिसमे यज्ञीय अश्व के हवन का विधान था। यज्ञ के प्रसग मे हम आगे चलकर इन यज्ञो का विशिष्ट विवरण प्रस्तुत करेंगे। १४वे काण्ड मे 'प्रवर्ग्य' का वर्णन है। अन्तिम पांच अध्यायो मे (चौथे अध्याय से लेकर नौवें अध्याय तक) बृहदारण्यक उपनिषद् निबद्ध है, जिसका वर्णन उपनिषदो के प्रसंग मे किया जायगा। इस प्रकार यज्ञ के नाना प्रकारो का विस्तृत, प्राजल तथा प्रामाणिक विवरण देने में शतपथ ब्राह्मण अद्वितीय है; इस कथन मे कथमपि विप्रतिपत्ति नही है।

यज्ञ के भीतर नाना कर्मो का अनुष्ठान पाया जाता है और वह भी एक विशिष्ट क्रम से सम्पन्न होता है। यह क्रम भी सयुक्तिक है। शतपथ ब्राह्मण

में इस क्रम के प्रत्येक पदार्थ की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए बड़ी ही उदात्त और प्रांजल व्याख्या की गई है। तथ्य यह है कि भौतिक याग एक प्रतीकात्मक व्यापार है। अन्तर्याग तथा बहिर्याग मे पूर्ण सामजस्य तथा आनुरूप्य है। अग्नि समिन्धन होने पर दो आहुतिया प्रथमत दी जाती है—मन के लिए पहली आहुति पूर्वाधार आहुति कहलाती है और वाक् के लिए दूसरी आहुति (उत्तराधार आहुति)। भौतिक रथ को ले चलने के लिए जैसे दो अश्वों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार यज्ञचक्र को खींचने के लिए मन्-वाक् की आवश्यकता होती है। मन किसी वस्तु का प्रथमत. संकल्प करता है, तब वाक् वचन-व्यापार के द्वारा उसका प्रतिपादन करती है। मन-वाक् के संयोग हुए बिना किसी भी कर्म का, विशेषत यज्ञ जैसे अध्यात्म कर्म का, यथार्थ सम्पादन असम्भव है। इसी दृष्टि से दोनों आहुतियों की निष्पत्ति क्रमश स्रव तथा स्रक् नामक पात्रों के द्वारा की जाती है। इस विश्व के भीतर दो प्रधान तत्त्व है—अग्नि और सोम—**अग्निसोमात्मकं जगत्**। अग्नि है अन्नाद (अन्न का भक्षण करनेवाला, पुरुषतत्त्व) तथा सोम है अन्न (उपभोग्य तत्त्व, स्त्री तत्त्व)। इन तत्त्वों का यथार्थ मिलन और सामंजस्य होने पर ही विश्व का कल्याण सम्पन्न होता है। अग्नि में सोम रस की आहुति देने का यही अभिप्राय है कि अन्नाद तथा अन्न के परस्पर सम्बन्ध से जगन्मंगल की साधिका सामग्री प्रस्तुत होती है। उपनिषदो मे यही तत्त्व 'रयि' और 'प्राण' के नाम मे उल्लिखित है। यज्ञ की प्रत्येक छोटी-सी-छोटी क्रिया का भी स्वारस्य इसी मूलतत्त्व की पीठिका मे पूर्णतया अभिव्यक्त करने का श्रेय शतपथ ब्राह्मण को है। पूर्वाधार की आहुति बैठे-बैठे ही दी जाती है तथा उत्तराधार की आहुति खडे-खडे दी जाती है। इस प्रक्रिया के भीतर विद्यमान तत्त्व का स्पष्टीकरण शतपथ मे बडे विस्तार के साथ किया गया है (१।४।५)। सच तो यह है कि यज्ञ का विधान साधारण दृष्टि मे निर्जीव, आडम्बर-सा प्रतीत होता है। परन्तु शतपथ की व्याख्या के अनुशीलन मे उसके अन्तर्निहित तत्त्वों का उन्मीलन यथार्थत: होता है।

उपनिषद्

वेद के अन्तिम भाग 'उपनिषद्' हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति होती है—

'उप+नि' उपसर्गक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर। सद् धातु के तीन अर्थ हैं--विशरण (नाश होना), गति (प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना)। उपनिषद् का मुख्य अर्थ है ब्रह्मविद्या, जिससे जीवो की अविद्या नष्ट हो जाती है, जिसमे ब्रह्म की प्राप्ति होती है तथा जिसके परिशीलन से गर्भवास आदि ससार के दुःख शिथिल हो जाते है। इस प्रकार ऊपर दिये गए सद् धातु के तीनों अर्थो पर ध्यान देने मे 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ 'ब्रह्मविद्या' ही निष्पन्न होता है। यह तो मुख्य अर्थ हुआ 'उपनिषद्' शब्द का। इसका गौण अर्थ हुआ इस विद्या के प्रतिपादक ग्रंथ, और इसी अर्थ मे यह शब्द बहुशः प्रचलित तथा सर्वतः मान्य है। शंकराचार्य ने अपने कठभाष्य में इस शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ की सिद्धि इसी प्रकार प्रदर्शित की है।

उपनिषदों के महत्त्व का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। यहां उनकी संख्या तथा विशिष्ट ग्रंथो का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। उपनिषदो का सम्बन्ध वेदों की संहिताओं से है। उपनिषदों की मान्य संख्या एक सौ आठ है, जिनमें दस उपनिषद् सम्बद्ध हैं ऋग्वेद से, उन्नीस शुक्ल यजुर्वेद से, तैतीस कृष्ण यजुर्वेद से, सोलह सामवेद से तथा इकत्तीस अथर्ववेद से इतनी ही सख्या मानना उचित नही। इधर अड्यार (मद्रास) की थिओसोफिकल सोसाइटी ने लगभग साठ ऐसे उपनिषदो को प्रकाशित किया है, जो अबतक प्रकाशित नहीं थे, परन्तु जिनमें से कतिपय का अनुवाद दारा शिकोह (सत्रहवी शती) ने फारसी भाषा में किया था। यह तो प्रसिद्ध है कि दारा आध्यात्मिक विद्या का प्रेमी था और इसीसे आकृष्ट होकर उसने महत्त्वपूर्ण उपनिषदों का फारसी में अनुवाद कराया था, जिनके लैटिन अनुवाद को पढ़कर यूरोप के दार्शनिको का ध्यान इन ग्रंथो की गम्भीरता तथा गौरव के प्रति आकृष्ट हुआ था।

इन उपनिषदों में भी लगभग एक दर्जन उपनिषद ही ऐसे है, जो वेदान्त के तत्त्व प्रतिपादन की दृष्टि से नितान्त महनीय तथा रचना की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन माने जाते है। वे नीचे दिये जाते हैं--

(क) ऋग्वेदीय उपनिषद्--ऐतरेय तथा कौषीतकि।

(ख) सामवेदीय--केन तथा छान्दोग्य।

(ग) कृष्ण यजुः--तैत्तिरीय, महानारायण, कठ, श्वेताश्वतर तथा

मैत्रायणी।

(घ) शुक्ल यजु—ईशावास्य तथा बृहदारण्यक।

(ङ) अथर्व—मुण्डक, माण्डूक्य तथा प्रश्न।

इनमें भी दस उपनिषदों को शंकराचार्य के द्वारा भाष्य मे सम्मिलित होने का गौरव प्राप्त है, जो मुक्तिकोपनिषद् के इस प्रसिद्ध श्लोक मे क्रमबद्ध दिये गए है—

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश॥

शंकर ने अपने भाष्यो मे इनके अतिरिक्त छः उपनिषदों को प्रमाण देने के लिए उद्धृत किया है। ये ही लोकप्रिय उपनिषद् अन्य आचार्यों द्वारा व्याख्यात है तथा पठन-पाठन में विशेष रूप से समादृत है। रचना की दृष्टि मे कुछ उपनिषद् गद्य मे कुछ पद्य में और कुछ गद्य-पद्य दोनों मे है। इनके समय का यथार्थतः निरूपण करना असम्भव-सा प्रतीत होता है, क्योंकि ये अनेक शताब्दियो के प्रयत्नो के फल है। इन्हे एक शताब्दी के भीतर सीमित करना उपयुक्त नही प्रतीत होता।

वैदिक तत्त्वज्ञान

मूल तत्त्व

वेद आध्यात्मिक विद्या का मूल ग्रन्थ है। उसमे जगत् के भीतर वर्तमान मूल तत्त्व का तथा उससे उत्पन्न होनेवाली सृष्टि का वर्णन है। 'मूल तत्त्व एक ही है', इस अद्वैतवाद की खोज वैदिक ऋषियों ने अपनी प्रातिभ अनुभूति पर सृष्टि के आदिकाल में ही कर ली थी। इस अनन्त कोटि प्रपंच का मूल तत्त्व एक ही है, इसकी सूचना देनेवाली अनेक श्रुतिया संहिता तथा उपनिषदों में बहुशः उपलब्ध होती है—

आनीदवातं स्वधया तदेकं।
तस्माद्धान्यन्न परं किञ्चनास॥

—ऋग्वेद १०।१२९

यह श्रुति नासदीय सूक्त की है। इसका तात्पर्य है कि एक ही तत्त्व बिना वायु की सहायता से (क्योंकि उस समय वायु की उत्पत्ति नहीं हुई

थी) अपनी शक्ति (स्वधा) के द्वारा प्राणसम्पन्न था। उसको छोड़कर, उससे पृथक् कोई भी वस्तु विद्यमान नही थी। अद्वैतवाद का यह उद्घोष श्रुतियों में अनेकशः उद्घोषित किया गया है—

एकं वा इदं विबूभूव सर्वम्

अर्थात्—वह एक ही तत्त्व इस विश्व के रूप मे नाना आकृतियो में प्रकट हुआ। यह विश्व नाना है, यह तो हमेशा प्रत्यक्ष होता है। नाना मनुष्य, नाना पशु, नाना पदार्थ—सर्वत्र ससार मे नानात्व का, अनेकत्व का राज्य है, परन्तु यह अनेकत्व पैदा हुआ कहा से ? उसके मूल में एक ही तत्त्व है। यही इस श्रुति का आशय है।

सदेव सौम्येदमग्र आसीत्
एक मेवाद्वितीयम्

अर्थात्—इस सृष्टि के आरम्भ में 'सत्' था। वह एक था तथा उससे भिन्न दूसरा पदार्थ नही था—

नेह नानास्ति किञ्चन

अर्थात्—इस जगत् मे कोई भी वस्तु अनेक नही है। जो कुछ दृष्टि-गोचर हो रहा है, वह एक ही तत्त्व का विकास है। इन श्रुतिवाक्यों के अनुशीलन करने से स्पष्ट हो जाता है कि मूल तत्त्व एक ही है। उसे गुण तथा धर्मों के द्वारा समझाया नहीं जा सकता, क्योंकि अभी तो गुण तथा धर्म का उदय ही सम्पन्न नहीं हुआ था। इसीलिए वह किसी इन्द्रिय के द्वारा न तो गम्य है और न मन के द्वारा उसका ग्रहण किया जा सकता है। इसलिए उपनिषद् का कथन है—

न तत्र चक्षुगच्छति, न वाग् गच्छति, न मनो गच्छति।

अर्थात्—वहां न तो चक्षु जाती है, और न मन और वाणी की पहुच वहांतक है। इसीलिए वह तत्त्व 'अवाङ्मनसगोचर' (वाक् तथा मन के द्वारा अगोचर) कहा गया है। यह कथन सर्वथा उचित है। तथ्य यह है कि हम अवस्था या धर्म को ही पहचानने की शक्ति रखते है। अवस्था और धर्म से अतिरिक्त मूल तत्त्व को समझने की क्षमता हमारी बुद्धि में नहीं है। हमारी अंगुली मे सोने की अंगूठी है। इस रूप में आने से पहले वह सोने की गुल्ली थी। वही सोना कभी कंकण के रूप में, कभी अंगूठी के रूप में, कभी

कर्णाभरण के रूप में हमारे सामने आता है। हम सोने को इन्हीं अवस्थाओं के द्वारा ही पहचानते है। परन्तु यदि पूछा जाय कि सुवर्ण कैसा है? तो उसका यथार्थ रूप हम कथमपि वर्णित नही कर सकते। जगत् के समग्रपदार्थों के विषय में यही नियम है। सब अवस्थाओं को हटा दीजिये, सब धर्मो को दूर कीजिये। तब देखियेगा कि विश्व के भीतर एक ही तत्त्व झाकता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। इसीको श्रुति कहती है—**एकमेवा द्वितीयम्**।

ब्रह्म

इस मूल तत्त्व की सज्ञा है—**ब्रह्म**। ब्रह्म शब्द 'बृह्' धातु से निष्पन्न होता है, जिससे उसका अर्थ होता है अत्यन्त वर्धनशील तत्त्व। उसकी परिमिति कथमपि नही हो सकती। उसके विषय मे श्रुति कहती है—**अणोरणीयान महतो महीयान्**—अर्थात्—वह अणु से भी सूक्ष्म है और महान् से बड़ा है। हम साधारणतः दो ही परिमाणों से अवगत है—अणु तथा महत्, छोटा और बड़ा। परन्तु ब्रह्म के विषय मे इन दोनो ही परिमाणों की चर्चा नही की जा सकती। परिमाण उसी पदार्थ का होता है, जो देश तथा काल के द्वारा परिच्छिन्न रहता है। परन्तु ब्रह्म न तो देश के द्वारा परिच्छिन्न है और न काल के द्वारा, क्योंकि वह सर्वव्यापक है—संसार के अणु-अणु में व्याप्त होनेवाला है और कालातीत है। वह भूतकाल में विद्यमान था, वर्तमान मे है और भविष्य में रहेगा। ऐसी दशा में उसे काल या देश के बन्धन में बाधा रखना नितान्त असम्भव है। वह अपरिच्छेद्य तत्त्व है—उसका परिच्छेद (सीमित करना) किसी भी प्रकार से, धर्म से, गुण से अथवा अवस्था से सम्भव नही है। उपनिषदों में मूल तत्त्व के विषय मे यही प्रामाणिक सिद्धान्त है।

पुरुष

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०।९०) मे इस परब्रह्म का वर्णन 'पुरुष' शब्द के द्वारा किया गया है। वह पुरुष 'सहस्रशीर्षा' (हजार सिरोवाला) बतलाया गया है। वह हजारों आखवाला (सहस्राक्षः) तथा हजारों पैरवाला (सहस्रपात्) है। वह इस विश्व को चारों ओर से घेर-

कर दश अगुल बाहर स्थित है। यह विश्व उस पुरुष के एक पाद में स्थित है और उसके तीन पैर तो अमृत है, जो आकाश मे स्थित है। इस सूक्त के निम्न मत्र में अद्वैतता का उद्घोष है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्

अर्थात्--पुरुष ही यह सबकुछ है, जो आज वर्तमान है, जो अतीत हो गया है और जो आगे भविष्य मे उत्पन्न होनेवाला है। उसी पुरुष से यह विराट सृष्टि उत्पन्न हुई--नाना प्रकार के पशु, देवता, मनुष्य आदि। यह सृष्टि यज्ञ मे उत्पन्न हुई, जो पुरुष को ही हविष् बनाकर सम्पन्न की गई थी। इसी सूक्त मे वह प्रख्यात मन्त्र आता है, जिसमे चारो वर्णो की उत्पत्ति पुरुष के विभिन्न अगो से बतलाई गई है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्
बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरु तदस्य यद् वैश्यः
पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।

—ऋग्वेद १०।९०।१२

अर्थात्—ब्राह्मण उस पुरुष का मुख था, क्षत्रिय उसके बाहु थे, वैश्य उसके उरु थे तथा उसके दोनो पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई। चतुर्वर्ण के नाम का यह प्रथम निर्देश इसी सूक्त मे किया गया है। इस प्रकार चन्द्रमा का उदय पुरुष के मन से, सूर्य का नेत्र से, इन्द्र और अग्नि का मुख से तथा वायु का प्राण से हुआ। अन्तरिक्ष (मध्यलोक) उसकी नाभि से उत्पन्न हुआ आकाश उसके मस्तक से, भूमि पैरो से, उसके कान से दिशाए उत्पन्न हुई। इस प्रकार यह विश्व पुरुष से उत्पन्न हुआ है।

उच्छिष्ट

अथर्ववेद मे यही परम पुरुष 'उच्छिष्ट' के नाम से उल्लिखित है। 'उच्छिष्ट' के सामान्य अर्थ को ध्यान में रखने से यह भ्रान्ति होनी स्वाभाविक है कि उस उन्नत पुरुष के लिए निकृष्ट वस्तुवाची इस शब्द का प्रयोग क्योंकर किया गया है। परन्तु तथ्य यही है। 'उच्छिष्ट' का अर्थ है शेष, सब वस्तुओ को हटाने के बाद बची हुई चीज़। ब्रह्म भी तो ऐसा ही है। उसके विषय में हम न किसी धर्म की चर्चा कर सकते हैं, न किसी भाव

की, न किसी अवस्था की और न किसी गुण की। फलतः परिशेष होने के कारण ही वह इस शब्द के द्वारा व्यवहृत किया गया है। यही उच्छिष्ट विश्व की उत्पत्ति का कारण है।

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहित।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥

—अथर्व ११।७।१

अर्थात्—उच्छिष्ट का ही विलास यह विश्व है तथा इसके समग्र पदार्थ है—सूर्य, चन्द्रमा, द्यावापृथिवी, साम, ऋक्, यजुः आदि। इतना ही नहीं, ऋत और सत्य उच्छिष्ट के ऊपर आश्रित है। धर्म और कर्म, राष्ट्र और तप, भूत और भविष्य, वीर्य और लक्ष्मी—सब कुछ उच्छिष्ट के ऊपर ही अवलम्बित होकर अपनी स्थिति धारण करता है—

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले॥

—अथर्व ११।७।१७

वेदान्त की परिभाषा में ब्रह्म ही जगत का अधिष्ठान बतलाया गया है अर्थात् ब्रह्म के ऊपर आश्रित होकर ही यह समस्त जगत् अपनी सत्ता धारण करता है। यह समस्त विचारधारा अपने आधार के निमित्त इस उच्छिष्ट सूक्त की ऋणी है।

ब्रह्म के दो भाव

ब्रह्म का वास्तविक रूप तो निर्गुण ही है, परन्तु वही शक्ति से सम्पन्न होने पर 'सगुण' भी कहा जाता है। उपनिषदों में दोनों प्रकार की श्रुतियां उपलब्ध होती है। कतिपय श्रुतियां उसे सगुण बतलाती है और कतिपय निर्गुण। सगुणपरक श्रुतियां ये है—

एष सर्वेश्वरः एष भूताधिपति रेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय।

—बृहदा० ४।४।२२

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।

सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैः
द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥

—श्वेताश्वतर ३।३

इन मन्त्रों का आशय है कि वह सबका ईश्वर, प्राणियों का अधिपति, भूतों का रक्षक, लोकों का धारक सेतु है। उसकी सब तरफ आखें है, सब तरफ मुख है, सब तरफ बाहु है, और सब तरफ उसकी गति है। उसने मनुष्यो का भुजाओ से युक्त और पक्षियों को पक्ष से युक्त किया। उसने आकाश और पृथ्वी को बनाया है। वह द्युतिमान है तथा अद्वितीय है।

इसी प्रकार उस सगुण ब्रह्म की विशिष्ट क्रियाओ का वर्णन यही उपनिषत् करता है और उसकी विशिष्टता की ओर हमारा ध्यान इस प्रख्यात मन्त्र मे आकृष्ट करता है—

अपाणिपादो जवनोगृहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्ण ।
स वेत्ति वेद्य न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्य पुरुषं महान्तम् ॥

—श्वेताश्वतर ३।१९

अर्थात्—उसके हाथ नही है, किन्तु ग्रहण करता है। उसके पैर नही है, किन्तु वह चलता है। उसके नेत्र नही है,किन्तु वह देखता है और कान न होने पर भी वह सुनता है। वह समग्र वेद्य पदार्थ को जानता है, किन्तु उसे कोई नही जानता। उसीको सबसे श्रेष्ठ महान् पुरुष कहते है।

अब निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को बतलानेवाली श्रुतियो को देखिये। उपनिषदो के हजारो मन्त्रों मे इस रूप का स्पष्ट विवरण प्रस्तुत किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (३।८।८) मे अक्षर-ब्रह्म के रूप का प्रख्यात वर्णन है—

"वह अक्षर ब्रह्म न तो स्थूल है, न अणु है; न तो नाटा है और न लम्बा है, न वह लाल है; न चिकना, न वह छाया है और न तम; न वायु है, न आकाश, न वह रस है, न गन्ध; न चक्षु से सम्पन्न है और न क्षोभ से; वह न वाक् है, न मन; न तेज है, न प्राण; न मुख, न मात्रा और वह न भीतर है, न बाहर।"

माण्डूक्य उपनिषद् (मन्त्र ७) मे इसी रूप का वर्णन इसी प्रकार

निषेध मुखेन किया गया है। कठोपनिषत् (३।१५) बड़े सक्षेप मे वर्णन करता हुआ कह रहा है—

अशब्द मस्पर्शमरूपमव्यय
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तं मृत्युमुखात प्रमुच्यते॥

अर्थात्—वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अक्षय, अगन्ध, अनादि, अनन्त, परात् पर वस्तु को जान लेने पर जीव मृत्यु के मुख से छुटकारा पा लेता है।

आशय यह है कि उस ब्रह्म के इदमित्थ रूप का वर्णन कथमपि नही किया जा सकता। यदि किया जा सकता है, तो निषेध रूप से ही, विधिरूप से नही। इसीलिए श्रुति की यह स्पष्ट घोषणा है कि वह नेति-नेति है—

अथातो आदेशो नेति नेति।
स एष नेति नेति आत्मा॥

वह सत् और असत् दोनो से विलक्षण है। वह एक अद्वितीय शिव है—

न सत् न चासत् शिव एव केवलः।

—श्वेताश्वर ४।१८

ऊपर उद्धृत मन्त्रो का अनुशीलन करने से स्पष्ट है कि उपनिषद् ब्रह्म के दोनों भावों के निर्देश के लिए दो प्रकार के उल्लेख करता है। निर्गुण ब्रह्म के लिए अर्थात् ब्रह्म के निर्विशेष भाव के प्रकट करने के लिए उपनिषद् 'तत्' शब्द का प्रयोग करता है। सगुण ब्रह्म या ब्रह्म का सविशेष भाव 'सः' पद के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है, अर्थात् निर्गुण भाव के निर्देश स्थल में नपुसक लिंग का और सगुण भाव के निर्देश-स्थल मे पुलिग का प्रयोग उपनिषद् करता है। '**अस्थूलम् अनणु अह्रस्वम् अदीर्घम्**'—यहांपर निर्विशेष ब्रह्म का निर्देश अभीष्ट है, अतएव नपुसकलिगी प्रयोग है। इसके विपरीत '**सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः**' में सविशेष ब्रह्म का उल्लेख है। अतएव पुलिग का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि निर्गुण और सगुण में, निर्विशेष और सविशेष में केवल भाव का ही प्रभेद है, वास्तव में कुछ भेद नहीं है। इसलिए जान पड़ता है कि उपनिषद् ने

कही-कही एक ही मन्त्र मे नपुसक तथा पुलिग दोनो का एक साथ ही प्रयोग किया है। दृष्टान्त के लिए मुण्डकोपनिषद के इस मन्त्र पर दृष्टिपात कीजिये, जिसके पूर्वार्द्ध मे निर्गुण का तथा उत्तरार्द्ध मे सगुण का वर्णन किया गया है—

यत् तद् अद्रेश्य म् अगोत्रम् अवर्णम्
अचक्षुःश्रोत्रम् तद् अपाणिपादम्।

यहा नपुसकलिगी प्रयोग है। फलत निर्गुण ब्रह्म का यह निर्देश है।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं
यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥

—मुण्डक १।१।६

यहा सविशेष ब्रह्म का निर्देश है। फलत. यहा पुलिग का प्रयोग किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि उपनिषद् ब्रह्म के दोनो भाव मे, सविशेष तथा निर्विशेष मे, किसी प्रकार का अन्तर या भेद स्वीकार नही करता।

मूलतत्त्व की रसरूपता

मूल तत्त्व सत्, चित् तथा आनन्द रूप है। सर्वत्र तथा सर्वदा विद्यमान रहने के कारण वह 'सत्' है। ज्ञानरूप होने से वही 'चित्' रूप है और रसरूप होने से वही 'आनन्द' कहा गया है। **'रसो वै सः'**—यह श्रुति मूल तत्त्व की रसरूपता सद्य. अभिव्यक्त कर रही है। इसे अनेक प्रकार से युक्तियुक्त समझा जा सकता है। हम सदा देखते है कि व्यक्ति के साथ आनन्द का गहरा सम्बन्ध है। जिसमे जितनी अधिक शक्ति होगी, उसमे उतना ही अधिक आनन्द होगा। मनुष्य तिर्यक् जीवो से, पशु-पक्षियो से, अधिक शक्तिशाली है और इसलिए उसका आनन्द इन जीवो की अपेक्षा कहीं अधिक है। देवगण मनुष्यो से कही अधिक शक्तिशाली है। तभी तो मनुष्य उनके लोक मे जाने के लिए यज्ञ-याग का सम्पादन करता है। फलत देवों का आनन्द मानवो के आनन्द की अपेक्षा कही अधिक है। इस प्रकार आगे बढ़ते हुए हम सर्वशक्तिशाली ब्रह्म तक पहुंच जाते है, जो ससार के प्राणियों मे सबसे अधिक शक्तियो से सम्पन्न है। फलत. उसका आनन्द सबसे अधिक होता

है इस। विषय का प्रतिपादन तैत्तरीय उपनिषद् की आनन्द वल्ली (अष्टम अनुवाक) मे बडे विस्तार से किया गया है। मनुष्यो के आनन्द से बढते-बढ़ते हम प्रजापति के आनन्द तक पहुचते है और प्रजापति का सौ आनन्द ब्रह्मा का एक आनन्द होता है और वह ब्रह्मा का आनन्द जिसकी एक मात्रा है ऐसा होता है परमानन्द।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

शकराचार्य ने इसके ऊपर अपने भाष्य मे लिखा है—

स एष आनन्दः (हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणः) यस्य मात्रा. समुद्राम्भस इव विप्रुषः प्रविभक्ता यत्रैकतां गताः, स एषः परमानन्दः स्वाभाविकोऽद्वैतत्वाद् आनन्दानन्दिनोश्च अविभागोऽत्र।

इस भाष्य का आशय यह है कि जगत् में मनुष्य के आनन्द से बढता हुआ, सबसे बढकर होता है—हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) का आनन्द। यह आनन्द भी जिसका एक बिन्दुमात्र है या एकदेशमात्र है, वह है सबसे श्रेष्ठ तथा अधिक परमानन्द। जिस प्रकार समुद्र के जल की बूंदे वहा से निकलकर सर्वत्र प्रविभक्त हो जाती है और फिर अन्त मे उसीमे एकत्व प्राप्त करती है; यही दशा इस परमानन्द की भी है। अद्वैत रूप होने से यह स्वाभाविक परमानन्द है, क्योंकि उसमे आनन्द और आनन्दी में कथमपि भेद नही है।

निष्कर्ष यह है कि वह मूल तत्त्व निरतिशय आनन्दरूप है। उस आनन्द के लेश को लेकर अन्य प्राणी जीवित रहते है। इस विषय मे बृहदारण्यक श्रुति बड़े ही स्पष्ट शब्दों मे कहती है—

एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति।

—बृहदारण्यक ४।३।३२

मूलतत्त्व की अद्वैतता

आरम्भ मे जो प्रतिपादन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि मूल तत्त्व अद्वैतरूप है अर्थात् वह एक ही है, उसमे भिन्न इतर पदार्थ है ही नहीं। इस तथ्य का प्रतिपादन उपनिषदों में नाना प्रकार से किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में सत्यकेतु के ऋषि-पिता ने अनेक दृष्टान्तो के द्वारा इस तत्त्व का उपदेश दिया है—

यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् । वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् । मृत्तिकेत्येव सत्यम् —छान्दोग्य ६।१।४

इसका तात्पर्य यह है कि मिट्टी के एक ढेले को जान लेने से सारी मृण्मयी वस्तुए (मिट्टी की बनी हुई चीजे) जान ली जाती है, क्योंकि वे मिट्टी के ही विकार है। यह नाम देना वाक्य की योजना मात्र है। मिट्टी ही सत्य है।

इसी प्रकार अनेक दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है। यह विविध वैचित्र्यमय विशाल जगत् ब्रह्म का विवर्त मात्र है। यह वाक्य की योजना, नाम की रचना तथा रूप की प्रस्तावना मात्र है।

विचारणीय प्रश्न है कि जब ब्रह्म निर्गुण ठहरा, तब इस जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? इस प्रश्न के उत्तर मे श्रुति कहती है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ॥

—श्वेताश्वतर ६।८

अर्थात्—उस परब्रह्म की विविध प्रकार की श्रेष्ठ शक्ति वेदों मे बतलाई गई है। ज्ञान, बल तथा क्रिया नामक शक्तिया उसमें स्वभाव से ही विद्यमान रहती है। ये तीनो शक्तिया एक ही पराशक्ति के विभिन्न अभिधान है। उस शक्ति का नाम बल रखा जाता है। एक ही तत्त्व बल, शक्ति तथा क्रिया शब्दो के द्वारा अभिहित किया जाता है। जब वह सुप्त अवस्था में रहे अर्थात् कुछ करता हुआ न रहे, तब उसे 'बल' कहते है। वही जब कार्य करने के लिए समुद्यत होता है, तब उसका नाम 'शक्ति' पड़ जाता है और यह शक्ति ही अपनेको 'क्रिया' के रूप मे प्रदर्शित करती हुई अन्त मे लक्षित होती है। फलत. इस शक्ति के द्वारा ही वह शक्तिमान् विश्व के आविर्भाव मे सफल और कृतकार्य होता है। इस प्रकार शक्ति और शक्तिमान् दो पृथग्भूत तत्त्व से प्रतीत होते है, परन्तु वस्तुतः एक ही तत्त्व है क्योंकि अग्नि और दाहिका शक्ति के समान शक्ति और शक्तिमान् मे कथमपि पार्थक्य नही होता,। अग्नि मे जलाने की शक्ति स्वाभाविक है। परन्तु क्या वह शक्ति (दाहिका) अग्नि को छोड़कर एक क्षण के लिए अलग रह सकती है? नही, कभी नहीं। इस प्रकार ब्रह्म की शक्ति भी उससे कथमपि पृथक् नही रहती और न रह सकती है। फलतः ब्रह्म की अद्वैतता मे

किसी प्रकार का विरोध या विकल्प लक्षित नही होता।

माया

ब्रह्म सर्वव्यापक या विभु तत्त्व है। वह देश-काल की परिधि मे कथमपि परिच्छेद्य या सीमित नही होता। परन्तु उसकी शक्ति उसे परिच्छेद्य बनाती है। इसीलिए उस शक्ति का नाम है माया। 'मा' धातु का अर्थ है मिति या परिच्छेद या सीमित करना। अमित या अपरिच्छिन्न मे मिति या परिच्छेद दिखलाने के कारण ही यह शक्ति 'माया' शब्द के द्वारा व्यवहृत की जाती है। यह माया 'अनिर्वचनीय' होती है, क्योकि हम बतला नही सकते कि यह क्यों और किस प्रकार अपने कार्य मे व्यापृत होती है। निष्कर्ष यह है कि शक्ति का नाम 'माया' और इसके द्वारा परिच्छिन्न होने वाले मूल तत्त्व का नाम 'पुरुष' हो जाता है। 'पुरुष' का यही अर्थ है—पुरिशेते, पुर मे शयन करनेवाला अर्थात् एक परिधि में परिच्छिन्न दिखाई देनेवाला। श्वेताश्वतर उपनिषद् की यह प्रख्यात श्रुति स्मरणीय है—

मायां प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्

प्रकृति को माया जानो और महेश्वर को माया का पति समझो। यह समझना कि माया स्वतः अपने कार्य में प्रवृत्त होती है, भ्रान्त धारणा है। वह तो अपने पति के आदेश को लेकर ही अपने विभिन्न तथा विचित्र कर्मों में प्रवृत्त होती है। यह माया भी भगवान् की लीला है, जिसके कारण यह विश्व उद्भासित होता है—

प्रतीतिमात्रमेवैतद् भाति विश्वं चराचरम्।
यस्य चित्तमयी लीला जगदेतत् चराचरम्॥

जीवन-दर्शन

उपनिषदो के अनुसार जीवन बिताने की कला क्या है? किस प्रकार तथा किस उद्देश्य को सामने रखकर मानव को अपना जीवन बिताने की आवश्यकता है? इन प्रश्नो का उत्तर देना अब समुचित होगा। उपनिषदों की 'कर्तव्य-मीमासा' (एथिक्स) का संक्षिप्त विवरण अब यहां प्रस्तुत किया

जा रहा है।

उपनिषद् भौतिक या व्यावहारिक जीवन तथा आध्यात्मिक जीवन के लिए एक मानक प्रस्तुत करता है, जिसको स्वायत्त करना प्रत्येक मनुष्य के लिए नितान्त आवश्यक है। व्यावहारिक जीवन के आदर्श का परिचय हमें उस अनुशासन या आदेश या उपदेश में सन्निविष्ट मिलता है, जिसे आचार्य विद्याध्ययन समाप्त कर घर लौटनेवाले अपने अन्तेवासी (स्नातक) को देता था। यह तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावली में उपलब्ध होता है। इस उपदेश को आजकल हमारे विश्वविद्यालयों मे दीक्षान्त-समारोह के अवसर पर स्नातको को सुना देने की परिपाटी चली गई है। इस उपदेश के अनुशीलन से वैदिक जीवन-दर्शन की एक भव्य झाकी हमारे सामने उपस्थित हो जाती है।

वैदिक अनुशासन

(क) **आचरण**--सदा सत्य बोलो तथा धर्म का आचरण करो—**सत्य वद धर्मं चर**। सत्य की महिमा वैदिक जीवन में सर्वत्र अनुस्यूत मिलती है। इस महिमा को वर्णन करते समय ब्राह्मण तथा उपनिषद् सनुष्ट नही होते। प्रश्न उपनिषद् का कथन है कि जो झूठ बोलता है, वह जड से सूख जाता है। इसलिए अनृत बोलना कभी भी शोभा नही देता। सदा सत्य का व्यवहार करना चाहिए---

समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति।
तस्मान्नार्हामि अनृतं वक्तुम्।

—प्रश्न ६।१

मुण्डक उपनिषद् सत्य के विजय की घोषणा करता है। सत्य ही जीतता है, विजय पाता है, अनृत नही। सत्य से देवयान मनुष्य के लिए विस्तृत होना है। आप्तकाम ऋषि लोग इसी यान का आश्रय लेते है—

सत्यमेव जयते नानृतम्
सत्येन पन्था विततो देवयानः।

येना क्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामाः ।
यत्र तत् सत्यस्य परं निधानम ।।

—मुण्डक ३।१।६

(ख) **प्रमाद न करना**—मानव को कभी भी इन विषयो मे प्रमाद—असावधानता नही करना चाहिए—स्वाध्याय मे, सत्य में, धर्म मे, कुशल मे, हितसाधन मे, स्वाध्याय तथा प्रवचन मे, देव तथा पितरो के कार्यो मे।

(ग) **देवबुद्धि रखना**—माता को, पिता को, आचार्य को, तथा अतिथि को देवता समझना चाहिए (**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव**)। प्रत्येक मनुष्य को इन चारो का आदर करना, श्रद्धा रखना तथा पूजन करना चाहिए। ये हमारे लिए देवतुल्य है।

(घ) **ब्राह्मणों के आचरण का अनुगमन**—जो आनन्दित कर्म है, उनका आचरण करना चाहिए, अन्यों का नही। गुरु का जो सदाचारयुक्त कर्म हो, उनका अनुसरण करना चाहिए, औरो का नही। जो कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण हमारे मध्य मे हों, तो उनका आसन द्वारा सत्कार करना चाहिए। यदि स्नातक को कर्म के विषय मे सन्देह हो, या आचार के विषय में सन्देह हो तो समाज में जो ब्राह्मण विचारशील, समाहित चित्त, समाहित कर्म, सद्भावयुक्त और धर्म काम हो, वे उस विषय में जैसा करे, स्नातक को भी वैसा ही करना चाहिए। निन्दित जनों के प्रति कैसा व्यवहार करना ? इसकी भी कसौटी वे ही ब्राह्मण जन है, जिनके गुणों का सकेत ऊपर किया गया है। उनके प्रति वे जैसा आचरण करे, वैसा ही करना चाहिए। फलतः ऐसे विचारशील ब्राह्मण का आचरण उपनिषद् की दृष्टि में अनुसरण के लिए प्रत्येक गृहस्थ का आदर्श होना चाहिए।

(ङ) **दान का आचरण**—समाज के उचित निर्वाह के लिए दान-धर्म का आचरण उपनिषद् श्रेष्ठ बतलाता है। वह कहता है—दान देना चाहिए श्रद्धा के साथ, अश्रद्धा के साथ नही, सम्पत्ति के अनुकूल तथा शालीनता के साथ दान दो। भयपूर्वक दान दो तथा ज्ञानपूर्वक दान दो। इन उपदेशो से दान की महिमा स्पष्टत अभिव्यक्त होती है। निष्कर्ष यह है कि तप, दान, आर्जव (ऋजुता, ईमानदारी), अहिंसा तथा सत्यवचन—ये पाच

सद्गुण इतने शोभन और उपादेय है कि इनके आचरण से मानव-जीवन सर्वथा आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है। इसलिए उनका आचरण उपनिषद् की दृष्टि में प्रत्येक मानव के लिए नितान्त हितकर तथा कल्याण-साधक होता है--

अथ यत् तपो दानमार्जवम् अहिंसा सत्यवचनमिति
ता अस्य दक्षिणाः ।

—छान्दोग्य ३।१७।४

आध्यात्मिक जीवन

इस प्रकार भौतिक जीवन बिताने वाला व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन का उपयुक्त पात्र होता है। उपनिषद् का इस विषय मे मान्य सिद्धान्त है--

आत्मानमेव प्रियमुपासीत ।

--बृहदारण्यक १।४।८

आत्मा को ही प्रिय मानकर उपासना करनी चाहिए। तथ्य यह है कि इस जगत् में आत्मा ही प्रियतम वस्तु है। इसका प्रतिपादन याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपनी भार्या मैत्रेयी को उपदेश देते समय किया था। याज्ञवल्क्य जनक के गुरु मिथिला में रहनेवाले एक महान् तत्त्ववेत्ता थे। वृद्धावस्था में जब वह जंगल मे तपस्या के निमित्त जाने लगे, तब उन्होंने अपनी सम्पत्ति का विभाजन अपनी दोनों पत्नियो मे कर दिया। भौतिक बुद्धिवाली कात्यायनी ने तो अपना अंश चुपचाप ले लिया, परन्तु अध्यात्मरसिक होने के कारण मैत्रेयी ने उस सम्पत्ति को लेना अस्वीकार कर दिया, जिससे अमरत्व की प्राप्ति नही हो सकती। उसने उस उपदेश के लिए आग्रह किया, जिससे मानव अमरत्व को पा सकता है। तब याज्ञवल्क्य ने अपना महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया, जो बृहदारण्यक उपनिषद् मे रोचक ढंग से वर्णित है। उनके उपदेश का सारांश यह है।

हम देखते है कि मनुष्य अपने पुत्र पत्नी तथा सम्पत्ति को अपनी प्रियतम वस्तु समझकर प्रेम करता है। परन्तु इस प्रेम या ज्ञान का रहस्य क्या है? क्या पुत्र पुत्र के लिए प्यारा होता है अथवा पत्नी पत्नी के लिए प्यारी होती है अथवा धन धन के लिए प्यारा होता है? नहीं, कभी नहीं। पुत्र मुझे अच्छा लगता है, इसलिए वह मुझे प्यारा है। पत्नी मुझे

अच्छी लगती है, इसलिए वह मुझे प्यारी है। धन की भी यही दशा है। मतलब की बात इतनी है कि 'मैं' या 'आत्मा' ही श्रेष्ठ या प्रियतम वस्तु है और उसी आत्मा को प्रिय लगने के कारण ही पुत्र, पत्नी तथा धन प्रिय लगते है। इसलिए तथ्य की बात है—

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति

इसीलिए याज्ञवल्क्य की शिक्षा है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्याविज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति।

—बृहदारण्यक २।४।५

अर्थात्—आत्मा ही देखने योग्य है, सुनने योग्य है, मनन करने योग्य है तथा निदिध्यासन करने योग्य है। अरे, आत्मा के ही दर्शन से, श्रवण से, मनन से तथा विज्ञान से सब कुछ विज्ञात होता है। इसलिए आत्मोलब्धि ही जीवन का चरम उद्देश्य है। आत्मा का साक्षात्कार ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की सिद्धि के तीन साधन है—

श्रवण, मनन और निदिध्यासन। इन तीनों की व्याख्या में एक प्राचीन पद्य है—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय. एते दर्शनहेतवः॥

अर्थात्—साधक का काम है कि पहले वह आत्मा के रूप का तथा प्राप्ति के उपाय का श्रवण करे, श्रुति या उपनिषद् के वाक्यों से। ऋषियों के द्वारा अनुभूत तथ्यो का विवरण उपनिषदो में उपलब्ध होता है। अतएव पहला काम यही है कि ऋषियो की इस अनुभूति को सुने तथा जाने कि आत्मा कैसा है?

मनन दूसरा साधन है। यही तर्कशास्त्र का प्रयोजन है। युक्तियों के सहारे, तर्क के द्वारा श्रवण किये गए तथ्यो को समझकर हृदयगम करना चाहिए। दूसरो की अनुभूति अन्ततोगत्वा परानुभूति ही तो है। उसे अपनी स्वानुभूति बनाने के लिए मनन की नितान्त अपेक्षा है। मनन के द्वारा आत्म तत्त्व सुचिन्तित हो जाता है।

निदिध्यासन साधना का तीसरा सोपान है। चिन्तित तथ्यों का

सदा ध्यान करते रहना चाहिए। योग का यही उपभोग है। ध्यान, धारणा और समाधि निदिध्यासन की सिद्धि के ही उपाय है। भर्तृहरि ने आत्म-तत्त्व की स्तुति में बडे पते की बात कही है—

दिक् कालाद्य नवच्छिन्नानन्त चिन्मात्रमूर्तये
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे।

—नीतिशतक, श्लोक १

अर्थात्—आत्मा दिक् (दिशा) तथा काल आदि अविच्छेदक वस्तुओ से कथमपि अवच्छिन्न अर्थात् सीमित नही होता। वह अनन्त है तथा चैतन्य रूप है। वह शान्त है तथा तेजः स्वरूप है। उसकी सिद्धि का प्रधान प्रमाण (एक मान) है—अपनी अनुभूति, अपनेको अनुभव करना। दूसरो की अनुभूति हमारे किस काम की? आवश्यकता है कि हम आत्मा का स्वय अनुभव करे और इसके लिए प्रधान साधन है निदिध्यासन। सन्तत ध्यान करने से ही वह तत्त्व हृदयगम किया जा सकता है। इस प्रकार आत्म-साधना के ये तीन साधन है, जिनका यथार्थ सेवन करने से आत्मा की उपलब्धि, प्राप्ति या अनुभूति साधक को होती है।

आत्म-ज्ञान हो जाने पर संसार के सब पदार्थो का ज्ञान हमे यथार्थतः हो जाता है, क्योकि सब पदार्थ जब उसीके प्रकार या भेद है, तब उसको जान लेने पर अज्ञात ही क्या रह सकता है? कुछ दृष्टान्तो के द्वारा इस विषय को विशद करने की चेष्टा बृहदारण्यक उपनिषद् ने की है—जैसे दुन्दुभी के बजाये जाने पर उसका बाह्य शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता, परन्तु यदि दुन्दुभी को पकड़ लिया जाय तो उसका शब्द भी पकड में आ सकता है। जिस प्रकार शंख को बजाने से उसका बाहरी शब्द ग्रहण नही किया जा सकता, किन्तु यदि शख को पकड लिया जाय तो उसका शब्द भी पकड़ मे आ सकता है। जिस प्रकार वीणा के बजाने पर उसका बाहरी शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता, किन्तु वीणा को ग्रहण करने पर उसका शब्द भी गृहीत हो जाता है (बृहदारण्यक २।४।७) यही बात जगत तथा ब्रह्म के सम्बन्ध में है। जिस प्रकार एक ही बाजे से अनेक तरह के शब्द निकलते हैं तो यह नानात्व भेद एक बाजे का ही भेद है, इसी प्रकार एक ब्रह्म से ही जगत का नानात्व भासित हो रहा है। इस ब्रह्म के जान लेने पर

जगत की कोई भी वस्तु अज्ञात नही रह सकती। यही परा विद्या है—सर्वश्रेष्ठ विद्या है, जिससे उस अक्षर तत्त्व का ज्ञान सिद्ध हो जाय।

अथ परा यया तद् अक्षरमधिगम्यते।

आध्यात्मिक क्रियाशीलता

आत्मज्ञानी व्यक्ति शान्त तथा दान्त होता है अवश्य, परन्तु वह आलसी नही होता। उसका जीवन नितान्त क्रियाशील व्यक्ति का जीवन होता है। ऐसे व्यक्ति को तर्क का वर्जन करना चाहिए। उसकी क्रीड़ा का विषय होता है आत्मा तथा वही उसकी रति या प्रेम का भी विषय होता है (**आत्मक्रीड़ा आत्मरतिः**)। उस आत्मा को जानना ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है—

तमेवैकं जानथ आत्मानम्, अन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः।

उस एक आत्मा को ही जानो। अन्य वाणी को छोड़ दो। अमरत्व का वही सेतु है।

तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः आनन्दरूपम् अमृतं तद् विभाति

—मुण्डक २।२।७

उसके विज्ञान से पण्डित लोग या विद्वज्जन उस तत्त्व को जान लेते है, जो आनन्द-रूप है तथा अमृत-रूप है।

इस प्रकार परमानन्द की प्राप्ति ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। मनुष्य सुख पाने के लिए पागल है। वह इधर दौड़ता है, उधर लौटता है। वह बाहरी पदार्थो मे ही सुख ढूढने मे लगा हुआ है। वह नहीं जानता कि परम आनन्द तो आत्मा के ज्ञान से ही मिल सकता है और वह आत्मा उसका ही स्वरूप ठहरा। फलतः आनन्द की प्राप्ति अन्तरंग तत्व की उपलब्धि में है। मानव की तुलना उस कस्तूरी मृग से की जा सकती है, जो कस्तूरी की गन्ध से पागल होकर उसे ढूढने के लिए जगल में इधर-उधर दौड़ा करता है। वह नहीं जानता कि कस्तूरी तो उसकी नाभि में विद्यमान है। मूल स्रोत तो वह स्वय अपने ही आप है। साधक की भी ठीक यही दशा है। इसीलिए श्वेताश्वतर उपनिषद् का उपदेश है—

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना
मेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

—श्वेताश्वतर ६।१२

आत्मज्ञानी को ही शाश्वत, नित्यसुख प्राप्त होता है, दूसरे को नही। इसलिए वेद का चरम उपदेश इन शब्दो मे व्यक्त किया जा सकता है—

आत्मा को जानो। वह एक अद्वितीय है। उसे छोड़कर कुछ भी दूसरा नही है। यह जगत् का नानात्व भ्रमरूप है। आत्मा परम आनन्दमय है। उसे ही जानकर मानव नित्य आनन्द पा सकता है।

: ३ :

गीता का तत्त्वज्ञान

अपनी धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि की विशालता के कारण वैदिक धर्म स्वतः एक नितान्त उदार धर्म है और उसमें भी गीता-धर्म परम उदारता का प्रतीक है। गीता-धर्म वैदिक धर्म का नवनीत है, अत्यन्त सारतम पदार्थ है। गीता का उद्देश्य भारतवर्ष के ही निवासियों को अध्यात्म मार्ग का उपदेश देना नहीं है, प्रत्युत यह सार्वभौम तथा सार्वकालिक ग्रन्थ-रत्न है। इसकी शिक्षा प्रत्येक देश तथा प्रत्येक काल के मानस के लिए उपयोगी है। यही कारण है कि विश्व के अन्य देशों में, विशेषतः अमरीका तथा यूरोप के मनीषियों को इसने अपनी उदार दृष्टि, आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा व्यावहारिक सामंजस्य के कारण अपनी ओर आकृष्ट किया है। पश्चिमी संसार ने भारत की दार्शनिक समृद्धि को सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ के द्वारा समझा है, क्योंकि १८वीं शती के अन्तिम चरण में बंगाल के पहले गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग्स की आज्ञा से चार्ल्स विलकिन्स नामक संस्कृतज्ञ अंग्रेज विद्वान् ने इसका सबसे पहले अंग्रेजी में अनुवाद किया। इस अनुवाद द्वारा ही पश्चिमी विद्वानों को भारत के गौरवपूर्ण दार्शनिक वैभव का ज्ञान हुआ और उन्होंने समझा कि यह देश आन्तरिक झगड़ों तथा आपसी फूट के कारण भले ही छिन्नभिन्न हो, परन्तु इसका आध्यात्मिक चिन्तन बड़ी उच्च कोटि का है, जिससे वे पूरा लाभ उठा सकते हैं। इसी अनुवाद को पढ़कर अमरीका के विद्वान् मनीषी कवि इमर्सन ने 'ब्रह्म'-विषयक अपनी सुप्रसिद्ध कविता का प्रणयन किया। आज विश्व की ऐसी कोई भी शिष्ट तथा समृद्ध भाषा नहीं है, जिसमें भगवद्गीता का अनुवाद न हुआ हो।

गीता इतनी लोकप्रिय क्यों है? क्या कारण है कि भारत के महनीय पुरुषों ने गीता का आश्रय लेकर ही अपने मत का व्याख्यान तथा सिद्धान्त का प्रचार किया है? गीता ज्ञान तथा विज्ञान की कुंजी है। सिद्धान्त तथा व्यवहार—उभय प्रकार के ज्ञान को ठीक-ठीक समझने के लिए गीता अमृत

के समान मधुर, सजीवनी तथा लाभकारिणी है। इसीलिए गीता के माहात्म्य में यह सुप्रसिद्ध श्लोक मिलता है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

अर्थात्—सब उपनिषद् गाय है; दूध दुहनेवाले साक्षात् श्रीकृष्ण है, जो इस कला के परम प्रवीण पारखी है। अर्जुन बछडा है, जिसे दूध पिलाने के अवसर पर इस अमृतदोहन की व्यवस्था होती है। भोक्ता पण्डितजन है। गीता का अमृत उपदेश महनीय दूध है, जो पान करनेवालो को अमरत्व प्रदान कर सदा के लिए मुक्त कर देता है। फलतः गीता के भीतर निर्दिष्ट तत्त्वज्ञान को समझने के लिए उसके दोनों पक्षो का समूहालम्बन आवश्यक है—सिद्धान्त-पक्ष तथा व्यवहार-पक्ष। सिद्धान्त-पक्ष के भीतर गीता के पदार्थ-विवेचन का प्रतिपादन है तथा व्यवहार-पक्ष के अन्तर्गत साधन-मार्ग का विवरण है। यहां इसी क्रम से इन दोनो पक्षों का सक्षिप्त विवरण हम नीचे प्रस्तुत कर रहे है।

पदार्थ-विवेचन

गीता के अनुसार पदार्थों का विभाजन तीन श्रेणियो मे अनेक अध्यायों में अनेक नाम से किया गया है।

अपरा प्रकृति (७।४)	क्षेत्र (१३।१)	क्षर पुरुष (१५।१६)
परा प्रकृति (७।५)	क्षेत्रज्ञ (१३।२)	अक्षर पुरुष (१५।१६)
		उत्तम पुरुष (१५।१७)
अहम् (७।६)	माम्	[—पुरुषोत्तम (१५।१८)]

भगवान् की दो प्रकृतिया है—अपरा प्रकृति तथा परा प्रकृति। अपरा का ही दूसरा नाम है—क्षेत्र तथा क्षर पुरुष। परा प्रकृति का अपर नाम है—क्षेत्रज्ञ तथा अक्षर पुरुष। इन तीनों वर्णनो का एक साथ अनुशीलन करने पर इन तत्त्वों के रूप इस प्रकार प्रकट होते है।

अपरा प्रकृति—गीता मे सब भौतिक पदार्थों का सूचक एक शब्द है क्षर पुरुष। **क्षरः सर्वाणि भूतानि**—१५।१६। इसीका विकास अष्टधा या आठ प्रकार की प्रकृति के रूप में और चौबीस प्रकार के क्षेत्र के रूप में अन्य

अध्यायों में किया गया है। अपरा प्रकृति के आठ रूप ये है--

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

—गीता ७।४

—भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार--ये आठ प्रकार से भिन्न अपरा प्रकृति होती है। इसीका प्रकारान्तर से वर्णन चौबीस प्रकार के क्षर तत्त्व के रूप मे मिलता है--

महाभूतान्यहंकारो बुद्धि रव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकच पञ्चचेन्द्रियगोचराः।

—गीता १३।५

इन चौबीस प्रकारों के नाम इस तरह है--पांच महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश), अहकार, बुद्धि अव्यक्त (—त्रिगुणमयी माया), दस इन्द्रिया (पाच ज्ञानेन्द्रिय—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना तथा घ्राण; पाच कमेन्द्रिया--वाक्, पाणि, पाद, गुदा तथा उपस्थ), एक मन तथा पाच ज्ञानेन्द्रियो के पाच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध)। प्रकृतिसहित विनाशी जड पदार्थों के तीन नाम है। क्षर पुरुष का ही विस्तार अष्टधा प्रकृति है और उसीका विस्तार चौबीस तत्त्वोवाला क्षेत्र तत्त्व है। प्रकृतिसहित विनाशी जड़ तत्त्वो के अन्य नाम भी गीता मे मिलते है। 'अधिभूत' (८।४ अधिभूत क्षरो भाव.) कार्य (दस प्रकार का) तथा करण (तेरह प्रकार) सहित प्रकृति के रूप में (१३।२०); 'महद्ब्रह्म' के रूप में (१४।३,१४।४) इसी तत्त्व का प्रतिपादन गीता करती है। इस प्रकार 'जगत्' का वर्णन गीता अपरा प्रकृति के रूप मे करती है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय ईश्वर के कारण है। यही गीता का विशिष्ट मत है। गीता साख्य के सिद्धान्त को बहुशः मानती है, परन्तु सृष्टि के विषय मे उसका अपना मत है। साख्य प्रकृति से जगत् का परिणाम मानता है, परन्तु गीता इस मत से सहमत नही है। गीता कहती है कि ईश्वर प्रकृति का अध्यक्ष है--उसके कार्यों का निरीक्षक है, प्रेरक है। ईश्वर की अध्यक्षता में प्रकृति जगत् की सृष्टि करती है, नही तो जड़ात्मक प्रकृति में जगत् की रचना करने का सामर्थ्य कहां से आता?

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगत् विपरिवर्तते॥

—गीता ९।१०

प्रकृति तथा ईश्वर का सम्बन्ध क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में गीता कहती है—महद् ब्रह्म या प्रकृति योनि है और ईश्वर बीज डालनेवाला पिता है। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति मातृ स्थानीय है और ईश्वर पितृ स्थानीय है। गीता के मत में जगत् मायिक या काल्पनिक नही है, प्रत्युत वास्तविक है,सच्चा है (१४।४)। जगत् की सृष्टि के विषय मे दो विभिन्न सिद्धान्त मिलते है—परिणामवाद और मायावाद। एक के अनुसार यह जगत् ईश्वर का परिणाम है अर्थात् उत्पन्न होकर भी वास्तव है। दूसरे के अनुसार यह जगत् माया का कार्य है अर्थात् यह काल्पनिक तथा मायिक है। परिणामवादी साख्य के अनुसार जगत् विकार है। मायावादी अद्वैती के मत में जगत् विवर्त है—ब्रह्म का,अर्थात् ब्रह्म से उत्पन्न होकर मायिक और काल्पनिक है। गीता इन दोनो मे से किस सिद्धान्त को मानती है, यह कहना कठिन है, क्योकि दोनो के प्रतिपादक वाक्य गीता मे यत्र-यत्र उपलब्ध होते है। ऊपर उद्धृत **'जगत् विपरिवर्तते'** में जगत् के परिणाम का समर्थन है। मायावाद के पोषक वाक्य ये है—'मेरे अतिरिक्त किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नही है' (**मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय** ७।७); सब कुछ वासुदेव ही है (**वासुदेवः सर्वमिति** ७।१०), इस ससार-वृक्ष का जैसा स्वरूप कहा गया है, वैसा विचार काल मे पाया नही जाता' (**न रूपमस्येह तथोपलभ्यते** १५।३)। इनका आशय है कि एक परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नही। जो कुछ प्रतीत होता है, वह केवल माया मात्र है। इस प्रकार दोनों प्रकार के मत के पोषक वाक्य गीता में उपलब्ध होते है। इसलिए गीता का अपना निजी मत क्या है? गीता किस वाद का समर्थन करती है? इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर नही दिया जा सकता। तथ्य तो यह है कि गीता के सिद्धान्त वादो मे ऊपर रहते है, क्योंकि वह किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं है। गीता एक सार्वभौम ग्रन्थ है और इसलिए उसमे नाना मतों की स्थान-स्थान पर उपलब्धि होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जीव-तत्त्व

जीव को ही परा (उत्कृष्ट) प्रकृति कहते है। अपरा से उत्कृष्ट होने का कारण यह है कि जीव चेतन होता है और अपरा प्रकृति निश्चेतन होती है। यही 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है (१३।२)। क्षेत्रज्ञ का अर्थ है क्षेत्र को जाननेवाला। शरीर को क्षेत्र कहते है—जैसे खेत बीजो को धारण करता है, वैसे ही यह शरीर भी किये गए कर्मो को धारण करना है। 'आत्मा' का विस्तृत वर्णन गीता के दूसरे अध्याय मे विशेष रूप से किया गया है। आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादक यह श्लोक खूब ही प्रसिद्ध है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्ण-
न्यानि संयाति नवानि देही।

—गीता २।२२

अर्थात्—जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रो को छोडकर नये वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार देही (—जीव) जीर्ण शरीर को छोडकर नये शरीर को धारण करता है। यह आत्मा के अमरत्व का सूचक श्लोक है। जीव स्वय अविकारी है। शस्त्र इसे काट नही सकते; आग इसे जला नही सकती; जल इसे गीला नही कर सकता, हवा इसे सुखा नही सकती। इस प्रकार आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, तथा अशोष्य है। यह नित्य, सब प्राणियो मे व्याप्त होनेवाला, अचल और सनातन है। यह अव्यक्त, अचिन्त्य तथा अविकारी है (गीता २।२५)। जीवत्व के एकत्व के विषय में गीता एक उपमा की अवतारणा करती है। जैसे एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सारे क्षेत्रों को या शरीरो को प्रकाशित करता है—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

—गीता १३।३३

यहां सूर्य की उपमा सिद्ध करती है कि क्षेत्री वस्तुत. एक ही होता है। गीता के अनुसार जीव भगवान् का सनातन अश है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः

—गीता १५।७

—जीव अंश है और भगवान् अंशी है। यह अंशांशी-भाव किस प्रकार का है? इस विषय में टीकाकारों मे पर्याप्त मत-भेद है।

ब्रह्म-तत्त्व

ब्रह्म के विषय में गीता के सिद्धान्त विशेषतः अष्टम तथा त्रयोदश अध्यायों मे वर्णित है। गीता ब्रह्म के दोनों रूपों—निर्गुण तथा सगुण—से परिचय रखती है, परन्तु वह जानती है कि दोनों एक ही अभिन्न तत्त्व है। इसीलिए कही-कही दोनो रूपो का स्पष्ट वर्णन एक साथ ही किया गया है—

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

—गीता १३।१४

इस पद्य का तात्पर्य है कि ब्रह्म सब इन्द्रिय वृत्तियो के द्वारा विषयों के ग्रहण करने में समर्थ होता है, परन्तु साथ-ही-साथ वह सब इन्द्रियो से रहित है। वह सब प्रकार के देहादिक-सम्बन्धों मे रहित है (असक्त), परन्तु सबको धारण करता है (सर्वभृत्)। वह निर्गुण है और गुणों का भोक्ता है—रूप, रस शब्दादिक विषयो का वह उपभोक्ता है। इस श्लोक में ब्रह्म के दोनो रूपों का स्पष्ट प्रतिपादन है। ब्रह्म भूतो के भीतर तथा बाहर दोनों ओर है। वह अचर तथा चर दोनो है। पास मे है और दूर भी है। दोनो छोरों पर उसकी स्थिति है।

बहिरन्तश्च भूतानमाचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्

—गीता १३।१५

इस प्रकार ब्रह्म के विषय मे बहुत-से परस्पर-विरोधी विशेषणों का प्रयोग हम गीता में पाते है। वह न तो सत् ही और न असत् (**न सन्नासदुच्यते**—१३।१२)—ऐसा वर्णन एक स्थान पर है तो दूसरे स्थान पर कहा गया है कि वह सत् भी है, असत् भी है तथा इन दोनों से परे भी है—

अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत् तत्परं यत् ।।

—गीता ११।३७

इन वर्णनों में किसी प्रकार विरोध की कल्पना करना न्यायसंगत नही है। परब्रह्म देश, काल, निमित्त आदि समस्त उपाधियों से विरहित है। फलतः उसके लिए ऐसे विशेषणों का प्रयोग भूषण है, दूषण नही। गीता परब्रह्म के लिए 'अक्षर' तथा 'अव्यक्त' दोनो शब्दों का प्रयोग करती है। इसलिए 'अव्यक्त' पद को देखकर प्रकृति का ही संकेत मानना कथमपि उचित नही है।

परस्तस्मातु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।।

—गीता ८।२०

इस श्लोक में 'अव्यक्त' पद का प्रयोग प्रकृति तथा परब्रह्म दोनो के लिए किया गया है। आशय है कि अव्यक्त प्रकृति से परे एक श्रेष्ठ अव्यक्त तथा सनातन सत्ता विद्यमान है, जो सब भूतों के नष्ट हो जाने पर भी स्वयं नष्ट नही होती। यही सत्ता परब्रह्म है,जिसे अगले पद्य मे अव्यक्त और अक्षर कहा गया है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।

—गीता ८।२१

पुरुषोत्तम-तत्त्व

पुरुषोत्तम-तत्त्व भगद्गीता का परम रहस्य आध्यात्मिक तत्त्व माना जाता है। वह नाना नामों से तथा नाना व्यापारो के कर्तारूप मे, गीता में वर्णित है। वह कहीं सृष्टि, पालन तथा संहार का कर्ता, कही धारण तथा पोषण-कर्ता कहा गया है। उसके भिन्न-भिन्न नाम है। पुरुषोत्तम, परमेश्वर, परमात्मा, अव्यय तथा ईश्वर आदि उसीके अभिधान है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।

—गीता १५।१७

इस श्लोक में वह परम पुरुष, उत्तम पुरुष, परमात्मा, अव्यय तथा ईश्वर नामों से एक साथ अभिहित किया गया है। वह तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उनका पालन करता है। पुरुषोत्तम के स्वरूप का प्रतिपादक गीता का यह महनीय पद्य है—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहम् अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

—गीता १५।१८

अर्थात्—क्षर से मैं अतीत हूं तथा अक्षर से उत्तम हूं। इसलिए लोक तथा वेद में मैं 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध हूं। यह श्लोक अक्षर ब्रह्म और पुरुषोत्तम के पार्थक्य को स्पष्ट बतलाता है। जड जगत् से भिन्न चेतन ब्रह्म को 'अक्षर ब्रह्म' कहते है, परन्तु जो ईश्वर इस विश्व को व्याप्त करता हुआ भी इससे परे है, जगत् के समस्त पदार्थों मे स्थित है और साथ-ही-साथ उनसे पृथक् भी है, वही ईश्वर 'पुरुषोत्तम' है। सक्षेप मे, कह सकते है कि पुरुषोत्तम विश्वानुग होकर विश्वातीत दोनों है। 'अहम्', 'मान्' आदि शब्दों से जहा-तहा गीता के विभिन्न श्लोकों मे इसी परम अव्यक्त, पर, अविनाशी, नित्य, चेतन, आनन्द, बोध स्वरूप का वर्णन किया गया है

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

—गीता ७।६, ७

इसका अर्थ है कि मै ही सम्पूर्ण ससार के उदय तथा अस्त होने का कारण हू। मुझसे बढकर और कोई भी वस्तु नहीं है। सब ससार तथा उसके पदार्थ मुझमे उसी प्रकार पिरोये गए है, जैसे डोरे में मणि का समुदाय। यह उपमा ध्यान देने योग्य है। मणिमाला में केवल मणियां दीख पड़ती है। उनको एक सूत्र मे पिरोनेवाला डोरा नही दिखलाई पड़ता, परन्तु उसी डोरे के कारण ही बिखरी हुई मणियों में एकता विद्यमान रहती है। डोरे के अभाव में वे इधर-उधर बिखर गई रहती। ईश्वर की भी ठीक यही दशा है। संसार के कण-कण मे चेतना का सचार करनेवाला तथा उन्हें

एकत्र बांध रखनेवाला यही ईश्वर है---पुरुषोत्तम है। आगे चलकर गीता कहती है---

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् अमृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

---गीता १४।२७

मै ही अविनाशी परब्रह्म का, अमृत का, नित्य धाम का, नित्य धर्म का, तथा अखण्ड एकरस आनन्द का आश्रय हू। यहां ईश्वर के स्वरूप का विशिष्ट वर्णन है। इस प्रकार गीता के अनुसार तत्त्वमीमासा का सक्षिप्त वर्णन यहां प्रस्तुत किया गया है।

गीता का साधन-मार्ग

नाना जीवो के लिए उनकी अभिरुचि के मगल-साधन के निभिन्न गीता ने अपने साधन-मार्ग का विशिष्ट प्रतिपादन किया है। तीन योगों का प्रतिपादन तीन प्रकार के जीवो के लिए गीता बहुश. करती है। हम भी यहां इस योगत्रयी का वर्णन क्रमशः करेगे। यह योगत्रयी है—

१. कर्मयोग,
२. ज्ञानयोग,
३. भक्तियोग।

गीता में कर्मयोग

भारतीय दर्शन के इतिहास में 'कर्म-मीमासा' के आग्रही मीमांसक लोग ज्ञान की अपेक्षा कर्म को ही सर्वाधिक महत्त्व देते है। वे तो ज्ञानमार्गी उपनिषदों का भी तात्पर्य कर्मयोग के समर्थन में ही बतलाते है। गीता का 'कर्मयोग' मीमासको के 'कर्मवाद' से सर्वथा भिन्न है। मुख्य भेद यह है कि जहा मीमासक स्वर्ग की प्राप्ति के लिए यज्ञयाग के विधान तथा अनुष्ठान को उपादेय मानते है, वहा गीता उसे कर्तव्य-कर्म समझकर निष्काम-बुद्धि से करने का उपदेश देती है। जहां 'कर्मवाद' में स्वार्थ तथा आसक्ति की भावना है, वहा 'कर्मयोग' में निःस्वार्थ तथा अनासक्ति का भाव है।

गीता सिद्धि-लाभ का उपाय स्वकर्म के अनुष्ठान को मानती है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

—गीता १८।४।६

इस श्लोक का सीधा अर्थ यही है कि जिस परमात्मा से सब भूतों की उत्पत्ति हुई और जिससे यह जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर को अपने 'स्वकर्म' के द्वारा मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। इस श्लोक में दो शब्दों पर विशेष ध्यान देना चाहिए, – १. स्वकर्म २. स्वकर्म से भगवान् की अभ्यर्चना। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार नियत किये गए जो वर्णाश्रम-धर्म अथवा सामान्य मानव-धर्म है, वे ही 'स्वकर्म' कहे जाते है। गीता में 'स्वकर्म के लिए अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते है, यथा स्वधर्म, सहज कर्म नियत कर्म, स्वभावज कर्म, स्वभावनियत कर्म आदि। स्वकर्म के अनुष्ठान पर गीता का पूर्ण आग्रह है। जिस समाज मे हम पैदा हुए है तथा अपने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार जिस वर्ण और आश्रम मे हमारी स्थिति है, उसके कर्मो का विधिवत पालन करना हमारा परम ध्येय होना चाहिए। जो लोग दूसरे के धर्म पर दृष्टि डाले रहते ह, उनसे गीता का उपदेश है कि अच्छी प्रकार आचरण किये बिना दूसरे के धर्म के पालन करने की अपेक्षा गुणरहित स्वधर्म का पालन श्रेष्ठ होता है; स्वभाव से नियत कर्म के करने से कभी कोई व्यक्ति पाप को प्राप्त नही कर सकता (गीता १८।४७)। अपने धर्म मे यदि दोष भी दिखलाई पड़ता हो तो उसका वर्जन कभी नही करना चाहिए, क्योंकि सब कर्म किसी-न-किसी दोष के द्वारा सदा आवृत रहते है—अग्नि को धूम्र के समान। थोड़ी-सी आग क्यों न हो; उसके साथ धूम्र का रहना अनिवार्य है। दोनो का नित्य साहचर्य है। कर्म तथा दोष का भी सम्बन्ध इसी प्रकार है। यह सम्बन्ध जानकर भी तथा प्रत्यक्ष रूप से अपने कर्म को सदोष देखकर भी साधक को चाहिए कि स्वभाव से नियत कर्म का परिहार कभी न करे (गीता १८।४८)। यह तो हुई गीता के अनुसार 'स्वधर्म' या 'स्वकर्म' के पालन की अनिवार्यता, अब इसी कर्म के द्वारा भगवान् की अर्चना किस प्रकार की जा सकती है, इसपर भी ध्यान देना चाहिए।

स्वकर्म से भगवान की अर्चना

जगन्नियन्ता ने इस जगत् का निर्माण किया है और प्राणियों के जीवन-निर्वाह की सुन्दर व्यवस्था की है। इसकी इच्छा है कि प्राणी अपनी वर्तमान स्थिति के अनुकूल कार्यों का विधिवत् पालन करे। यदि वह ऐसा न करेगा तो भगवान् के विधि-विधान मे अव्यवस्था हो जायगी और ससार का यह यन्त्र अपनी धुरी से हटकर छिन्न-भिन्न हो जायगा। अतः प्राणी के लिए 'स्वकर्म' का अनुष्ठान करना नितान्त आवश्यक है, परन्तु इन कर्मों का आवश्यक अनुष्ठान भी उसे अनासक्त बुद्धि से करना चाहिए। 'आसक्ति' ही बुरी वस्तु है, जो कर्म को बन्धन के रूप मे प्रस्तुत कर देती है। इस आसक्ति का त्याग ही कर्म के बन्धनरूप को काटने मे समर्थ होता है।

पतिव्रता का दृष्टान्त यहा दिया जा सकता है। पतिव्रता स्त्री अपने पति को ही सर्वस्व समझकर, उसका सर्वदा चिन्तन किया करती है और पति की ही आज्ञा के अनुसार पति के ही लिए मन, वचन तथा शरीर से कर्म किया करती है। जीव की भी ऐसी ही उदात्त भावना होनी चाहिए। परमेश्वर ही जीव का सर्वस्व है, यह जानकर जीव को चाहिए कि वह सदा परमेश्वर का चिन्तन करता हुआ, परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार मन, वाणी और शरीर के द्वारा परमेश्वर के ही प्रसन्नार्थ अपने स्वाभाविक कर्मों का विधिवत् आचरण करे। उन कर्मों का फल कभी अपने भोग की वस्तु न समझे, प्रत्युत वह भगवान् को ही अर्पण कर दे—**'कर्मणा तमभ्यर्च्य'** का यही तात्पर्य है। कर्म का फल हमें नही मिलेगा, इस कारण न कर्मके अनुष्ठान में किसी प्रकार का शैथिल्य तथा न मन में किसी प्रकार का अवसाद आना चाहिए; प्रत्युतपूर्ण आस्था से, पूर्ण परिश्रम से तथा अपूर्व उत्साह से कर्मों का अनुष्ठान करते रहना चाहिए, परन्तु फल का समर्पण कर देना चाहिए उस भगवान् को, जो हमारे हृदय-देश में सदा विद्यमान रहता है तथा यन्त्रारूढ़ प्राणियो को अपनी माया के द्वारा सर्वदा घुमाया करता है (गीता १८।६१)। जीव परमेश्वर के हाथ से संचालित एक प्राणी मात्र है। ऐसे अन्तर्यामी तथा सर्वशक्ति-सम्पन्न परमेश्वर को कर्म-फलों को समर्पण करने से उन फलों मे और भी अधिक सामर्थ्य तथा व्याप्ति चली आती है—यह निर्विवाद है।

गीता के अनुसार संसार के प्राणियों को हम दो भागों मे बांट सकते है—१. सक्त तथा २. युक्त। दोनो स्वकर्म का अनुष्ठान करते है, परन्तु दोनों की दृष्टि मे महान् अन्तर होता है। गीता के द्वारा निर्दिष्ट साधना-मार्ग का तात्पर्य यही है कि 'सक्त' पुरुष 'युक्त' पुरुष बन जाय। 'सक्त' पुरुष वह है, जो ससार के कामो मे सर्वथा आसक्त रहता है और जिसके काम अपने लाभ तथा अपने अनुराग की भावना और कामना के द्वारा ही प्रेरित किये जाते है। वह अपने समय तथा परिस्थितियो का दास होता है और वह अपने जीवन को उन्हीके सकेत पर चलाता रहता है। वह अपने को घर तथा समाज एव देश के सम्बन्धों मे जकडे रहता है, मानो ये सम्बन्ध सर्वदा वर्तमान रहनेवाले हों। तात्पर्य यह है कि 'सक्त' ससार का साधारण प्राणी होता है, जो न कभी भूत पर दृष्टि रखता है और न भविष्य पर, प्रत्युत वर्तमान को ही वह अपने जीवन का लक्ष्य बनाये रहता है। उसके हृदय में काम की भावना अपना राज्य जमाये रहती है और उसके समस्त कार्यों के अन्तराल में यह भावना जागरूक रहती है। परन्तु यह काम आत्मा का सबसे बडा शत्रु होता है। काम की उपमा गीता मे 'दुष्पूर अनल' के साथ की गई है। काम वह आग है, जो कभी बुझना जानती ही नही, क्योकि एक काम (वासना) के पूरा होने पर दूसरा काम (वासना) सामने आ धमकता है। उसकी कभी समाप्ति ही नही है। इसको वश मे रखने की आवश्यकता है तभी मानव वास्तव में सच्चा 'युक्त' पुरुष बन सकता है। युक्त का अर्थ है—काम के ऊपर सयम रखनेवाला व्यक्ति। काम हमको यदि खीचकर आगे बढाता चलता है तो हम उस क्षण में सक्त है। परन्तु यदि हमने ज्ञान के द्वारा काम के यथार्थ विध्वंसक रूप को जानकर उसे अपने वश में कर लिया तो समझ रखिये हम 'युक्त' बनने के शोभन मार्ग पर चल रहे है। आज का मनोवैज्ञानिक 'काम' के महनीय प्रभाव को जितना व्यापक समझता है, गीता भी उसे उसी रूप में मानती है। गीता का यह विषय-विश्लेषण पूर्ण मनोवैज्ञानिक है और हमारी प्रवृत्तियों का तथा मनोभावों का बडा ही सुन्दर युक्तियुक्त तथा सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करता है। गीता के अनुसार 'युक्त' होने की प्रक्रिया यही है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीर विमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेग स युक्तः स सुखी नरः॥

—गीता ५।२३

मनोविज्ञान की दृष्टि से यह श्लोक बडे महत्त्व का है। आधुनिक मनोविज्ञान बतलाता है कि काम तथा क्रोध का भाव चुपके-से हमारे मन मे किसी कारण विशेष को लेकर उत्पन्न हो जाता है और अनन्तर हमारे पूरे शरीर पर अपना प्रभाव जमा लेता है। मन की वृत्तियां अपनी-अपनी अभिव्यक्ति शरीर के द्वारा ही प्रकट करती हैं। हमारे मन के जैसे भाव होते है, उनका सकेत हमारे शरीर मे सद्यः अथवा कालान्तर में होने लगता है। गीता के अनुसार यही 'शरीर विमोक्षण' है,अर्थात् शरीर मे मनोभावों के प्रभाव का विशेष रूप से मोक्षण होना—छोडना—व्याप्त करना है। गीता बतलाती है कि वही व्यक्ति युक्त तथा सुखी है, जो काम तथा क्रोध से उत्पन्न वेग को शरीर मे फैलाने से पहले ही सहने में समर्थ होता है। विष यदि शरीर मे फैल जाता है तो उसका निवारण बहुत कठिन होता है, परन्तु वह शरीर मे आने के साथ-ही-साथ ध्वस्त कर दिया या रोक दिया जाय, तब वह प्राणी उसके विषम परिणाम से बच जाता है तथा सुखी होता है। ठीक यही दशा काम-क्रोध के वेग की भी होती है। गीता का यह श्लोक मनोविज्ञान के दृढ आधार पर खडा है और **'प्राक् शरीर विमोक्षणात्'** (शरीर में प्रभाव को पूर्णतया व्यापक होने से पहले) का पूर्वोक्त अर्थ ही उचित प्रतीत होता है। 'शरीर के नाश होने से पहले' अर्थ करना ठीक नही जंचता और ऐसा करने 'इहैव' पदों का स्वारस्य भी नही जमता। अतः गीता के अनुसार पुरुष तभी 'युक्त' हो सकता है जब वह अपने काम तथा क्रोध के वेग को रोककर अपने चित्त को इन बुरी वृत्तियों से सदा के लिए बचाता है। वह तभी सुखी हो सकता है।

गीता के कर्म-मार्ग के प्रसग मे एक-दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। गीता के अनुसार आदर्श पुरुष का निर्देश तीन स्थलों पर तीन भावों से किया गया है। १. स्थितप्रज्ञ (पहला अध्याय), २. भक्त (बारहवां अध्याय), ३. गुणातीत (चौदहवां अध्याय)। ऐसे पुरुष की एक बड़ी पहिचान है कि वह 'सर्वारम्भपरित्यागी' होता है गीता (१२।१६)।

इस शब्द का अर्थ तो आपाततः यही प्रतीत होता है कि वह सब आरम्भों का अर्थात् कर्मों का परित्याग करनेवाला होता है। ऐसा अर्थ तो प्रतिपादित सिद्धान्त के साथ कभी भी मेल नहीं खा सकता। 'सर्वारम्भ परित्यागी' पुरुष तो निरुद्योगी, आलसी तथा निकम्मा होगा और वह किसी भी समाज का योग्य सभासद नहीं बन सकता। ऐसी दशा मे इस विशेषण का कुछ अतिरिक्त आशय होना चाहिए। गीता का स्वारस्य गीता से ही निकलता है, पूर्वापर के चिन्तन से तथा शब्दों के अर्थ-तारतम्य से। गीता ने इस सिद्धान्त का वर्णन ४।१९, १८।२, १८।४८, १८।४९ मे किया है, जिसके प्रकाश मे इस शब्द का यथार्थ उद्भासित होता है। पण्डित का लक्षण करते हुए गीता कहती है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

—गीता ४।१९

अर्थात्—जिसके सम्पूर्ण कार्य काम तथा संकल्प से रहित होते है तथा ज्ञान-रूपी अग्नि द्वारा जिसके कर्म दग्ध हो जाते है, वही वस्तुत 'पण्डित' कहा गया है। यहापर स्पष्ट ही आरम्भों को काम-संकल्प से वर्जित करने का उपदेश है। इसी श्लोक के प्रकाश में 'सर्वारम्भ परित्यागी' का अर्थ होगा वह व्यक्ति, जो काम्य कर्मों का परित्याग करता है। काम ही मन को विदूषित करनेवाली मनोवृत्ति है। वह मन को अपने चंगुल में करके उसे अस्त-व्यस्त तथा उच्छिन्न मार्ग का पथिक बना देता है। इसलिए काम के निग्रह पर गीता का इतना आग्रह है।

कर्म में एक भयानक विषदन्त है, जिसे तोड़ना नितान्त आवश्यक होता है और वह है फल की आसक्ति। जबतक हम इस आसक्ति को दूर नहीं करते, तबतक कर्म बन्धन से हीन नहीं हो सकता। फलासक्त कर्म बन्धन है और फलासक्ति-रहित कर्म बन्धन-विहीन है। गीता के कर्म-विषयक सिद्धान्त का यही निष्कर्ष है। कर्म से कभी भी हमें छुटकारा नहीं मिल सकता। कर्म तो हमे करना ही पड़ेगा। तब ऐसे ढग से उसे करना चाहिए कि जिससे वह कभी भी बन्धन उत्पन्न ही न करे। ऐसी दशा में फल की आसक्ति छोड़ने से भिन्न कोई दूसरा मार्ग नहीं है और यह तब

सम्भव है जब कर्म भगवान को अर्पित किये जाते हैं। इस प्रकार पूर्वापर विचार करने से गीता का प्रशस्त कर्म-मार्ग अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे सामने प्रकट हो जाता है। कर्म के विषय में भगवान का यह वाक्य हमारे जीवन का आदर्श होना चाहिए—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥

—गीता ९।२७

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जीव जो भी कर्म करता है, जो कुछ भी खाता है, जो कुछ भी देता है, जो हवन करता है तथा जो तपस्या करता है तथा पुण्य कर्मों का सम्पादन करता है उन सब कर्मों को मुझे समर्पण कर दे। भगवान के समर्पण के द्वारा हम कर्म के फल को बन्धनहीन बना सकते है।

कर्म-योग का उपदेश गीता की अपनी विशिष्टता है। गीता की दृष्टि में कर्म का इस प्रकार कुशलता से सम्पादन करना कि वह बन्धन न उत्पन्न करे, 'योग' कहलाता है। '**योगः कर्मसु कौशलम्**' का यही तो तात्पर्य है। साधारण कर्मवाद को कर्म-योग में प्रवर्तित करने के लिए तीन सोपानों की आवश्यकता होती है—

१. फल की आकांक्षा का वर्जन।

२. कर्तृत्व के अभिमान का परित्याग।

३. ईश्वर को कर्म का समर्पण करना।

गीता के अनुसार 'कर्म-योग' की चतुःसूत्री इस प्रसिद्ध श्लोक में निविष्ट की गई है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्माते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

—गीता २।४७

इस श्लोक के चार पाद चार सूत्रों के समान हैं—

पहले पाद का अर्थ है—तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है।

दूसरे पाद का अर्थ है—फलों में तुम्हारा अधिकार कभी नहीं है।

तीसरे पाद का तात्पर्य है—कर्मों के फल की वासनावाले भी मत बनो।

इसका अर्थ यह है कि पहले दोनों पादों में अधिकार की बात बतलाई गई है कि तुम्हारा अधिकार कर्म में है, कर्म के फल में नहीं है। यहां एक नई बात बताई गई है कि अपने चित्त मे कर्म के फल की वासना भी मत रखो, क्योंकि ऐसा करने से भी जीव बन्धन मे पडता है।

चौथे पाद का अर्थ है—तेरी कर्म न करने में प्रीति न होवे। असली बात यह है कि मनुष्य को कर्मकी ओर प्रवृत्त करानेवाली फल की आकांक्षा ही होती है। खेत के जोतने-बोने से अनाज उत्पन्न होगा और इसीलिए किसान इस काम मे प्रवृत्त होता है। जब फल का ही निषेध कर दिया गया, तब साधारण रीति से किसान उस काम से हट जाता है और काम करने से अपना मुह मोड़ लेता है। वह आलस्य मे पड़ जाता है। यही सामान्य ढंग है। इसलिए गीता का उपदेश है कि दोनों छोरो से बचना चाहिए। न तो कर्म के फल मे आसक्त होना चाहिए और न अकर्म मे ही मन लगाना चाहिए। उसे मध्य मार्ग का ही अवलम्बन करना चाहिए। यह मध्यम मार्ग है—कर्म प्रेम, श्रद्धा तथा परिश्रम के साथ करना तथा साथ-ही-साथ उससे होनेवाले फल की इच्छा या कामना न करना।

त्याग या सन्यास के विषय मे गीता के अनुसार चार मत लक्षित होते है—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्व कर्म फलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

—गीता १८।२

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे॥

—गीता १८।३

१. पण्डितजन तो काम्य कर्मो के त्याग को सन्यास जानते हैं। 'काम्य' का अर्थ है कामना या इच्छा की पूर्ति के निमित्त किया गया कर्म। स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति के लिए तथा रोग, संकट, आदि अनर्थों के निवारण के लिए जो यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि कर्म किये जाते है, उनका नाम काम्य कर्म है।

२. कितने ही विचारशील पुरुष सब कर्मो के फल के त्याग को त्याग

कहते हैं। ईश्वर की भक्ति, देवताओं का पूजन, माता-पिता आदि गुरुजनों की सेवा, यज्ञ, दान और तप, वर्णाश्रम के अनुसार आजीविका द्वारा गृहस्थी का निर्वाह एवं शरीर के भरण-पोषण के लिए खान-पान आदि जितने कर्तव्य-कर्म है, उन सबमें इस लोक परलोक की सम्पूर्ण कामनाओं के त्याग का नाम 'कर्म-फल-त्याग' है।

३. कुछ विद्वानों का मत है कि सभी कर्म दोषयुक्त होते हैं और इससे वे त्यागने योग्य है।

४. चौथा मत उन लोगों का है, जो यज्ञ, दान तथा तपरूपी कर्मों के त्याग को अनुचित मानते है तथा इनका सम्पादन उचित मानते हैं।

ऐसी परिस्थिति मे गीता का निश्चित मत इस श्लोक में निर्दिष्ट किया गया है—

कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन
सङ्गं त्वक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

—गीता १८।९

'नियत कर्म' का अर्थ है, वे कर्म जो स्वधर्म के अनुसार स्थिर कर दिये गए है। वर्ण, आश्रम, स्वभाव तथा परिस्थिति के अनुसार जिस मनुष्य के लिए जो-जो कर्म शास्त्र मे आवश्यक कर्तव्य बतलाये गए है, उन्हीका नाम यहा 'नियत कर्म' है। इन कर्मों को कर्तव्य-बुद्धि से करना चाहिए अर्थात् ये कर्म-शास्त्र के द्वारा विहित है, अतएव अवश्य करणीय है; इसी बुद्धि से इन कर्मों का सम्पादन करना चाहिए। साथ-ही-साथ संग तथा फल दो वस्तुओं को भी छोड़ देना चाहिए। गीता में 'संग' शब्द का प्रयोग सदा ही 'आसंग' या आसक्ति के अर्थ मे किया गया है। आसक्ति बुरी चीज है। आसक्ति में पड़ा हुआ प्राणी दोषों को कभी नही देखता। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह फल को तथा आसक्ति को छोड़कर ही कर्तव्य-बुद्धि से शास्त्रविहित कर्मों का सम्पादन करे। यही सच्चा त्याग है। कर्म के विषय में गीता का यही सर्वमान्य सिद्धान्त है।

गीता में ज्ञान-योग

गीता में ज्ञाननिष्ठा सांख्यनिष्ठा के नाम से अभिहित की गई है। कर्म-

योग और भक्तियोग के समान ही गीता मे ज्ञानयोग का स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है। साख्य भी ज्ञानयोग का प्रतिपादक दर्शन है, परन्तु गीता का ज्ञानयोग उस योग से नितान्त भिन्न है। सांख्य-मत मे मोक्ष-प्राप्ति का साधन प्रकृति-पुरुष का विवेक ज्ञान है, परन्तु गीता के अनुसार ज्ञान है आत्मा की एकता का पूर्ण अनुभव। इस ज्ञान की दो दिशाएं है—पहली दिशा है आत्मा को सब प्राणियों मे देखना। विश्व के सब प्राणियो मे एक ही अभिन्न आत्मा वास करता है, यह जानना ज्ञान की एक दिशा है (**सर्वभूतस्थमात्मानम्**)। दूसरी दिशा है—एक ही आत्मा मे सब भूतों का प्रत्यक्ष करना (**सर्वभूतानि चात्मनि**)। इन दोनो मे पहला ज्ञान तो सुलभ है। वह पण्डितों को सामान्यतः हो जाता है, परन्तु दूसरा ज्ञान तो बडा कठिन है, और इसी कठिन ज्ञान को सुलभ बनाने के लिए भगवान् ने अर्जुन को अपना विराट् रूप दिखलाया। इस रूप का दर्शन इन चर्मचक्षुओ के द्वारा नही किया जा सकता। इसीलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने ऐश्वर्यमय रूप को देखने के लिए दिव्यचक्षु दी थी (**दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्**)। इस दिव्य चक्षु के सहारे अर्जुन ने देखा एक ही स्थान पर समस्त जगत् को। इस प्रकार अर्जुन को आत्मा के एकत्व का ज्ञान परिपूर्ण हुआ।

गीता शुष्क ज्ञानी को महत्व नही देती। ज्ञानी वही सच्चा होता है, जो भगवान् में अनन्य भक्ति रखता है (**तेषां ज्ञानी नित्य युक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ७।१७**)। इसीलिए चार प्रकार के भक्तो मे ज्ञानी भक्त गीता की दृष्टि से बड़ा ही महनीय होता है। वह तो भगवान् की अपनी ही आत्मा होता है (**ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम् ७।१८**)। ज्ञानी भी बहुत-से जन्मों के अन्त में भगवान् को पाता है। वह महात्मा तो बहुत ही दुर्लभ है, जो जगत् के समस्त प्राणियो को 'वासुदेव' या भगवान् का रूप समझे—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

—गीता ७।१९

ज्ञान के द्वारा साधकों के पाप धुल जाते है, जिससे उनकी बुद्धि भगवन्मयी हो जाती है (तद्बुद्धयः) उनका चित्त भगवान में सदा रमण करता है।

(तदात्मानः), उनकी स्थिति भगवान में नित्य रहती है (तन्निष्ठाः), भगवान को ही वे परम आश्रय मानकर उनके शरण मे रहते है (तत्परायणः) ऐसे ज्ञानी पुरुषों को मोक्ष प्राप्त हो जाता है, जिससे वे ससार में जन्म नहीं लेते—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

—गीता ५।१७

गीता के अनुसार 'समत्व ज्ञान' ही उच्च कोटि का ज्ञान माना गया है और पण्डित—विवेक-बुद्धि से समन्वित प्राणी वही है, जो समत्व मे प्रतिष्ठित है 'पण्डित' का लक्षण गीता के इस प्रख्यात श्लोक मे इस प्रकार है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डितः समदर्शिनः ॥

—गीता ५।१८

अर्थात् पण्डित वही है, जो विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में, गाय में, हाथी मे, कुत्ते मे, और चाण्डाल मे समदर्शी होता है अर्थात् इन विभिन्न पदार्थों के भीतर वह एक ही आत्मा का दर्शन करता है। यह पण्डित ही ज्ञानी का पर्याय है, अर्थात् यह ज्ञानी का ही लक्षण है।

समता ही एकता है और यही परमेश्वर का स्वरूप है। इसमें स्थित हो जाने का ही नाम 'ब्राह्मी स्थिति' है। इस दशा के वर्णन में गीता कहती है कि जो पुरुष प्रिय को पाकर हर्षित नही होता और अप्रिय को पाकर उद्विग्न नही होता, ऐसा स्थिरबुद्धि और सशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्द घन परमात्मा मे एकीभाव से स्थित है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसं मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥

—गीता ५।२०

जीवन्मुक्त ज्ञानी का यही आदर्श स्वरूप गीता मे है।

भक्ति-योग

गीता ने भक्ति को भगवत्प्राप्ति के साधनों में विशेष महत्त्व दिया है।

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार गीता के मध्यषष्ट अर्थात् बीचवाले छः अध्यायों—७ अ० से लेकर १२ अ० तक—मे भक्ति का ही साधन रूप में वर्णन किया जाता है। विराट रूप के दर्शन की प्राप्ति किन साधनों से होती है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने स्पष्ट ही कहा है कि ऐसा रूप देखा जा सकता है न तो वेदों के द्वारा न तपस्या के द्वारा, न दान से और न यज्ञ करने से (११।५३)। इसका सर्वाधिक श्रेष्ठ एक ही उपाय है **अनन्या भक्ति**—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

—गीता ११।५४

'अनन्या' का तात्पर्य है वह भक्ति जो भगवान् को छोडकर किसी दूसरे के प्रति नही की जाती। इस अनन्या भक्ति के द्वारा विराट रूपी भगवान का ज्ञान, तत्त्वतोदर्शन तथा प्रवेश हो सकता है। इस श्लोक मे वर्णित फलों मे क्रम विकास बडे महत्त्व का है—ज्ञान,दर्शन तथा प्रवेश। ज्ञान होने के दशा में साधक ज्ञेय वस्तु को जान तो जरूर लेता है, परन्तु वह उससे बाहर ही रहता है। ज्ञान किसी वस्तु के परोक्ष ज्ञान का सूचक है। इसके आगे होता है—दर्शन। दर्शन के समय ज्ञाता ज्ञेय के सामने खडा होता है अर्थात् वह आमने-सामने खडा होकर ज्ञेय के रूप को यथार्थ रूप मे जान जाता है कि ज्ञेय का स्वरूप कैसा है। इससे आगे की साधन-दशा है प्रवेश की। इस कोटि में साधक इष्ट के भीतर प्रवेश कर उसके साथ एकरूपता धारण कर लेता है। ये तीनों साधना के क्रम है, जिनमें से साधना-प्रवृत्त होकर अपनी चरम कृतार्थता प्राप्त करती है। ऊपर के श्लोक का विशद तात्पर्य यही है कि भगवान के ज्ञान में, दर्शन मे तथा प्रवेश में अनन्या भक्ति ही एकमात्र साधन है। 'अनन्या भक्ति'का स्वरूप भी गीता इस श्लोक में बतलाती है—

मत्कर्मकृन्मत्परमोमद् भक्तः संगवर्जितः
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

—गीता११।५५

इसमें भक्ति की अनन्यता के लिए पांच लक्षणों का निर्देश किया गया है—

(१) मत् कर्मकृत् (मेरे लिए कर्मो का करनेवाला)—यज्ञ, तप, दान आदि कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान ऐसी भावना से करना चाहिए कि ये सब कर्म भगवान के है।

(२) मत्परमः (मेरा ही आश्रय माननेवाला)—भगवान् ही चरम गति है; वे ही आश्रय है, साधक के जीवन का सचालन उन्हीके कोमल हाथों मे है—ऐसा माननेवाला तथा उनकी प्राप्ति के लिए सन्तत उद्यमी व्यक्ति 'मत्परमः' कहलाता है।

३. मद्भक्तः (मेरी भक्ति करनेवाला)—मानव के हृदय मे जितना अनुराग है, जितनी रागात्मिका वृत्ति है, उतनी भगवान मे ही लगाना चाहिए।

४. सगवर्जितः (आसक्ति से रहित)—विषयों में आसक्ति रखनेवाला प्राणी सर्वदा बहिर्मुख बना रहता है। वह बाहरी चीजों में ही अपना मन लगाता है। जगत् का प्रपच ही उसके मन को अपनी ओर खीचे रहता है, परन्तु संगवर्जित व्यक्ति भगवान की ओर अन्तर्मुख होता है।

५. निर्वैरः सर्वभूतेषु (सब प्राणियों में वैर-विरोध से रहित)—वैर प्रेम का विरोधी भाव है। वैर करने वाला क्या प्रेम कर सकता है? प्रेम के लिए हृदय का औदार्य चाहिए; चित्र की कोमलता चाहिए; मन का मार्दन चाहिए। ऐसी वृत्ति धारण करने पर ही प्रेम में गाढता तथा विशुद्धता आती है। इसलिए सब प्राणियों से वैर—रहित होना भी एक आवश्यक सद्गुण है।

इन्ही गुणो को धारण करने पर साधक भगवान में 'अनन्या भक्ति' पा सकता है और उस परम दुर्लभ भक्ति का अमृत फल भगवान की सम्यक् उपलब्धि ही है।

शरणागति

गीता में भक्ति-योग का उपदेश निजी विशिष्टता रखता है। इसका एक कारण है। गीता भक्ति-प्रधान ग्रन्थ है तथा वैष्णवधर्म के माननीय आगम ग्रन्थों मे अन्यतम है। गीता का आदि तथा अन्त, प्रारम्भ और पर्यवसान भक्ति में ही है। आरम्भ मे अर्जुन अपनी दयनीय मानस

स्थिति का वर्णन करते हुए जो प्रार्थना करता है ,उसमें भक्ति की ओर स्पष्ट सकेत है—शिष्यस्तेऽह शाधि मा त्वा प्रपन्नम् (२।७)—मै तुम्हारा शिष्य हू । मै तुम्हारी शरण मे आया हूं और इसलिए मुझे उपदेश दीजिये कि मै क्या करू ? गीता के अन्त मे भगवान ने शरणागति का उपदेश दिया है । इस प्रकार शरणागति के ऊपर गीता का विशेष आग्रह दीख पडता है । गीता का उपदेश है कि ईश्वर सब प्राणियो के हृदय मे स्थित रहता है । वह अपनी माया-शक्ति से यन्त्रारूढ प्राणियो को सदा घुमाया करता है अर्थात् यह जीव भगवान के हाथ की कठपुतली है । उसकी इच्छा जिधर होती है उधर ही वह उसे घुमाया करता है । ऐसी दशा मे सब भाव से उसकी शरण में जीव को जाना चाहिए । तभी उसे परम शान्ति और शाश्वत पदवी प्राप्त होती है (१८।६१, ६२) । भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सब उपदेश देने के बाद 'सर्वगुह्यतम वचन' अर्थात् अत्यन्त रहस्यमय वचन की शिक्षा दी है, जो सन्दर्भ पर विचार करने से गीता का मार्मिक उपदेश प्रतीत होता है । इसी उपदेश से गीता का पर्यवसान होता है ।

यह 'गुह्यतम वचः' क्या है ? शरणागति की शिक्षा—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

—गीता १८।६६

भगवान का कथन है, हे जीव, सब धर्मो को छोडकर केवल मेरे ही शरण मे आ । मै तुझे सब पापों से छुटकारा दे दूगा । शोक मत कर । इस शिक्षा में भगवान की शरणागति का परम तत्त्व उपदिष्ट है । 'शरणागति' शब्द दो शब्दो से बना हुआ है—शरण—आगति (शरण में आना, जाना नही) साधक को अपने हृदय में टाक लेना चाहिए कि भगवान की शरणागति शरण मे आना है, जाना नही । इसका गम्भीर तात्पर्य है । भगवान् साधकों के लिए सब कुछ है—माता, पिता, सुहृद, गति भर्ता आदि-आदि (गीता ९।१७, १८) । यह जीव मूल रूप से भगवान के आश्रय मे था, सन्निधि में था, उनका सनातन अंश था, परन्तु अज्ञान के वश होकर वह संसार के पचड़े मे पड़ा हुआ नाना क्लेश भोग रहा है । भगवान से विमुक्त होने का

यही दण्ड है। फलतः इसे फिर उसी मूल स्थान को लौट जाना चाहिए। तभी इसका कल्याण है। इसी भाव को सूचित करने के लिए 'शरणागति' शब्द में गति से पूर्व 'आ' उपसर्ग लगाया गया है, भगवान की शरणागति में जाना क्या है, अपने असली घर को लौट आना है।

एक बात ध्यान देने की है कि गीता की भक्ति अविवेकपूर्वक की गई अन्धभक्ति नहीं है और न वह अज्ञान-प्रेरित आलस्यमय कर्मत्यागरूप जडता है। गीता की भक्ति क्रियात्मक और विवेकपूर्ण है। सच्चा भक्त वही होता है, जो बिना किसी कामना के भगवान् के प्रसन्नार्थ कर्म करता है और साथ-ही-साथ वह ज्ञानी होता है—विवेक-ज्ञान से पूर्ण होता है। गीता के अनुसार चार प्रकार के भक्तों—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी—में ज्ञान सम्पन्न भक्त भगवान की आत्मा है (**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्** ७।१८)। इस प्रकार गीता का भक्त निष्काम कर्म तथा ज्ञान से युक्त होता है। केवल भक्ति का वह उपासक नहीं होता।

शरणागति का विवेचन 'अनन्यत्व' की व्याख्या के बिना अधूरा रहेगा, अतः 'अनन्यत्व' का स्वरूप यहां समझना आवश्यक है। श्रुति कहती है—**आनन्दं ब्रह्म**—आनन्द ही ब्रह्म का स्वरूप है। परन्तु आनन्द स्वयं आनन्द का उपभोग नहीं कर सकता। आनन्द को आनन्द की प्रतीति नहीं हो सकती। इसलिए वह आनन्द अपनी प्रतीति के लिए प्रेम-स्वरूप में व्यक्त होता है। इसी व्यक्त रूप का नाम 'जीव' है। प्रेम जब जगत् के आकार का होता है, तब 'जीव' कहलाता है और वही जब मूल आनन्द का स्मरण करने लगता है तब 'परमात्ममय' हो जाता है। जिस प्रकार माता मातृत्व के सुख की इच्छा से स्वयं द्विधाभूत होकर पुत्र के रूप में उत्पन्न होती है और पुत्र के माता कहकर पुकारने से उसे मातृत्व की प्राप्ति होती है; उसी प्रकार आनन्दघन परमात्मा अपने आनन्द की प्रतीति के लिए अपनी स्फूर्ति से द्विधा हो जाते हैं। इस प्रकार द्वैत होने के बाद प्रतीति की क्रिया चालू रहती है। इस प्रतीति की क्रिया में जो घन आनन्द स्फुरित होता है, उसे 'ज्ञानानन्द' या 'चैतन्यानन्द' कहते हैं। यही ज्ञानानन्द व्यक्त होते समय परा वाणी का रूप होकर मन की अवस्था को प्राप्त करता है। यह मन जीव का विकार नहीं है, प्रत्युत ज्ञाना-

नन्द की अभिव्यक्ति का साधन है। इसलिए बृहदारण्यक श्रुति कहती है—**स आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म** (अर्थात् आनन्दरूप मन ही सम्राट् परब्रह्म है)। पुनः वही ज्ञानानन्द चित्त, बुद्धि, अहकार बनकर ज्ञानेन्द्रियों के रूप में प्रकट होता है। मैं (जीव) और तू (परमात्मा) कहने मात्र को दो है, परन्तु वास्तव में एक ही परमात्मा है। सूर्य और उसका प्रकाश, चीनी और उसकी मिठास, समुद्र तथा उसके तरग, सुवर्ण और उसके बने हुए गहने – ये सब कहने को भिन्न होने पर भी वास्तव मे एक ही है। उसी प्रकार आनन्द और प्रेम, परमात्मा और जीव कहने के लिए भिन्न होने पर भी अनुभव की स्थिति मे एक परमात्मा ही है। जीव परमेश्वर से भिन्न या पृथक् न होकर उसके साथ एकत्वापन्न है; यही ज्ञान अनन्यत्व का ज्ञान है। शरणागति के लिए इस ज्ञान की आवश्यकता होती है।

'सर्व-धर्म के परित्याग' का क्या रहस्य है। समस्त इन्द्रियो के धर्म, मन बुद्धि आदि के धर्म, व्यावहारिक धर्म, आचर धर्म आदि अनेक धर्म ससार में दिखलाई पडते है। इसीसे पाप-पुण्य का, स्वर्ग-नरक का भय जीव को होता रहता है। इस धर्माधर्म का मूल कारण अज्ञान ही है। **वासुदेवः सर्वमिति** की प्रतीति जबतक नही होती, तभी तक ये धर्माधर्म सत्य प्रतीत होते है और उनसे भय, शोक, हर्ष आदि का होना स्वाभाविक है। रस्सी मे सर्प की भ्रान्ति हट जाने पर मनुष्य भय से आक्रान्त नही होता, उसी प्रकार अज्ञान से धर्माधर्म की भावना उत्पन्न होती है और उस अज्ञान का त्याग कर देने पर धर्माधर्म बाधक नही होते। जिस प्रकार निद्रा के टूटने पर सारा स्वप्न-जगत् विलीन होकर 'केवलोऽहम्' (केवल मै ही हू) यह ज्ञान उत्पन्न होता है, इसी प्रकार अनन्यत्व भावना के जागरित होने पर आनन्दघन श्रीहरि विश्व-रूप में प्रकट होते है। तब यह अनुभव होने लगता है कि अपने भीतर जो 'मै' पन है वह भी आनन्दघन प्रभु की ही प्रेम-प्रतीति है। इस अनन्यत्व का ज्ञान हो जाने पर शरणागति आपसे-आप सिद्ध हो जाती है। सच तो यह है कि जीव श्रीहरि से कभी पृथक् हुआ ही नहीं; अतः स्वकर्तव्य द्वारा प्रभु-पद मे सलग्न होना शरणागति नहीं है। जीव त्रिकाल में भी प्रभु से अलग नहीं हो सकता और जब प्रभु जीव से अलग नही है, तब उनसे मिलना कैसा ? श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने शरणागति के

रहस्य को समझाते हुए कहा है—

पैं आपुलेनि भेदे बिण । माझे जाणि जे जे एक पण ।
तयाचि नांव शरण । भज येणेगा ॥

अर्थात्—अपनेको भिन्न न समझते हुए, श्रीहरि के साथ अपने एकत्व का बोध रखना और वैसा ही बर्ताव करना वास्तव में श्रीहरि का शरण में आना है।

सोने का ककण क्या सोने से कभी पृथक् है ? जल की तरंग क्या जल से कभी अलग हुई है ? नही, कभी नही। तो फिर उनके लिए सोने तथा जल के शरण मे जाना क्या है ? सोने और जल से ककण और तरंग के समान हम परमात्मा से भिन्न नही है, हम उनसे अन्य नही है, यह जानते हुए वैसा ही बर्ताव करना सच्ची शरणागति है। इस प्रकार सर्वतो भावेन परमात्मा की शरण हो जाने पर जीव-दशा नही रहती। जीव की पृथक् सत्ता न होने से प्रभु ही केवल मात्र बच रहते है। श्रीहरि के ही अस्तित्व का बोध और उनकी प्रीति ही शरणागत भक्त की भक्ति-भूमिका रह जाती है। निष्कर्ष यह है कि सब अवस्थाओं में प्रभु पूर्ण है तथा सब कर्मों में परमात्मा ही व्यक्त हो रहे है। इस प्रकार की निश्चित भावना का होना ही सच्ची शरणागति है। इस प्रकार शरणागति अनन्यत्व की भावना के ऊपर आश्रित है।

गीता मे सांख्ययोग और कर्मयोग नामक दो ही निष्ठाओं का वर्णन है। भक्ति की तीसरी निष्ठा का क्या स्थान है, गीता की साधना योजना मे ? इसका उत्तर स्पष्टत. दिया जा सकता है। 'निष्ठा' का अर्थ है परमात्मा के स्वरूप मे स्थिति। यह स्थिति दो प्रकार से हो सकती है—भेद-स्थिति और अभेद-स्थिति। क वह स्थिति जो परमेश्वर के स्वरूप में भेद, रूप से होती है यानी परमेश्वर अंशी है और मै उनका अंश हूं, परमेश्वर सेव्य है और मै उनका सेवक हूं। भेद-स्थिति कहलती है। भगवान की प्रीति की फलासक्ति छोड़कर जो कर्म किये जाते हैं, उनका नाम है निष्काम कर्मयोग निष्ठा। ख ब्रह्म में स्थित रहकर प्रकृति द्वारा होनेवाले समग्रकर्मों को प्रकृति का विस्तार और मात्रामात्र मानकर सच्चिदा नन्दघन के अतिरिक्त कोई भी वस्तु नही है, ऐसा मानकर ब्रह्म में जो अभेद स्थिति होती है, उसे

साम्यनिष्ठा कहते है। भक्ति का पुट दोनो निष्ठाओं में भरा हुआ है। इसलिए भक्तिनिष्ठा को तृतीय निष्ठा के रूप में गीता प्रस्तुत नही करती। ईश्वर का सहारा और बल होने से भक्ति मार्ग सुगम है। इसलिए हम लोगों को चाहिए कि भगवद्भक्ति मे सतत आसक्त होकर लक्ष्य की ओर अग्रसर हो।

अवतारवाद

भगवद्गीता अवतारवाद का समर्थक नितान्त प्रौढ ग्रन्थ है। भगवान् इस भूतल पर कभी-कभी किसी विशेष प्रयोजन के लिए अवतार ग्रहण करते है। इस प्रयोजन का उल्लेख गीता के इस प्रख्यात श्लोक में इस प्रकार है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

—गीता ४।७,८

भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं अवतार के तत्त्व को इन श्लोकों मे प्रतिपादित किया है। अवतार लेने का समय तब होता है जब धर्म का ह्रास और अधर्म की बढोत्तरी होती है। प्रयोजन है—साधुओ का परित्राण, दुर्जनों का विनाश और धर्म की सम्यक् स्थापना। तथ्य यह है कि इस विश्व में दो शक्तियां अपना प्रभुत्व जमाने के लिए हमेशा संघर्ष किया करती है। एक है आसुरी शक्ति और दूसरी है दैवी शक्ति। आसुरी शक्ति तमोगुण की प्रतीक है, तो दैवी शक्ति सत्त्वगुण की प्रतिनिधि है। इन दोनों शक्तियों के अनुसार जीवन यापन करनेवाले व्यक्तियों का विस्तृत वर्णन गीता के १६वें अध्याय में किया गया है। विश्व मे क्षण-क्षण पर देवासुर-संग्राम चला करता है। दैवी शक्ति के प्राबल्य तथा आसुरी शक्ति के ह्रास के ऊपर जगत् का सतुलन प्रतिष्ठित है, परन्तु जब आसुरी शक्ति प्रबल बनकर दैवी शक्ति का गला दबोचती है, जिससे सार्वभौम सतुलन मे विषमता उत्पन्न होती है, तब भगवान् स्वय अवतार ग्रहण कर इस विषमता को दूर करते हैं, धर्म की सम्यक् रूप से स्थापना करते है, जिससे साधुओ की रक्षा होती है और पापियो का नाश होता है। यही गीता के अनुसार अवतार का अवसर

और प्रयोजन है। भगवान् 'ऋतपति' है। ऋत की रक्षा करना उनका निजी काम है। ऋग्वेद में बहुश: वर्णित 'इन्द्रवृत्र' युद्ध का भी यही रहस्य है।

गीता का सुलभ साधन

भगवान् के पाने का सुलभ साधन कौन-सा है ? विचार करने पर भगवान् की शरण मे जाने से बढकर अन्य कोई साधन है ही नही। जो सब शक्तियो का आधार है, जो अघटना को भी घटित कर सकता है, उस परमात्मा की शरण में जाने से दुर्बल आत्मा मे अमित बल का सचार हो जाता है। उस मार्ग को पकडने पर अनायास ही हम लोग भगवान् के पास पहुच सकते है। गीता का भी तात्पर्य इसी शरणागति मे प्रतीत होता है। गीता के नवे अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को वह विद्या बतलाई है, जो सब विद्याओं का राजा है और सब गुह्य बातों मे भी गुह्य है। वह है भगवान् को अनन्य भाव से भजना। 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' में अनन्यपद महत्त्व का है। जिसके लिए कोई आधार-आश्रय न हो उनके ऊपर भगवान की दया होती है। जबतक हम जगत् की वस्तुओं का अवलम्बन कर बैठे हुए है तबतक भगवान् की दया हो तो कैसे हो ? जब हृदय सबसे विमुख होकर केवल भगवान् ही पर अवलम्बित है, जब जीव कहता है कि हे भगवान्, मुझे किसीका सहारा नही, कोई देखभाल करनेवाला नही, अन्धकारमयी रजनी में कही से भी प्रकाश की झलक नही आ रही है, आगे का रास्ता सूझता नही, क्या करू ? कहां जाऊ ? तब भगवान् का आसन डिगने लगता है। भक्त की आर्त पुकार भगवान् के आसन को हिला देती है। परन्तु भक्त 'नित्ययुक्त' होना चाहिए। भगवान् में भक्त की निष्ठा होनी चाहिए। इसी प्रकार अठारहवें अध्याय मे भी इसी बात को भगवान् ने गुह्यतम बतलाया है। १८।६४ मे गुह्यतम ज्ञान के बतलाने की प्रतिज्ञा है और वह ज्ञान दो पद्यों मे है—'मन्मनाभव तथा सर्वधर्मान् परित्यज्य।' इसलिए गीता का तात्पर्य यही शरणागतवाली भक्ति है, पर उस भक्त को ज्ञानसम्पन्न होना चाहिए **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।'** पर लोकसग्रह के लिए सब कर्मो को करते रहना होगा। अत: गीता के अनुसार भक्ति को प्रधानता दी गई है।

ज्ञान और कर्म का समन्वय भक्ति मे है। भक्त ही यथार्थ में ज्ञानी और कर्मयोगी हो सकता है। मेरे विचार से गीता में प्रधान लक्ष्य इसी समन्वय की ओर है, जिसमे भक्ति की प्रधानता बनी रहती है। शुष्क ज्ञान को लेकर हम क्या करेंगे और इसी प्रकार केवल भक्ति से भी हमारा काम नहीं चलेगा। देखने में ये भिन्न-भिन्न दो मार्ग प्रतीत होते है, परन्तु वस्तुतः इनमे भेद नही है।

गीता के तात्पर्य के ऊपर जितना विचार किया जाता है, उतना ही अनन्य भक्ति के द्वारा भगवान् के भजन का ही तात्पर्य निकलता है। भगवान् ने अपने श्रीमुख से यही कहा है कि शास्त्र का ज्ञान,प्रत्यक्षरूप से दर्शन (ग्यारहवा अध्याय), तथा तन्मयता से भगवान् के साथ एकीकरण—इन नों बातो की प्राप्ति **अनन्य भक्ति** के द्वारा होती है। (११।५४)। इससे र स्पष्ट उक्ति और क्या हो सकती है। भगवान् का सदा स्मरण करते ने काम में लगे रहना चाहिए, परन्तु सदा अनन्यभाव से। भगवान् कर अन्य हमारी गति नही है। वही हमारा आधार है। वही, अथर्व- अनुसार, 'स्कम्भ' है। उसीमे यह हमारा जीवन है। नाशवान् मे वह स्वय अनश्वर होकर विद्यमान रहनेवाला है। ऐसे भगवान् र अपना सर्वस्व अर्पण कर देना चाहिए। जो हम करते है, वह उसका ाकि वह उसीकी अध्यक्षता में निष्पन्न हुआ है। इस भाव की अहै- क्ति ही वास्तव में सच्चा अनुराग है। प्रियतम को सर्वस्व मानकर . अनुराग नहीं किया जाता, वह भला सच्चा अनुराग क्योंकर माना जा सकता है। अतः अनुराग को 'अनन्य' होना ही पड़ेगा। यदि भगवान् से मागने की प्रवृत्ति बनी रही तो भी वह सच्चा नही हो सकता। जब पक्का प्रेम हुआ, तब मांगना क्या ? जो अपने हृदय में निवास करता है, जो हृदय की बातों से सर्वथा परिचित है, उससे कुछ कहना या मागना उसकी सर्व- ज्ञता का अनादर करना है और अपनी तुच्छता को प्रकट करना है। अत भगवान् से मांगने की प्रवृत्ति बड़ी बुरी है। यह तो लेन-देन का व्यापार बनियापन हुआ। बनिक-वृत्ति में साधुता के संसार की प्रिय वस्तुओं से अपने चित्त को समेट भगवान् के चरण में लगा देना ही मनुष्य का काम है। यही अनन्य भजन हुआ। पर बिना सात्त्विकी श्रद्धा तथा दैवी सम्पत्ति के पाये

यह हो नही सकता। अत. भगवद्भक्ति के लिए अभय, सत्त्वशुद्धि आदि सद्गुणो का उपार्जन करना नितान्त आवश्यक है। यह भी सात्त्विकी श्रद्धा से ही उत्पन्न हो सकते है, अत. दैवी सम्पत्ति को पाकर कर्मयोग तथा ज्ञान मे लगकर अनन्य भक्ति करना ही गीता का तात्पर्य प्रतीत होता है।

ज्ञान और भक्ति मे कुछ लोग अन्तर बतलाते है और एक को दूसरे का प्रतिबन्धक समझते है। पर बात ठीक इसके विपरीत है। जबतक ज्ञान नही तबतक भक्ति सच्ची नही होती। जिस व्यक्ति के रूप को अवलोकन का अवसर ही नही मिला है, भला उससे हम प्रेम क्यों कर सकते है। अनुराग करने के लिए यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति को हम सब प्रकार से जाने, उससे परिचित हो जाय, उसके भीतरी तथा बाहरी तत्त्वो से हम अवगत हो जाय। अतः ज्ञान होने पर ही सच्चे अनुराग का उदय होता है। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध भी कितना सुन्दर है। बिना भक्ति के ज्ञान नीरस है और बिना ज्ञान के भक्ति अंधी है। अत इनकी जुगल जोडी ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। ज्ञानी भक्त को पहला दर्जा देकर इस बात की पुष्टि की गई है। ज्ञान से सम्पन्न भक्त ही तो सच्चा भक्त हो सकता है। भक्त ज्ञान की उपेक्षा नही कर सकता और न ज्ञानी को भक्ति की उपेक्षा करनी चाहिए।

आदर्श मानव

गीता के अनुसार जीवन का आदर्श क्या है? आदर्श मानव कैसा होता है? वह जो घरबार छोडकर जगल मे भागकर आरण्य की शरण लेता है अथवा वह जो इस ससार मे विषम स्थितियो के ऊपर अपना प्रभुत्व जमाकर जीवन को आगे बढाता है? इस विषय मे भिन्न-भिन्न मत है। परन्तु तथ्य तो यह है कि गीता व्यवहार-शास्त्र है, जो अध्यात्म-ज्ञान की दृढ भूमि पर अवस्थित है। इसीलिए गीता की पुष्पिका मे **'ब्रह्म विद्यायां योगशास्त्रे'** ये दो महत्त्व के शब्द मिलते है। यह योगशास्त्र है -कर्तव्य-शास्त्र है, जो अपने खड़े होने के लिए ब्रह्मविद्या के दृढ आधार पर आश्रित है। गीता का साराश कही श्लोक मे, कही श्लोक के अर्धभाग में और कही श्लोक के चतुर्थ भाग में ही उद्घोषित किया गया है। इस श्लोक मे गीता

का तात्पर्य निविष्ट है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिद ततम्
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः ॥

—गीता १८।४६

अर्थात्—जिससे प्राणियो की प्रवृत्ति हुई कि वे अपने विशिष्ट कर्मो मे लगे तथा जिससे यह समस्त विश्व रचित है, उस भगवान को अपने कर्म से पूजा कर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। इस श्लोक के अनुसार सिद्धि लाभ का एक ही मार्ग है भगवान् की अर्चना और वह सिद्ध होती है 'स्वकर्म' की उपासना से। फलतः मानव को चाहिए कि वह अपने वर्णाश्रम के द्वारा नियत कर्मो का सम्पादन करे, उनके फलो को भगवान् के चरणो मे अर्पित करे और इस प्रकार उसे अपने जीवन में सिद्धि अवश्यमेव प्राप्त होती है। इस प्रकार स्वकर्म से भगवद्चर्चा और भगवद्चर्चा से सिद्धि-लाभ यह साधना का व्यावहारिक पक्ष गीता को अभीष्ट है। '**मामनुस्मर युध्य च**' (मुझे सन्तत स्मरण करते हुए युद्ध करो, जीवन सग्राम मे अपनी विरुद्ध शक्तियो से)—इसका भी आशय यही है। इस प्रकार गीता ससार से भागने का उपदेश नही देती, प्रत्युत ससार मे डटकर खडा होने, अपनी विषम परिस्थितियों से जूझने तथा अन्त मे विजय पाने की उदात्तशिक्षा गीता हमे सर्वदा देती है। इसलिए गीता का आकर्षण सार्वभौम है तथा सार्वकालिक है—सब समयों के लिए, सब परिस्थितियों के लिए, सब मानवों के लिए इसका उपदेश समान रूप से उपयोगी है।

गीता ने आदर्श मानव का वर्णन तीन स्थलो पर किया है—स्थितप्रज्ञ (द्वितीय अध्याय ५५-७२), भक्त (१२।१३-१९) तथा गुणातीत (१४।२१-२७)। ये तीनो वर्णन एक समान है—इनमे समरसता है। यही गीताभिमत जीवन्मुक्त का भी लक्षण है। आदर्श मानव सब प्राणियों से मित्रता करनेवाला, अद्वेष्टा, करुण, ममता तथा अहकार से हीन, दुःख और सुख को समान माननेवाला तथा क्षमाशील होता है। वह न हर्ष के वश में जाता है और न द्वेष के, न शोक करता है और न आकाक्षा रखता है। वह शुभ तथा अशुभ कर्मो के फल का त्याग करनेवाला होता है। 'स्थितप्रज्ञ' का मान्य लक्षण यह है—

दुःखेष्वनुद्विग्न मनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभय क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

—गीता २।५६

अर्थात्—वह दुःखो मे कभी उद्विग्न नही होता। सुखों मे स्पृहा नही रखता। राग, भय तथा क्रोध मे विरहित होता है। यही मननशील व्यक्ति 'स्थितधी', 'स्थितप्रज्ञ' 'स्थिरधी' आदि नाना नामो से अभिहित किया जाता है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

—गीता १२।१३

गीता की दृष्टि मे ऐसा ही मानव जगत् का उपकार करनेवाला तथा स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय कर जीवन की लक्ष्य सिद्धि करनेवाला होता है।

खण्ड २

वेदबाह्य दर्शन

१. चार्वाक-दर्शन
२. जैन-दर्शन
३. बौद्ध-दर्शन

: १ :

चार्वाक-दर्शन

उपनिषदों के प्रादुर्भाव के अनन्तर तथा महाभारत के पूर्व भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान के इतिहास में एक विचित्र युग आरम्भ होता है, जिसमें आध्यात्मिक विचारों के प्रति जनसाधारण में अविश्वास का उदय होता है। चार्वाक-दर्शन का प्रादुर्भाव इसी युग से सम्बन्ध रखता है।

चार्वाक प्राचीन भारत का भौतिकवादी तत्त्वज्ञानी है। उसकी दृष्टि में भूत ही मौलिक तत्त्व है। आखों से जितना दिखलाई पड़ता है, उतना ही संसार है। सत्यता की कसौटी इन्द्रियगोचरता है अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा जिन बातों का अनुभव हमें होता है, वे ही वस्तुएं सत्य है। उनसे अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं। आत्मा के विषय में भी इनकी दृष्टि अत्यन्त स्थूल है। आत्मा का ज्ञान होने पर ही दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति होती है, परंतु आत्मा है क्या? इस विषय की खोज इन लोगों ने अपनी दृष्टि से की है। ये शरीर को ही आत्मा मानते हैं। दर्शन के विकास में यह अत्यन्त स्थूलतम दृष्टि है। जीवन के विकास में एक निम्नतर स्तर ऐसा होता है कि बुद्धि स्थूल विषय को ही ग्रहण करने में समर्थ होती है और उस बुद्धि से ही 'आत्मा' की खोज कर ये लोग सुख की प्राप्ति के लिए चिन्तित होते हैं। दर्शन के विकास का यह निम्नतम स्तर है, जहां से भारतीय दर्शन आरम्भ होकर अद्वैत वेदान्त के उच्चतम शिखर पर धीरे-धीरे चढ़ता जाता है। 'चार्वाक दर्शन' इसी दशा का परिचायक है।

'चार्वाक' शब्द का अर्थ

इस दर्शन का नाम 'चार्वाक' है। इस नाम की व्याख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से की है। इस मत के 'चार्वी' नामक आचार्य

का उल्लेख काशिकावृत्ति मे किया गया है—**नयते चार्वी लोकायते**—अर्थात् लोकायत शास्त्र मे चार्वी नामक आचार्य पदार्थो की व्याख्या करता है। 'चार्वाक' नामक किसी प्राचीन ऋषि ने, जो आचार्य बृहस्पति के शिष्य थे, इस दर्शन के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया था। 'चारु वाक्' (मिठ-बोला) से भी 'चार्वाक' शब्द की निष्पत्ति कुछ लोग मानते है। इस मत वालो का उपदेश था—खाओ पीओ और मौज उड़ाओ। इन मीठे वचनो के कारण भी 'चार्वाक' नाम पडना कुछ आश्चर्यजनक नही है।

लोकायत

इस मत का नाम 'लोकायत' भी था और इस नाम से ही यह दर्शन वाल्मीकीय रामायण मे (अयोध्या-काण्ड, अध्याय १०२) निर्दिष्ट किया गया है। 'लोकायत' के ज्ञाता लोग 'लोकायतिक' कह गये है, जो अपनेको बडा ही पण्डित समझते है, परन्तु जो बाल-बुद्धि होते है और अनर्थ करने मे ही दक्ष होते है। ये धर्मशास्त्र का निरादर कर अपनी तार्किक बुद्धि से निरर्थक बाते कहते है।

कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डित मानिनः॥
धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते॥

—अयोध्या-काण्ड, १०२।३८-३९

'लोकायत' का अर्थ है—लोक मे आयत या व्याप्त सिद्धान्त अर्थात् वह सिद्धान्त जो लोक मे अत्यन्त प्रसिद्ध है, परन्तु तार्किक विचार से रहित है, वह 'लोकायत है। इसके आद्य प्रवर्तक 'बृहस्पति' नामक कोई आचार्य थे और उनके नाम पर यह दर्शन 'बार्हस्पत्य दर्शन' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इन सब अभिधानों मे 'चार्वाक' नाम ही इसका अत्यन्त प्रख्यात है।

चार्वाक ग्रन्थ

चार्वाक-मत की जानकारी के लिए अनेक दर्शन के ग्रन्थो मे सामग्री उपलब्ध होती है। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन दार्शनिको ने अपने सिद्धान्तों के

निर्णय करने से पूर्व चर्वाक मत का निर्देश कर खण्डन किया है। इन्हीं उल्लेखों के आधार पर इस मत का स्वरूप तथा सिद्धान्त खड़ा किया जा सकता है। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य (३।३।५३-५४ सूत्रों पर) कमलशील कृत 'तत्त्वसंग्रह-पंजिका,' 'विवरण-प्रमेय संग्रह,' 'न्यायमंजरी,' 'सर्वसिद्धान्त संग्रह,' 'सर्वदर्शन संग्रह' (प्रथम परिच्छेद), 'नैषधीय चरित' (१७वां सर्ग) आदि ग्रन्थों के अध्ययन से चार्वाकों के सिद्धान्त निःसन्देह जाने जाते हैं। इन वर्णनों में एक ही त्रुटि है कि ये ग्रन्थ चार्वाक-सिद्धान्त का प्रतिपादन पूर्वपक्ष की दृष्टि से करते हैं। सम्भवतः भट्ट जयराशि विरचित 'तत्त्वोपप्लवसिंह' ही प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें इस मत का सैद्धान्तिक विवेचन उत्तर पक्ष के रूप में किया गया है। इस नास्तिक मत के संस्थापक 'बृहस्पति' के द्वारा रचित कतिपय सूत्र भी पूर्वोक्त ग्रन्थों में तथा अन्यत्र भी उद्धृत किये गए हैं। ये सूत्र संख्या में बीस से अधिक नहीं हैं, परन्तु इनमें चार्वाकों के मूल सिद्धान्त संक्षेप में बड़ी सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किये गए हैं। ये सूत्र 'बार्हस्पत्य सूत्र' के नाम से प्रख्यात हैं। इन सूत्रों के अनुशीलन से भी इस दर्शन के सिद्धान्तों की रूपरेखा सहज में खड़ी की जा सकती है। यहां इन सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है, जिससे पाठक चार्वाक-दर्शन के तथ्यों को उनके मान्य आचार्य के मूल शब्दों में ही सरलता से समझ जायं।

तत्त्व-मीमांसा

अथातः तत्त्वं व्याख्यास्यामः।

अब इसलिए तत्त्वों की व्याख्या हम करेंगे।

व्याख्या—'बार्हस्पत्य' सूत्रों में यह पहला सूत्र है, जिसमें तत्त्वों की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की गई है। 'अतः' पद प्रयोजन का सूचक है अर्थात् दुःखों से छुटकारा पाने के लिए तत्त्वों की जानकारी आवश्यक होती है। इसी अभिप्राय से तत्त्वों का व्याख्यान यहां किया जा रहा है।

पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि।

तत्त्व संख्या में चार ही होते हैं—(क) पृथ्वी, (ख) जल, (ग) तेज तथा (घ) वायु।

व्याख्या—इन चार तत्त्वों का उपादान ग्रहण कर यह जगत्, हमारा

शरीर, समस्त भौतिक पदार्थों का निर्माण किया गया है। बौद्धों के समान चार्वाक भी 'आकाश' को पदार्थ नहीं मानता। आवरणाभाव मात्र होने से आकाश शून्य ही है, ये ही चारों पदार्थ अपनी आणविक अवस्था में जगत् के मूल कारण है। प्रश्न यह है कि यह सृष्टि होती कैसे है? चार्वाक न तो ईश्वर को मानता है, जो जगत् के निर्माण का कार्य करता है (न्याय मत में), और न वह 'अदृष्ट' ही मानता है, जिसके कारण परमाणुओं में कम्पन तथा परस्पर-मिलन की क्रिया सम्पन्न होती है (वैशेषिक मत में)। उसकी मान्यता यह है कि इन परमाणुओं में अकस्मात् सम्मिलित होने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है, जिससे वे आपस में मिलकर इस विराट विश्व के निर्माण में सफल होते है। ये परमाणु क्यों मिलते है? कैसे मिलते है? इन प्रश्नों का उत्तर एक दुरूह पहेली है, जिसे कोई भी नहीं जानता।

आकाश को चार्वाक लोग 'भूतवैरल्य' के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। 'भूतवैरल्य' का अर्थ है भौतिक कणों की विरलता। कहने का तात्पर्य है कि जहां भौतिक कणों का घनीभाव होता है वहां आकाश की प्रतीति नहीं होती। आकाश के विषय में दो वस्तुएं प्रतीत होती है--एक भौतिक कणों का अभाव और दूसरा उनका वरल्य अर्थात् विरलता। पहला मत इसलिए ठीक नहीं है कि भौतिक कणों का अभाव मानना कथमपि युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता। फलतः कणों की विरलता मानना ही उचित प्रतीत होता है। चार्वाकों के भीतर एक सम्प्रदाय ऐसा ही बतलाया जाता है, जो अन्य दार्शनिकों के समान आकाश को भी एक विशिष्ट तत्त्व स्वीकार करता था। परन्तु इस मत पर विद्वानों को आस्था नहीं। इसलिए चार्वाक का अपना विशिष्ट मत यही है कि मूल जगत् के चार ही तत्त्व वर्तमान है। इसी प्रकार अन्य दार्शनिकों के द्वारा मान्यता दिये गए दिक्, काल, मन आदि पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता चार्वाकों को मान्य नहीं है। चार्वाकों का इस सिद्धान्त पर आग्रह विशेष रूप से जागरूक है।

तत्समुदाये शरीरेन्द्रिय विषय संज्ञा।

इन्हीं तत्त्वों के समुदाय में शरीर, इन्द्रिय और विषय ऐसा नामकरण किया जाता है।

व्याख्या--आशय यह है कि शरीर, इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय)

तथा विषय (इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जानेवाले रूप, रस, स्पर्श, गन्ध तथा शब्द)—इनकी उत्पत्ति भूतचतुष्टय के संयोग से होती है। इन भूतों के अणु एक दूसरे के साथ मिलकर इन वस्तुओं का निर्माण करते हैं। इनमें संयोजन या सम्मिश्रण की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है और इसीलिए इन उत्पन्न वस्तुओं के गुणों में अन्तर मिलता है।

तेभ्यश्चैतन्यम्।

इन्हींसे, पूर्वोक्त चारों पदार्थों से, चैतन्य उत्पन्न होता है।

व्याख्या—हमारे शरीर में पृथ्वी जल आदि पदार्थों के अतिरिक्त 'चैतन्य' भी विद्यमान है। हम चेतन हैं। वस्तुओं का हम अपनी इन्द्रियों से बोध इसी कारण कर सकते हैं कि हम चेतन हैं। यह समस्या चार्वाकों के सामने थी—'चैतन्य' का उदय क्योंकर होता है? पृथ्वी आदि चारों पदार्थों के अणु तो जड़ हैं, इन जड़ पदार्थों से चैतन्य का उदय शरीर में किस प्रकार होता है। इसके उत्तर में बृहस्पति का कथन है कि 'चैतन्य' कोई नवीन तथा स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, प्रत्युत इन्हीं चारों तत्त्वों के किसी विशेष मिश्रण से या संघटन से चैतन्य आप-से-आप उत्पन्न हो जाता है। इस विषय में चार्वाक अगले सूत्र के लौकिक दृष्टान्त प्रस्तुत करता है।

किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् विज्ञानम् (पाठान्तर—**चैतन्यम्**)

किण्व आदिकों के द्वारा मदशक्ति के समान विज्ञान या चैतन्य उत्पन्न होता है।

व्याख्या—'किण्व' किसी पौधे का बीज होता था, जिसका उपयोग प्राचीन काल में शराब बनाने के लिए किया जाता था। 'किण्व' के डालने से वस्तु शराब के रूप में बदल जाती थी। उसमें पागल बनाने की शक्ति, मतवाला बनाने की क्षमता आ जाती थी। मदशक्ति एक नई वस्तु होती है, जो स्वतः उत्पन्न हो जाती है। आदि पद से ताम्बूल का दृष्टान्त समझना चाहिए। चूना, खैर, सुपारी, पान-ताम्बूल के विश्लेषण करने पर ये ही तो चार वस्तुएं प्रकट होती हैं। पान के खाने से मुंह में लाली उत्पन्न हो जाती है। यह लाली आई कहां से? यह न तो सफेद चूने में, न धूसर रंगवाले खैर (कत्था) में, न सुपारी में और न हरे पान के पत्ते में। व्यवहार यही कहता है कि इन चारों वस्तुओं के विशिष्ट मिश्रण से ही लाली आप-से-आप

पैदा हो जाती है। इन चारो का मिश्रण एक विशिष्ट मात्रा मे होना, चाहिए लालिमा स्वत: उत्पन्न हो जायगी। चैतन्य के उदय की भी यही दशा है। पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु—इन चारो तत्त्वो को एक साथ एक विशिष्ट मात्रा मे सगठित करने पर शरीर मे चैतन्य का उदय स्वत , विना किसी परिश्रम के, हो जाता है। ताम्बूल का दृष्टान्त शकराचार्य ने अपने 'सर्व-सिद्धान्त-सग्रह' मे चार्वाक मत की व्याख्या मे दिया है—

जड़भूत विकारेषु चैतन्य यत्तु दृश्यते।
ताम्बूल-राग-चूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम्॥

—सर्वसिद्धान्त सग्रह २।७

भूतान्येव चेतयन्ते।

अर्थात्—ऊपर वर्णित चारो भूत ही चैतन्य उत्पन्न करते है। 'चैतन्य' कोई पृथक् सिद्ध वस्तु नही, प्रत्युत तत्त्वो का ही एक विकार है।

चैतन्य विशिष्ट: काय: पुरुष:।

इस सूत्र मे 'आत्मा' का चार्वाकी लक्षण दिया गया है। चेतनता से युक्त स्थूल शरीर ही पुरुष या आत्मा है। चार्वाको का यह सूत्र बडा ही प्रख्यात बहुश, उल्लिखित तथा तथ्य-प्रतिपादक है। चार्वाक लोग शरीर से अतिरिक्त 'आत्मा' नामक कोई पृथक् तत्त्व नही मानते। आत्मा चेतन होता है, इसे तो वे मानते है, परन्तु उस चैतन्य की अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से ही होती है अर्थात् शरीर को छोडकर क्या चैतन्य कही अन्यत्र देखा जा सकता है? कही नही। ऐसी दशा मे चैतन्य से विशिष्ट यह भौतिक पिण्ड, स्थूल शरीर ही उनकी दृष्टि मे 'आत्मा' है। यह भौतिकवाद का मौलिक सिद्धान्त है और इसीके ऊपर चार्वाको की आचार-मीमासा आश्रित है।

जलबुद्बुदवज्जीवा:।

जल के ऊपर जिस प्रकार बुद्बुद उत्पन्न होते है, एक-दो क्षण तक टिकते है और फिर उसी जल मे विलीन हो जाते है, जीवो की भी यही दशा है। जीव अनित्य होता है। कतिपय क्षणो तक वह टिकता है और फिर वह यही विलीन हो जाता है। जीव को नित्य माननेवाले दार्शनिकों के मत पर यह दण्ड-प्रहार है। दूसरे दार्शनिक लोग जीव को नित्य मानकर उसे सुख पहुंचाने के लिए पुण्य अर्जन करनेवाले सत्कर्मो का उपदेश देते है, परन्तु

चार्वाकों की दृष्टि मे यह एकदम असगत बात है। क्षणिक जीव के कल्याण के लिए दूसरे लोक में सुख देनेवाले पुण्यसचार की आवश्यकता ही क्या है? यह पानी के बुलबुलों की तरह यही आता और चला जाता है।

परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः।

परलोक में रहनेवाले के अभाव में परलोक का ही अभाव है।

व्याख्या—यह सूत्र चार्वाकों के परलोक विषयक तथ्य का प्रतिपादक है। नियम यह है कि रहनेवाले की सत्ता होने पर ही कोई लोक माना जा सकता है। परलोक मे यदि कोई जानेवाला तथा वहा निवास करनेवाला हो तो उस लोक की सत्ता मानी जाय। दूसरे दार्शनिक मानते है कि देहपात होने पर नित्य आत्मा अपने किये गए कर्मो के फल भोगने के लिए परलोक में जाता है, वही वह सत्कर्मो का पुण्य भोगता है अथवा दुष्कर्मो का पाप या क्लेश भोगता है। चार्वाक ऐसा नही मानता। आत्मा ही क्या है? चैतन्य-विशिष्ट यह स्थूल देह ही तो आत्मा है। फलतः इस देह के नाश हो जाने पर आत्मा का भी नाश सिद्ध हो जाता है। जब आत्मा ही नही है, तब परलोक जायगा ही कौन? यदि नही, तो वहा रहनेवाला ही कौन है? फलतः परलोक का अस्तित्व ही नहीं है। वह केवल लोगों को भ्रम में डालकर ठगने का एक ढोंग ही है।

मरणमेव अपवर्ग।

मरण ही मोक्ष है।

व्याख्या—यह सूत्र चार्वाको के मोक्ष-सिद्धान्त का द्योतक है। मोक्ष का अर्थ है मुक्ति। किससे? दुःखों से? दुःखो का ज्ञान हमे शरीर के द्वारा ही होता है। पैर मे कांटे चुभते है; कलम बनाते समय चाकू से हमारी अंगूली कट जाती है; पीठ मे जहरीले कीडे के काटने से फोडा पैदा होता है, जो हमें दर्द के मारे बेचैन किया करता है; चिन्ता के कारण हमें नींद नहीं आती और करवटे बदलते रात बीत जाती है—यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है। इसलिए शरीर को 'भोगायतन' (भोगो का घर) कहते है। फल यह है कि शरीर के होने तक ही क्लेश रहते है। शरीर के नाश हो जाने पर क्लेश आप-से-आप नष्ट हो जाते है। इसलिए चार्वाक के अनुसार मुक्ति मरण का ही दूसरा नाम है। मरण होते ही, शरीर छूटते ही,

सदा के लिए दुःखों से सम्बन्ध छूट जाता है और यही तो मुक्ति है।

धूर्त प्रलापस्त्रयी स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात्।

स्वर्गसुख को उत्पन्न बतलानेवाले तीनों वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद) धूर्तों का बकवास है, क्योंकि स्वर्ग का सुख संसार में होनेवाले सुख की अपेक्षा कोई विशिष्टता नहीं रखता।

व्याख्या—चार्वाक स्वर्ग को नहीं मानते। स्वर्ग की सत्ता ही असिद्ध है। क्यों? स्वर्ग की परिभाषा अन्यत्र दी गई है—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
. . . . तत् सुखं स्वः पदास्पदम्॥

इसका अर्थ है कि जिस सुख में दुःख का थोड़ा भी मिश्रण नहीं रहता अर्थात् जो अमिश्रित सौख्य ही रहता है और आगे चलकर जो दुःख के द्वारा दबाया न जा सके और जो बहुत दिनों तक स्थिर तथा टिकनेवाला होता है, वह 'स्वर्ग' के नाम से प्रसिद्ध है। इसपर चार्वाक का कहना है कि स्वर्ग-सुख लौकिक सुख की अपेक्षा कथमपि विशिष्ट या बड़ा नहीं है। दोनों की एक ही कोटि या रीति है। लौकिक सुख का मजा ले लेने पर मनुष्य के लिए क्या बाकी रह जाता है कि वह स्वर्ग के सुख के वास्ते लालायित बना रहे। विशिष्ट पदार्थ में प्राणी की अभिलाषा होती है; सामान्य में नहीं। फलतः लोक-सामान्य होने से स्वर्ग की सत्ता मिथ्या है, झूठी है।

कौन स्वर्ग का अस्तित्व बतलाता है? किसने स्वर्ग को देखा है? उस लोक से लौटकर इसकी खबर देने के लिए भला कोई लौटकर आया है कि स्वर्ग में विश्वास हम करें? यह तो गप्प है श्रोत्रियों का।

वेद धूर्तों का प्रलाप है

व्याख्या—वेद के विषय में चार्वाकों की यह बड़ी ही प्रख्यात मान्यता है। स्वर्ग के निराकरण का पहला कारण तो ऊपर दिखलाया ही गया है कि स्वर्गीय सुख तथा पार्थिव सुख में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। दोनों की कोटि एक ही है। दूसरा कारण यह है कि स्वर्ग का प्रत्यक्ष किसी इन्द्रिय के द्वारा नहीं किया जा सकता। वेद का ही वचन है—**स्वर्गकामो यजेत्** अर्थात स्वर्ग की कामना करनेवाला पुरुष यज्ञ करे। यज्ञ साधन है और स्वर्ग

साध्य। इस प्रकार वेद के द्वारा प्रतिपादित किये जाने के कारण स्वर्ग के अस्तित्व में विश्वास करना न्याय्य है। वेद को आस्तिक तत्त्वज्ञानी ईश्वर की साक्षात् वाणी मानता है, जिसमे सन्देह करने की, ननु नच करने की, तनिक भी गुजाइश नहीं है। ऋषियो के प्रातिभ चक्षु के द्वारा उन्मीलित तत्त्वो का समूह ही वेद पदवाच्य है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

अर्थात्—प्रत्यक्ष या अनुमति के द्वारा जिस अलौकिक उपाय का ज्ञान हमें नहीं, कथमपि नहीं, हो सकता, उस उपाय को हम वेद के द्वारा जानते है। यही तो वेद का वेदत्व है अलौकिक उपाय का बोधन। वेद का स्वत. प्रामाण्य है यह मत चार्वाको को अभीष्ट नही। वह वेद को धूर्तो का प्रलाप मानता है, अर्थात् ससार को ठगने के लिए ही कतिपय व्यक्तियो ने इन ग्रन्थो का प्रणयन किया है। इस प्रकार जब वेद ही धूर्तो का बकवास है, तब उनके द्वारा निर्दिष्ट यज्ञ, उपवास, व्रत, तप, स्वर्ग, नरक आदि-अदि अलौकिक बाते स्वय ही बालू की भीत के समान भूमिसात् हो जाती है।

प्रमाणमीमासा

प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्।

प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। इस सूत्र मे 'एव' पद दृढता और अवधारण के निमित्त है। चार्वाक-दृष्टि मे प्रत्यक्ष ही अकेला प्रमाण है। अन्य प्रमाण जैसे अनुमान, उपमान, शब्द आदि की सत्ता नही है। भौतिकवादी चार्वाक के मूल सिद्धान्त के अनुकूल ही यह मत है कि इन्द्रियगोचरता ही सत्यता की कसौटी है। इन्द्रियो के द्वारा जो कुछ भी गम्य है, बोध्य है, जेय है वही सच्चा है, प्रामाणिक है, मान्य है तथा विश्वासार्ह है।

अनुमान कदापि विश्वास योग्य नही है। अनुमान मे होता है क्या? दृष्ट तथा अनुभूत नियम के आधार पर किसी अदृष्ट तथा अननुभूत वस्तु की सत्ता का हम अनुमान लगाते है। पाकशाला का हमारा दैनदिन अनुभव है कि धूम को देखकर हम आग के होने का अनुमान लगाते है। यह हमारा दृष्ट ज्ञान है। इसीके आधार पर हम किसी पर्वत में भी अग्नि की सत्ता का अनुमान करते है, जब हम उसमे एक अविच्छिन्न धूम-रेखा को

निकलते हुए पाते है। इसीमें चार्वाक को शका है। 'जहा धूम है, वहा अग्नि है'—इस साहचर्य नियम (या व्याप्ति) मे हम पक्का विश्वास कैसे करे। हम विशिष्ट अग्नि को विशिष्ट धूम के साथ सम्बद्ध अनेक स्थलो पर अवश्य पाते है, परन्तु इतने से ही हम सामान्य अग्नि को सामान्य धूम के साथ सम्बद्ध बतलाने के अधिकारी नही है। अनेक दृष्ट स्थलो पर, लाखो उदाहरणो मे सही, धूम और अग्नि का साहचर्य नियम है, परन्तु इसका हमारे पास क्या प्रमाण है कि आज भी वर्तमान काल मे भी, सब स्थलो पर यह नियम वैसा ही रहेगा। यह तो अधेरे मे कूदने से अधिक महत्त्व नही रखता। अनुमान पर आश्रित होने से 'उपमान' भी असिद्ध है। 'धूर्त प्रलाप' होने से वेद भी श्रद्धा और विश्वास का पात्र नही है। इसलिए प्रत्यक्ष ही केवल प्रमाण है और इस प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत सत्य ही एकमात्र सत्य है।

शब्द की असिद्धि

वेद को न माननेवाले जैन और बौद्ध-दर्शनो मे 'शब्द' प्रमाण माना जाता है। तीर्थकर के वचन-समूह 'अग' के नाम से प्रख्यात है और इनकी मान्यता जैन-समाज मे सर्वत. सिद्ध है, विशेषत श्वेताम्बर मत मे। बौद्ध-दर्शन में 'त्रिपिटक'—सुत्तपिटक, विनयपिटक तथा अभिधम्म पिटक—बुद्ध-वचन होने से मान्य, सत्य तथा प्रमाणभूत माने जाते है। परन्तु चार्वाक 'शब्द' को प्रमाण नही मानता। 'शब्द' का लक्षण है —आप्तोपदेश शब्द (हितोपदेष्टा आप्तव्यक्ति का उपदेश शब्द कहलाता है।) इस लक्षण के विषय मे चार्वाक का कथन है कि यह लक्षण ठीक होने पर भी 'शब्द' की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नही होती, कारण कि आप्त पुरुष के वचनो को सुनने से जो अर्थ-ज्ञान होता है, वह तो प्रत्यक्ष ही हुआ, उसके लिए एक स्वतन्त्र प्रमाण की कल्पना नितान्त असिद्ध है। रही वेद की प्रामाणिकता स्वतन्त्र रूप से। वह तो उसे मान्य नही है। अनर्थक शब्दो के प्रयोग करने से, परस्पर विरोधी तथा घृणित कार्यकलाप (जैसे यज्ञ, अश्वमेध आदि) के प्रतिपादन से तथा अप्रत्यक्ष पदार्थों (जैसे स्वर्ग, नरक आदि) की कल्पना करने से वेद प्रमाण के बाहर है। ऊपर के सूत्र मे 'धूर्तप्रलापस्त्रयी' के समान ही चार्वाकों का यह श्लोक 'सर्वदर्शनसंग्रह' में उद्धृत किया गया है—

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्फरी तुर्फरीत्यादी पण्डितानां वचः स्मृतम्॥

आचार-मीमांसा

अबतक चार्वाकों की पदार्थ-मीमासा और प्रमाण-मीमासा का विवेचन किया गया है। आचार-मीमासा के विषय मे इनके दो सूत्र मिलते है—

कामः एव एकः पुरुषार्थः। तदुपयोगित्वात् अर्थोऽपि अर्थकामौ पुरुषार्थौ।

'काम' ही प्रधान पुरुषार्थ है और उसमें उपयोगी होने के कारण 'अर्थ' भी पुरुषार्थ माना जाता है। इसलिए चार्वाकों के मत मे दो ही पुरुषार्थ है—अर्थ और काम।

व्याख्या—इन दोनों सूत्रों में चार्वाकों की आचार-विषयक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। अन्य दर्शनों मे पुरुषो के द्वारा प्राप्य तथा अभिलषणीय चार वस्तुए बतलाई गई है, जो सामान्यत. 'पुरुषार्थ' के नाम से अभिहित की जाती है। ये चारों पुरुषार्थ है—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष और इन्हीं-की प्राप्ति के लिए मानव मात्र अश्रान्त परिश्रम किया करता है। मीमासकों की दृष्टि मे वेद के द्वारा प्रतिपादित तथा इष्ट अर्थ को देनेवाला अनुष्ठान ही 'धर्म' कहलाता है (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः) जैसे यज्ञयाग, व्रत, उप-वास आदि। रुपया-पैसा, धन-दौलत आदि का नाम है—अर्थ। 'काम' से तात्पर्य इच्छा, अभिलाषा, सुख-सौख्य, स्त्री-सम्भोगजन्य सुख आदि। ससार के प्रपच से तथा दुःखों से छुटकारा पाना मोक्ष या मुक्ति है।

चार्वाक का कथन है कि पुरुषार्थ चार न होकर एक ही है। अधिक-से-अधिक दो। मुख्य पुरुषार्थ है—काम। चार्वाक मत मे भौतिक सुख की प्राप्ति ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। इस सुख की प्राप्ति बिना धन-दौलत के हो नहीं सकती। इसलिए 'अर्थ' भी अवान्तर पुरुषार्थ है। 'काम' की ही मुख्यता है; उपयोगी होने से, कार्यसाधक होने से 'अर्थ' की गौणता है, परन्तु फिर भी दोनो ही पुरुषार्थ है। चार्वाक की मान्यता का मन्त्र इस प्रख्यात श्लोक मे कूट-कूटकर भरा हुआ है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्,
ऋण कृत्वा घृत पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य,
पुनरागमनं कुतः ॥

चार्वाकी शिक्षा है—जबतक जीओ, खूब मौज से जीओ। यदि पैसा पास न हो तो किसी धनी से ऋण लेकर घी पिओ। ऋण चुकाने का डर अपने दिल मे तनिक भी न रखो। भस्म हो जानेवाले देह का फिर इस संसार में आना थोड़े ही होता है। अतः 'खाओ, पीओ, मौज उडाओ'—यही जीवन का चरम लक्ष्य है। इस सिद्धान्त को हम कह सकते है—आधिभौतिक सुखवाद।

इस श्लोक के तात्पर्य में प्रवेश करने पर हम इसे चार्वाको की 'चतुःसूत्री' कह सकते है। इस श्लोक के चारो पाद चार सूत्रो का काम करते है और चार्वाकों के मौलिक तत्त्वों का निर्धारण करते है—

पहला पाद=जीवन का लक्ष्य=सुखमय जीवन-यापन।
दूसरा पाद=काम की सिद्धि=अर्थमूलक।
तीसरा पाद=मोक्ष की कल्पना=देह का भस्म होना (मरण)।
चौथा पाद=आत्मा की अमरता=नितान्त असिद्ध देह के पुनः आगमन के अभाव मे (पुनर्जन्म का अभाव)।

गम्भीर तथा मूलभूत सिद्धान्तो का प्रतिपादक होने से यह पद्य चार्वाक-दर्शन की 'चतुःसूत्री' को एकत्र प्रस्तुत करता है।

चार्वाक लोग स्वस्थ तथा सौख्यमय जीवन के पक्षपाती थे। वे नही चाहते थे कि यह सुन्दर जीवन आध्यात्मिक सुख पाने की मृगमरीचिका मे व्यर्थ बिताया जाय। जीवन के ऐहिक पक्ष के वे प्रबल प्रशसक थे। सर्वदा 'हाय-हाय' करते रहना उनके विचार से कायरता का सूचक है, वीरता का नही। विपत्तियों से जमकर सघर्ष किया जाय, उन्हें जीता जाय तथा जीवन को सरस-सुन्दर बनाया, रोचक रुचिकर रचा जाय; यही उनकी व्यावहारिक दृष्टि थी। वे अध्यात्मवादियों की खिल्ली उड़ाने से नही चूकते, जो विषयजन्य सुख को इसलिए त्याज्य मानते है कि वह दुःखो से सस्पृष्ट रहता है। भला वह कौन मूर्ख होगा,जो मोती के समान चमकनेवाले चावल के दानों को इसलिए दूर फेकता है कि उनको भूसी का एक हलका छिलका

छिपाये रहता है ? दुःख से मिश्रित लौकिक सुखों के प्रति चार्वाकों का यह दृष्टिकोण उपेक्षणीय नही माना जा सकता—

त्याज्यं सुखं विषय संगमजन्म पुंसां,
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
ब्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्,
को नाम भोस्तुषकणोपहितान्हितार्थी॥

—'सर्वदर्शन सग्रह' मे उद्धृत प्राचीन श्लोक

समाज-व्यवस्था

चार्वाको की समाज-व्यवस्था या समाज-सगठन भी अपनी विशिष्टता लिये हुए है। इस विषय मे उनके एक-दो सूत्र मिलते है—

दण्डनीतिरेव विद्या। अत्र वार्ता अंतर्भवति।

दण्डनीति ही विद्या है और इसके भीतर वार्ता का अन्तर्भाव होता है।

व्याख्या—चार्वाक की दृष्टि मे लोक-व्यवहार के निर्वाह करने के कारण दो ही विद्याए है—दण्डनीति और वार्ता। आजकल की परिभाषा मे 'दण्डनीति' से तात्पर्य राजनीति से है और 'वार्ता' से तात्पर्य अर्थशास्त्र से है, जिसके भीतर कृषि, वाणिज्य, व्यापार आदि का समावेश किया जा सकता है। इन दोनों मे भी 'दण्डनीति' की ही प्रबलता तथा मुख्यता है। 'वार्ता' का तो उसमे अन्तर्भाव अभीष्ट है। 'वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः' कौटिल्य ने भी 'अर्थशास्त्र' मे इस मत के माननेवाले 'बृहस्पति' के अनुयायियो का उल्लेख किया है,जो चार्वाक-मत के आदि प्रवर्तक 'बृहस्पति' से भिन्न नही प्रतीत होते।

चार्वाकमत मे वे ही विद्याएं है, जिनमे लोक-व्यवहार तथा समाज को सुव्यवस्थित बनाने की क्षमता विद्यमान है। 'वार्ता' प्राणियों के जीवन-निर्वाह, अर्थ-वृद्धि, व्यापार-वाणिज्य आदि के लिए नितान्त उपयोगी है। कृषि तथा वाणिज्य भारतीय समाज के कल्याण करनेवाले है, क्योंकि इनके अभाव में न तो मनुष्यों के भोजन की व्यवस्था की जा सकती है और न उनके सचित धन में ही वृद्धि की जा सकती है। दण्डनीति आजकल के

'लॉ' (कानून) तथा 'ऑर्डर' (व्यवस्था) का सूचक है। मनु के समान चार्वाक का भी मत है कि दण्ड ही प्रजाओं का पालन करता है; दण्ड के ही भय से प्रजा अपने कार्यों का पालन करती है; दण्ड का भय यदि उठा दिया जाय तो प्रजा उच्छृंखल बन जाय और मनमाने रास्तों पर चलकर एक-दूसरे का जीना कठिन कर दे। महाभारत तथा स्मृतिग्रथों मे मानव-समाज के व्यवस्थापन के निमित्त दण्ड के आविर्भाव का जो वर्णन मिलता है, वह चार्वाक को भी मान्य है।

निग्रहानुग्रहकर्ता राजा ईश्वरः।

राजा ही ईश्वर है; ऐसी दृढ मान्यता चार्वाक-मत की है। चार्वाक निरीश्वरवादी है। वह ईश्वर को नही मानता, क्योंकि ईश्वर की सत्ता प्रत्यक्ष के द्वारा कथमपि सिद्ध नही की जा सकती। मानव की समग्र इन्द्रियां ईश्वर के जानने में असमर्थ है। न हमारी आंखे उसे देख सकती है, न हमारे हाथ उसे छू सकते है। ईश्वर की सत्ता मे वैदिक दर्शन अनुमान तथा शब्द-प्रमाण का आश्रय लेता है। चार्वाक तो इन प्रमाणो मे विश्वास ही नही करता; फलतः इनके द्वारा सिद्ध किया गया पदार्थ आकाश-कुसुम के समान नितान्त निराधार और असत्य है। तो क्या ईश्वर है ही नही?

चार्वाक का उत्तर है कि ईश्वर अवश्य है। निग्रह तथा अनुग्रह करने में समर्थ व्यक्ति की ही संज्ञा है ईश्वर। जो प्रसन्न होने पर अपनी अनुकम्पा तथा प्रसाद की वर्षा करे और रुष्ट होने पर दण्ड का प्रहार करे, वही ईश्वर है। और यह ईश्वर कोई अलौकिक सत्ता न होकर नितान्त लौकिक प्रत्यक्ष पदार्थ है और वह है राजा—प्रजा के ऊपर शासन करनेवाला, उन्हे उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर लानेवाला, अपराधियों को दण्ड देनेवाला शोभन कार्य करनेवालो पर अनुग्रह करनेवाला। ऐसे प्रत्यक्ष शासक के अतिरिक्त ईश्वर कोई है ही नही। उसकी सत्ता नितान्त असिद्ध है।

इन दोनों सूत्रों के आधार पर हम 'चार्वाकी समाज' की रूपरेखा भली-भाति समझ सकते है। चार्वाक आधिभौतिक सुखवाद का पक्षपाती अवश्य था, उच्छृंखल जीवन के प्रति उसकी बडी कडी दृष्टि थी। समाज के भीतर रहकर ही व्यक्ति व्यवस्थित तथा मर्यादित जीवन बिता सकता है, समाज से बहिर्मुख होने पर नही। इसलिए समाज को दण्ड के द्वारा

शासित करनेवाला शासक—राजा—उसकी दृष्टि में 'ईश्वर' है। दण्ड-नीति तथा वार्ता—ये दोनों विद्याएं मानव-समाज के पोषण तथा परि-बृंहण के लिए उपादेय है। इसलिए चार्वाक इन दोनों को ही ज्ञातव्य विद्या की कोटि मे रखता है। इस दर्शन के मौलिक गुणों की समीक्षा के समय 'समाज-व्यवस्था' पर दृढ आग्रह कथमपि भुलाया नही जा सकता। यह चार्वाकों को पूर्णतया 'व्यावहारिक तत्त्व ज्ञानी' सिद्ध कर रहा है।

लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्य :।

लौकिक मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

व्याख्या—यह सूत्र इस मत की मौलिक विचारधारा का सूचक है। 'लौकिक' शब्द का अर्थ है लोकोपकारी, बहुत लोगों का हित करनेवाला। चार्वाक की दृष्टि में वही मार्ग अनुसरण करने योग्य है, जो लोगों का उप-कारक हो, प्राणियों का कल्याण और मंगल का साधक हो। दूसरे शब्दों में जो 'बहुजन हिताय' तथा 'बहुजन सुखाय' हो, उसी मार्ग पर चलना मानव का कर्तव्य होना चाहिए। 'लौकिक' का दूसरा अर्थ 'ऐहिक' भी है। फलतः इस सूत्र का आशय है कि परलोक की ओर ले जानेवाला मार्ग सर्वदा उपेक्ष-णीय है, क्योंकि परलोक नामक वस्तु का सर्वथा अभाव है। यज्ञ-याग, तप, व्रत आदि पारलौकिक साधनों की चार्वाक सर्वथा उपेक्षा करता है।

समीक्षण

चार्वाक-दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का यहां ऊपर सक्षिप्त वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि चार्वाक सब प्रकार से 'नास्तिक' है। न वह वेद को मानता है, न परलोक को; न ईश्वर को मानता है, न धर्म को। वह अर्थ और काम को ही पुरुषों के लिए उपादेय समझता है। वह प्रत्यक्षवादी दार्श-निक है, जो इन्द्रिय से अननुभूत पदार्थ को असत्य मानता है। भौतिक सुख का उपभोग ही मानव-जीवन का लक्ष्य है और इसलिए पास में पैसा न रहने पर वह ऋण लेकर मौजी जीवन बिताने का उपदेश देता है। ये सब सिद्धान्त समाज में विप्लवकारी है और इसलिए सब दार्शनिकों ने—जैन, बौद्ध और ब्राह्मण तत्त्व-ज्ञानियों ने—एक स्वर से इन सिद्धान्तों की भरपूर निन्दा की है। परन्तु एक बात की ओर ध्यान देना उचित है और यह है समाज-

व्यवस्था पर चार्वाकों का सातिशय आग्रह। चार्वाकों के स्वरूप के विषय में अपने एक पूर्व कथन को यहां दोहराना मैं उचित समझता हूं—"चार्वाक प्राचीन काल के भारतीय वैज्ञानिक है, जो 'तर्क' की कसौटी पर सत्य को कसते है। वे आधुनिक भौतिकवादियो की अपेक्षा सयमी है और संयत जीवन बिताने के पक्षपाती है। इसलिए वे ऋण लेकर भी घी पीने का उपदेश देते है, शराब पीने का नहीं। सुन्दर समाज में रहकर ही प्राणी अपनी उन्नति कर सकता है, इस तथ्य की ओर इन्होंने खूब आग्रह दिखलाया। अतः उनके सिद्धान्तों का भी मूल्य है। वे एकदम निःसार नही है।"

: २ :

जैन दर्शन

जैन-दर्शन एक अत्यन्त प्राचीन विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। सुदूर प्राचीन काल में इस भारतवर्ष मे वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड के विरोध मे उत्पन्न होनेवाले धार्मिक सम्प्रदायों में जैनधर्म अन्यतम है। 'जिन' के द्वारा प्रवर्तित होने के कारण इस धर्म की संज्ञा 'जैन' है। 'जिन' का शाब्दिक अर्थ है जेता, जीतनेवाला। राग-द्वेष को जीतनेवाले आचार्य इस नाम से प्रसिद्ध है, जिन्हे 'तीर्थकर' का भी अभिधान प्राप्त है। इस मत के अनुसार इन तीर्थकरों की सख्या चौवीस है, जिनमें ऋषभदेव सर्वप्रथम तथा वर्धमान-महावीर अन्तिम तीर्थकर माने जाते है। ऋषभदेव इस देश के अत्यन्त प्राचीन चक्रवर्ती नरेश थे, जिनका पावन चरित्र पुराणों में बहुशः वर्णित है। वर्धमान-महावीर का जन्म लगभग छः सौ ई० पू० बिहार प्रान्त के कुण्डग्राम नगर के राजा सिद्धार्थ के घर मे हुआ था। यह ग्राम वैशाली (आजकल मुजफ्फरपुर जिले का बसाढ) के समीप था। इनकी माता का नाम त्रिशला था, जो श्वेताम्बरी मान्यता के अनुसार वैशाली-नरेश राजा चेटक की भगिनी थी और जिन्हे दिगम्बरी मान्यता उक्त राजा की पुत्री मानती है। इनका जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था, जिसकी स्मृति मे उस दिन उनकी जयन्ती वडे समारोह के साथ मनाई जाती है। श्वेताम्बर लोग महावीर को विवाहित होना मानते है, परन्तु दिगम्बर-मत में यह मान्य नहीं है। तीस वर्ष की वय में महावीर ने तपस्या करने के लिए घर छोड़कर जगल का रास्ता लिया, जहा उन्होंने अत्यन्त कठिन तपस्या के बल पर केवलज्ञान प्राप्त किया। छियासठ दिनों तक मौन विहार करने के वाद वह मगध की राजधानी राजगृह मे पधारे और उसके बाहर विपुलाचल पर्वत पर ठहरे। उस समय मगध के राजा श्रेणिक अपनी रानी चेलना के साथ वहां राज्य करते थे। वहीपर महावीर ने गौतम गोत्रीय वेद-वेदाग-पारंगत इन्द्रभूति नामक ब्राह्मण विद्वान् को अपना प्रथम शिष्य बनाया, जो

प्रथम 'गणधर' के नाम से जैनधर्म के इतिहास में प्रख्यात है। उस समय उनकी उम्र बियालीस वर्ष की थी। तीस साल तक उन्होने अपने धर्म का उपदेश दिया। उत्तर भारत, विशेषकर बिहार तथा उत्तर प्रदेश, उनके उपदेश का क्षेत्र था। अन्त मे बिहार की पावापुरी मे उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात मे अर्थात् अमावस्या के प्रातःकाल में सूर्योदय से पहले महावीर ने मुक्ति लाभ की। ईस्वी पूर्व ५२७वे साल में वीर-निर्वाण की उक्त तिथि मानी जाती है।

जैन मत में दो प्रधान अवान्तर-भेद है—दिगम्बर तथा श्वेताम्बर। दिगम्बरमार्गी यति अपने शरीर के आच्छादन के लिए वस्त्र का उपयोग नही करते। वे सर्वथा नग्न ही रहते है, परन्तु श्वेताम्बरी यति सफेद वस्त्र का प्रयोग करते है। इन दोनों मार्गों मे दार्शनिक दृष्टि मे अन्तर नही है। केवल आचार-दृष्टि से कतिपय भेद अवश्य है, परन्तु वे भी विशेष महत्त्व के नही है। अन्य अवान्तर-भेद भी मिलते है, परन्तु दार्शनिक दृष्टि से जैन-धर्म एक अखण्ड उपासना-मार्ग है।

जैन-दर्शन का प्रमाण-साहित्य

जैनधर्म के सर्व प्राचीन ग्रन्थ अग नाम से प्रसिद्ध है तथा अर्धमागधी प्राकृत मे निबद्ध है। जैनसिद्धान्त-ग्रन्थों की सख्या पैतालीस है, जिनमें ग्यारह अग, बारह उपांग, दस प्रकीर्ण, छ: छेद सूत्र, चार मूल ग्रन्थ तथा दो स्वतन्त्र ग्रन्थ (नन्दी सूत्र तथा अनुयोग द्वार) माने जाते है। इनमे अगो का माहात्म्य सबसे अधिक है, यह श्वेताम्बरी मान्यता के अनुसार है। दिगम्बर मत के अनुसार यह समग्र प्राचीन साहित्य विलुप्त हो गया। इस मत में प्राचीन मान्य ग्रन्थ है—षट् खण्डागम, जिसकी रचना भूतबलि और पुष्पदन्त नामक दो विद्वानो ने श्रुत का अभ्यास कर प्राकृत भाषा में की। गुणधर आचार्य रचित कसायपाहुड (या कषायप्राभृत) इस दर्शन का दूसरा मान्य ग्रन्थ है, जिसपर यतिवृषभ नामक आचार्य ने वृत्ति-सूत्र का प्रणयन किया, जो प्राकृत भाषा मे है और जिसका प्रमाण छ: सहस्र श्लोक है। वीरसेन नामक प्रौढ आचार्य ने ७३८ शक सवत् (८१६ ईस्वी) मे षट् खण्डागम पर 'धवला' नामक प्रख्यात टीका बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण लिखी।

कषायपाहुड पर भी इनकी अधूरी टीका को इन्हींके सुयोग्य शिष्य जिन-सेनाचार्य ने 'जयधवला' टीका का प्रणयन किया (श० सं० ७५९, ईस्वी ८३०)। ये दोनों ही टीकाएं मणि प्रबाल शैली में रचित है, जिसका बहुत भाग प्राकृत मे है और बीच में संस्कृत है। पूर्वोक्त षट् खण्डागम का अन्तिम खण्ड 'महाबन्ध' है, जिसकी रचना भूतबलि आचार्य ने की थी (चालीस हजार श्लोक प्रमाण, भाषा प्राकृत)। इन्ही सभी जैन ग्रन्थों में कर्म-सिद्धान्त का गहन विवेचन है।

यह तो हुई धार्मिक साहित्य की सूचनिका। जैन-दर्शन के दार्शनिक ग्रन्थ भी परिमाण मे बहुत, विवेचन मे गम्भीर तथा युक्ति-प्रदर्शन में व्यापक दृष्टिवाले है। आचार्यों तथा विद्वानो की भी सख्या कम नही है, जिन्होंने जैन न्याय को पूर्णरूप से प्रतिष्ठित किया। दोनों मार्गो के आचार्यो के व्यापक पाण्डित्य का प्रतिफल है विस्तृत जैन दार्शनिक साहित्य। इन आचार्यो मे उमास्वाति, कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, अकलंकदेव, स्वामी विद्यानन्दि तथा हेमचन्द्र की प्रमुख गणना है। इनके विस्तृत ग्रन्थो मे इनका पाडित्य नि सन्देह श्लाघ्य है।

जैन-दर्शन का दृष्टि-बिन्दु

जैन दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त है—अनेकान्तवाद। 'एकान्त' का अर्थ है निर्णीत रूप से एक प्रकार। तदनुसार 'अनेकान्त' का अर्थ है वस्तु के अनेक प्रकार। जैन दर्शन की विशिष्ट मान्यता है कि वस्तु का एक ही रूप, एक ही प्रकार नही है। दृष्टि-भेद से वही वस्तु उससे भिन्न आकार में भी प्रतीत होती है। जैन दर्शन सत् और असत् ऐसा दो प्रकार का वस्तुओं का विभाग अगीकार नही करता। 'सत्' ही द्रव्य का लक्षण है, 'असत्' या 'अभाव' जैन दर्शन में कोई स्वतन्त्र तत्त्व नही है। जो वस्तु किसी दृष्टि के द्वारा सत् है, वही वस्तु दृष्टि के भेद से असत् भी कही जा सकती है। स्वरूप (अपने रूप) की अपेक्षा से वस्तु 'सत्' कही जाती है, वही पररूप की अपेक्षा से असत् भी कही जा सकती है। तथ्य यह है कि प्रत्येक वस्तु का स्वभाव अलग-अलग होता है और वह स्वभाव उसी वस्तु में रहता है, दूसरी वस्तु में नहीं। घट तथा पट के उदाहरण पर दृष्टिपात कीजिये।

घट मे घटत्व रहता है और इसलिए घट-स्वभाव को दृष्टि मे रखकर हम कहते है कि सामने दृष्टिगोचर होनेवाला पदार्थ 'घट' है, परन्तु पटत्व को दृष्टि मे रखकर हम कह सकते है कि 'यह घट है' ? नही, कभी नही। फलतः घटत्व की दृष्टि से घट है, परन्तु पटत्व की दृष्टि मे वह घट नही है। इस प्रकार एक ही वस्तु सत् भी है और असत् भी है। अन्तर इन वाक्यो मे, इन कल्पनाओं मे दृष्टि का ही तो है। इस तरह हम देखते है कि घडा एक दृष्टि से तो अवश्यमेव 'सत्' (विद्यमान) है, परन्तु दूसरी दृष्टि से वह 'नही ह' (असत्)। अत. संसार मे जो कुछ 'है' वह किसी अपेक्षा मे 'नही भी' है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु जगत् मे नही है। इसी सिद्धान्त को अनेकान्तवाद के नाम से पुकारते है।

इसीको **'स्याद्वाद'** का सिद्धान्त कहते है। 'स्याद्वाद' के समझने-समझाने मे जैन मतवादियो तथा अजैनों की व्याख्या मे महान् अन्तर है। अजैनी दार्शनिक की दृष्टि मे 'स्याद्वाद' सन्देहवाद का ही अपर पर्याय है, क्योंकि 'स्यात्'का अर्थ है शायद। परन्तु जैन दार्शनिको की दृष्टि से 'स्यात्' शब्द का वास्तविक तात्पर्य है 'कथचित्' अथवा 'किसीअपेक्षा से' है। ऊपर कहा ही गया है कि संसार मे अपेक्षा के विचार से कोई भी वस्तु सत् और असत् दोनों ही है। इसी'अपेक्षावाद' का सूचक 'स्याद्वाद' शब्द है जिसका प्रयोग अनेकान्तवाद के समझने के लिए आवश्यक है। इसीकी तार्किक अभिव्यक्ति 'सप्तभगी' नय के द्वारा की जाती है।

सप्तभगी नय है क्या ? किसी भी वस्तु के रूप प्रकट करने के वास्ते सात प्रकारो से कहने का ढग। इसका स्वरूप इस प्रकार है—

१. **स्यात् अस्ति** —(किसी अपेक्षा मे कोई वस्तु विद्यमान है)।

२. **स्यान्नास्ति**—(किसी अपेक्षा से कोई वस्तु अविद्यमान है)।

३. **स्यादस्ति च स्यान्नास्ति**—(किसी अपेक्षा से कोई वस्तु एक साथ विद्यमान और अविद्यमान दोनो है)।

४. **स्याद् अवक्तव्यम्**—(किसी अपेक्षा से वस्तु का रूप निर्दिष्ट नही किया जा सकता है)।

५. **स्यादस्ति च स्याद् अवक्तव्यं च**—(किसी अपेक्षा से वस्तु का रूप है भी तथा अवक्तव्य भी है)।

६. **स्यान्नास्ति च स्याद् अवक्तव्य च**––(दूसरे और चौथे भगों को जोड़ने से यह भग निष्पन्न होता है।)

७. **स्यादस्ति च स्यान्नास्ति च स्याद् अवक्तव्यं च**––(तीसरे और चौथे भगो के सयोग मे यह भग तैयार होता है।)

शंकराचार्य ने ऊपर के चौथे भग 'स्याद् अवक्तव्यम्' के विषय मे यह खण्डन प्रस्तुत किया है––

न चैषां पदार्थानाम् अव्यक्तव्यं संभवति। अवक्तव्यश्चेत् नोच्येरन्। उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिसिद्धम्।

––शाकर-भाष्य ब्र० सू० २।२।३३

तात्पर्य यह है कि पदार्थों को अवक्तव्य कहना क्या कथमपि सभव है? यदि ये पदार्थ अवक्तव्य होते तो इनका कथन ही कैसे किया जा सकता है। कथन भी किया जाय और अवक्तव्य भी कहा जाय––ये दोनों बाते परस्पर-विरोधी है। इसके उत्तर मे जैन विद्वानों का कहना है कि जैन दर्शन वस्तु को सर्वथा अवक्तव्य नही मानता, प्रत्युत अपेक्षा की दृष्टि से ही अवक्तव्य बतलाता है। इसी बात को सूचित करने के लिए 'अवक्तव्य' से पूर्व 'स्यात्' शब्द का प्रयोग उक्त भग मे किया गया है। अर्थात् वस्तु सर्वथा अवक्तव्य नही है, किन्तु किसी एक दृष्टिकोण से अवक्तव्य है।[1]

द्रव्य का लक्षण

द्रव्य का लक्षण सत् है। जैन-दर्शन मे 'सत्' का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य माना गया है। उत्पाद का अर्थ है उत्पत्ति, व्यय का विनाश तथा ध्रौव्य की स्थिरता। अर्थात् जिसमें प्रति समय उत्पत्ति, विनाश तथा स्थिरता पाई जाय, उसे हम यहां 'सत्' कहते है। घडे की उत्पत्ति मृत्तिका के पिण्ड से हुई। यहां विचार करने पर ये तीनों बाते लक्षित होती है। मिट्टी के पिण्ड से घडा बनाते समय मिट्टी का पिण्डरूप पर्याय नष्ट हो जाता है, घट पर्याय उत्पन्न होता है और मिट्टी स्थिर रहती है। ये तीनो बातें एक ही समय में होती हैं। जिस क्षण मे घट पर्याय की उत्पत्ति हुई, उसी

[1] देखिये कैलाशचन्द्रशास्त्री-रचित 'जैनधर्म' पृ० ६८-६९

क्षण में पिण्ड पर्याय का विनाश हुआ और मृत्तिका की स्थिरता उसी क्षण मे विद्यमान रही। फलतः वस्तु प्रतिसमय उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यात्मक कही गई है।

तथ्य यह है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। शिशु बालक होता है, बालक जवान और जवान बूढा। परन्तु यह प्रतिक्षण परिणाम इतना सूक्ष्म होता है कि वह हमारे देखने मे तुरन्त नही आता। यह भी सत्य है कि परिवर्तन होने पर भी बालक की एकरूपता बनी रहती है, तभी तो वह पहचाना जाता है, नही तो बालक को युवा होने पर कोई पहचान ही नहीं सकता था कि यह देवदत्त का पुत्र यज्ञदत्त ही है। द्रव्य के इस स्वभाव मे गुण ध्रुव (स्थायी) होते है और 'पर्याय' उत्पाद-व्ययशील होते है। इस प्रकार गुण के दोनों ही लक्षण एक ही तत्त्व के सूचक है। द्रव्य को गुण-पर्यायात्मक कहिये या उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक कहिये, तथ्य एक ही है।

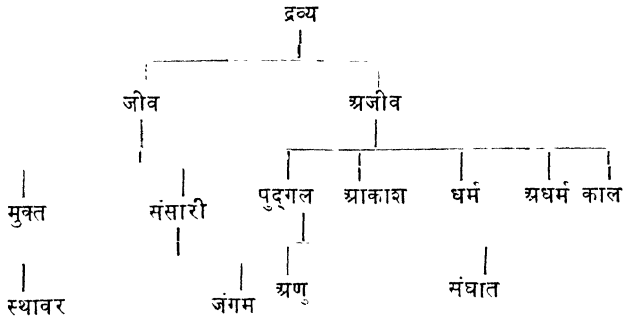
जैन आचार्यो के मत मे द्रव्य न तो उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है, केवल पर्याये उत्पन्न तथा नष्ट हुआ करती है। इनके साथ अभिन्न होने से द्रव्य को भी हम उत्पाद व्ययशील मान लेते है। आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'आप्त मीमांसा' ग्रन्थ मे इस दृष्टि से तत्त्व को त्रयात्मक माना है-**तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम्**। इस विषय मे एक सुन्दर दृष्टान्त भी दिया है--

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थिति स्वयम्।
शोक प्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥

--आप्तमीमासा, श्लो० ५९

किसी राजा के पास सोने का घडा था, जिसे उसकी पुत्री चाहती थी। राजा के पुत्र ने अपने लिए उससे मुकुट तैयार कर लिया। घड़ के नाश होने से राजपुत्री को शोक हुआ और राजपुत्र को सोने का मुकुट पाने से आनन्द हुआ। राजा को उदासीनता ही रही, उसे न शोक हुआ, न हर्ष। वह तो सुवर्ण का इच्छुक था, जो दोनो दशाओं में बना ही रहा। फलतः द्रव्य या पदार्थ त्रयात्मक होता है।

निष्कर्ष यह है कि जैन दर्शन में द्रव्य ही एकमात्र तत्त्व है, जो छः प्रकार का होता है। द्रव्य-दृष्टि से वह नित्य है तथा पर्याय-दृष्टि से अनित्य है। द्रव्य के छः प्रकारो का ज्ञान निम्नांकित नक्शे से भली प्रकार हो जायगा—



जीव

जैन दर्शन ने द्रव्य को प्रधानतया दो वर्गों मे बाटा है, जिसमें 'जीव' प्रथम वर्ग है। जीव का लक्षण है--

चेतना लक्षणो जीवः।

चैतन्य ही जीव का लक्षण है। उसमे न कोई गन्ध है, न रूप। वह शब्दरूप भी नही है, न कोई भौतिक चिह्न है और न उसका कोई आकार है। चैतन्य गुण से विशिष्ट द्रव्य ही जीव है। जीव चेतन है। चेतना जानने और देखने के रूप मे होती है। फलतः जो देखता है और जो जानता है वही जीव है। जीव अपने आप ही प्रभु है। प्रत्येक जीव अपने उत्थान और पतन के लिए स्वयं उत्तरदायी होता है। उसे न कोई बांधता है और न कोई मुक्त करता है। बन्धन और मुक्ति के लिए वह स्वय ही उत्तरदायी होता है। जीव कर्ता भी है और भोक्ता भी है। जीव शरीर-प्रमाण है। जीव जिस शरीर में रहता है, वह उसीके प्रमाणवाला होता है, दीपक के प्रकाश के समान। दीपक का प्रकाश एक छोटी कुटिया मे जले, तो वह छोटा होता है और यदि किसी लम्बे-चौडे प्रसाद मे रहता है, तो वह प्रकाश फैलकर विस्तृत आकार को ग्रहण कर लेता है। जीव की भी ठीक यही दशा है। चीटी में रहनेवाला जीव नितान्त लघुकाय होता है और हाथी मे रहनेवाला जीव विशाल होता है। जीव कर्मो से सयुक्त होता है। यह कर्म-बन्धन अनादि काल से विद्यमान है, खान से निकले हुए सोने की तरह। जैसे

खान से निकलने के समय सोना अशुद्ध होता है, वैसे ही जीव अनादि काल से कर्म के बन्धन मे जकड़ा हुआ पाया जाता है।

जीव के दो भेद होते है—ससारी और मुक्त, ससारी वह जीव है,जो कर्मबन्धन के वश में होकर एक गति से दूसरी गति को प्राप्त करता है। वह जनमता है और मरता है। मुक्त जीव इन बन्धनो से मुक्त रहता है।

अजीव

जिन द्रव्यों मे चैतन्य नही पाया जाता, वे अजीव कहलाते है। इनमें से पहला द्रव्य है पुद्गल।

पुद्गल—'पुद्गल' शब्द की व्युत्पत्ति जैन ग्रन्थो मे इस प्रकार दी गई है—**'पूरयन्ति गलन्ति च'** जो पूर्ण हो और फिर गल जाय। सामान्यत: इसका प्रयोग पृथ्वी आदि भूत द्रव्यो के लिए किया जाता है। जो कुछ हम देखते है, छूते है, सुनते है, खाते है और पीते है, वह 'पुद्गल' कहलाता है। जिसमे रूप,रस,गन्ध और स्पर्श—ये चारो गुण पाये जाते है, वह 'पुद्गल' कहलाता है। यही मूर्तिक द्रव्य है, शेष द्रव्य अमूर्तिक होते है। पुद्गल की कल्पना न्याय-दर्शन की अपेक्षा जैन-दर्शन मे भिन्न है। न्याय-दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु—ये चारों पदार्थ भिन्न-भिन्न है, क्योकि इनके उत्पादक परमाणु मौलिक रूप मे भिन्न है और चार प्रकार के है। जैन दर्शन की मान्यता इससे पृथक् है। जैन मत मे सब परमाणु एकजातीय होते है और सभीमें ये चारों गुण पाये जाते है, परन्तु उनसे बने हुए द्रव्यो मे सब गुणों की प्रतीति इसी कारण नही होती कि इन सब गुणों की अभिव्यक्ति नही होती। परमाणुओं मे परस्पर भेद नही होता,भेद केवल परिणमन का है। इसलिए पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु से चार द्रव्य नही होते, किन्तु एक ही द्रव्य होता है और उसका नाम 'पुद्गल' है।

पुद्गल के दो भेद होते है—परमाणु और सघात। परमाणु का लक्षण इस प्रकार है—

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदियगेज्झ
जं दव्वं अविभागी त परमाणुं वियाणाहि ॥

इसका अर्थ यह है कि जो स्वयं ही आदि, अन्त तथा मध्यरूप है और

जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता और जिसका विभाग नहीं हो सकता, उस द्रव्य को 'परमाणु' कहते है। तात्पर्य यह है कि पुद्गल के सबसे छोटे अविभागी अश को 'परमाणु' कहते है। परमाणु एकप्रदेशी होता है अर्थात् वह एक ही प्रदेश को व्याप्त करनेवाला होता है। इसलिए उसका दूसरा भाग नही हो सकता।

अनेक परमाणुओं के संयोग से जो द्रव्य तैयार होता है, वह 'स्कन्ध' कहलाता है। दो परमाणुओ के मेल से उत्पन्न होता है द्वयणुक, तीन परमाणुओ के मेल से त्र्यणुक तैयार होता है। इसी प्रकार बढते-बढ़ते अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तैयार होते है।

धर्म द्रव्य तथा **अधर्मद्रव्य**—इन दोनो शब्दों का अर्थ पुण्य और पाप नही है, जैसा साधारण लोग समझा करते है। ये दोनो द्रव्य है। षड् द्रव्यों मे जीव और पुद्गल सक्रिय होते है अर्थात् इनमे क्रिया उत्पन्न होती और उस व्यापार का विराम भी होता है। इन दोनो द्रव्यो को चलने मे सहायता पहुचानेवाला द्रव्य ही 'धर्म द्रव्य' होता है और इन दोनों द्रव्यो को ठहरने मे सहायता देनेवाला द्रव्य अधर्म द्रव्य होता है। धर्म के रूप समझाने के लिए जैन ग्रन्थो मे जल का उदाहरण दिया गया है। पानी मछलियों के चलने में सहायक होता है। पानी यदि न रहे, तो मछलियों में गति नहीं हो सकती। एक बात ध्यान देने की है। धर्म और अधर्म प्रेरक द्रव्य नही हैं अर्थात् ये किसीको चलने और रुकने के लिए बलात् प्रेरणा नही देते। ये केवल सहायता करते है अर्थात् चलते हुए को चलने और ठहरते हुए को ठहरने में केवल सहायता देते है। चलने और रुकने का काम तो जीव और पुद्गल स्वय करते हैं। धर्म और अधर्म केवल सहायता पहुचाते है।

आकाश—जो द्रव्य सब द्रव्यों को अवकाश देता है, वह आकाश कहलाता है। आकाश की कोई मूर्ति नही होती। आकाश अमूर्तिक और सर्वव्यापी होता है। जैन-मत मे आकाश दो प्रकार का होता है—लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाश के मध्य में है लोकाकाश और उसके चारों ओर सर्वव्यापी अलोकाकाश रहता है अर्थात् लोकाकाश मे छहों द्रव्य पाये जाते है और अलोकाकाश मे केवल आकाश द्रव्य ही पाया जाता है।

काल—वस्तुमात्र प्रतिक्षण परिणमनशील है। इस परिणमन या

परिवर्तन मे सहायता पहुंचानेवाला द्रव्य 'काल' है। परिणमन करने की शक्ति तो सब पदार्थो में विद्यमान है ही, परन्तु शक्ति काल की सहायता बिना प्रकट नहीं हो सकती। दृष्टान्त के लिए कुम्हार के चाक को लीजिये। उसमें घूमने की शक्ति मौजूद है, किन्तु बिना कील की सहायता पाये वह घूम नही सकता। काल द्रव्य की भी वैसी ही स्थिति है। ससार के पदार्थ स्वतः परिवर्तनशील है, परन्तु काल द्रव्य उस कार्य मे सहायता देता है। यह बलात् वस्तुओ को परिणमन के लिए प्रेरित नही करता, बल्कि परिणमन करते हुए द्रव्य को उस काम में केवल सहायता पहुचाता है।

इस प्रकार जैन दर्शन मे छ. द्रव्य माने जाते है। इनमे काल को छोडकर शेष पाचो द्रव्य 'अस्तिकाय' के नाम से पुकारे जाते है। क्यो ? 'अस्तिकाय' शब्द के अर्थ पर विचार कीजिये। यह दो शब्दों को मिलाकर बनता है, जिसमें अस्ति का अर्थ है —अस्तित्व, विद्यमान। 'काय' का अर्थ है देह, शरीर। अत· 'अस्तिकाय' से तात्पर्य है—देह या प्रदेश को रखनेवाले पदार्थ। पूर्वोक्त पांचों द्रव्य (जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म तथा अधर्म) बहुप्रदेशी है। फलतः वे 'अस्तिकाय' कहलाते है। परन्तु 'काल' इस विषय में इन पाचो से भिन्न है। काल के अणु असख्य होने पर भी परस्पर सदा अबद्ध रहते है। न तो वे आकाश के प्रदेशो की तरह सदा से मिले हुए एक तथा अखण्ड है, और न पुद्गल परमाणुओं की तरह कभी मिलते है और न कभी अलग होते है। इसलिए काल की इस विशिष्टता के कारण वह 'अस्तिकाय' नही माना जाता।

सात तत्त्व

जैनदर्शन साधना को लक्ष्य कर सात तत्त्वों का प्रतिपादन करता है—१. जीव, २. अजीव, ३. आस्रव, ४. बन्ध, ५. संवर, ६. निर्जरा तथा ७. मोक्ष। इनमे १. जीव तथा २ अजीव का विवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है।

३ **आस्रव**—इस शब्द का अर्थ है जीवों के कर्मो के आगमन का द्वार। बिना द्वार के कोई वस्तु कहीं प्रवेश या सम्बन्ध नहीं कर सकती। मनसा, वाचा, शरीरेण जो कुछ कर्म हम करते है, वें जीवों में प्रवेश करते है। मन से हम भली-बुरी बाते सोचते है। वचन से शोभन या अशोभन बातें करते है। शरीर से पाप-पुण्य का सम्पादन करते है। ये कर्म हमारे शरीर

में निःसन्देह प्रवेश करते है। इस प्रवेश के द्वार को ही 'आस्रव' कहते है।

जैनधर्म में कर्म-सिद्धान्त अन्य दर्शनों के एतद्विषयक सिद्धान्त से अनेक अश में भिन्न है। जैनमत में कर्म एक मूर्त पदार्थ है, जो जीवों के साथ बंध जाता है। रागद्वेष के पाश मे पडा हुआ जीव नाना प्रकार के कर्मो का सम्पादन करता है। फलत: संसारी जीवों के भावो से उत्पन्न होता है कर्म-बन्ध और इस कर्मबन्ध से उत्पन्न होता है रागद्वेष-भाव। यह चक्र अनादि होकर भी कभी अनन्त है और कभी सान्त है। अभव्य जीव (इस चक्र का अन्त करने में असमर्थ होनेवाले जीव) की अपेक्षा से यह कर्म अनादि और अनन्त है और भव्य जीव (इस चक्र का अन्त करनेवाले जीव) की अपेक्षा यह अनादि और सान्त है। दोनों की अपेक्षा मे यह अनादि है, अन्त होने के विषय में भले ही दो प्रकार हों। कर्म का फल कैसा होता है? इस विषय मे जैन-दर्शन वेदानुयायी दर्शनो से सर्वथा भिन्न है। जीव कर्म करने में तो स्वतन्त्र है, परतु फल पाने में परतन्त्र है, क्योकि फल का दाता ईश्वर है—ऐसी वेदान्त आदि दर्शनो की मान्यता है। परन्तु ईश्वर की सत्ता न माननेवाले जैन-दर्शन को यह मत मान्य नही। उसकी दृष्टि मे कर्म स्वय फल देता है और इसके लिए उसे किसी न्यायाधीश की आवश्यकता नही होती। जैन-मत मे कर्मो के अनेक भेद-प्रभेद माने जाते है। फलत: जैन-दर्शन का कर्म-सिद्धान्त अनेक तथ्यों में अन्य दर्शनों की विवेचना से स्वतन्त्र सत्ता रखता है। यह बात जैन दार्शनिको की सूक्ष्म विवेचना की पर्याप्त सूचिका है।

४. **बन्ध**—जीव और कर्मों के परस्पर सयोग होने पर जो मेल होता है, वही बन्ध तत्त्व है। 'संयोग' शब्द से यह न समझना चाहिए कि यह बन्ध साधारण सयोग के समान है। मै अपनी लेखनी को हाथ में लेकर लिख रहा हू। फलत: यहा हमारे हाथ तथा लेखनी मे सयोग विद्यमान है। परन्तु क्या यह बन्ध कहा जा सकता है? नही। बन्ध का रूप रासायनिक परिवर्तन के समान है, जो मिली हुई वस्तुओ में परिवर्तन उपस्थित कर देता है। बन्ध की दशा में जीव में भी परिवर्तन हो जाता है और कर्म-पुद्गलों में भी। दोनों अपनी पूर्व स्थिति में नही रहते। आस्रव तथा बन्ध

के द्वारा जीव संसारी रूप में परिणत हो जाता है और वह विषयों को भोगने लगता है। इसके आगे मोक्ष की तैयारी शुरू होती है।

५. **संवर**—आगे आनेवाले कर्मों के मार्ग को रोकने का ही नाम 'संवर' है। सवर के अभाव में जीव कभी भी मोक्ष नही पा सकता, क्योंकि उसे संसारी दशा मे रखनेवाले कर्म तो सदा होते ही जाते है। देह मे सम्बद्ध बनकर वे बन्ध उत्पन्न करते ही है। फलत: जीव के लिए किसी भी काल में मोक्ष पाने की आशा दुराशामात्र है। इसलिए मुमुक्षु साधकों के लिए संवर की नितान्त आवश्यकता होती है।

६. **निर्जरा**—यह 'संवर' से आगे की सीढी है। 'निर्जरा' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है 'नितान्त जीर्ण कर देना' अर्थात् अपने द्वारा सम्पादित कर्मों को जीर्ण बना देना, जिससे वे अपने उचित फल को पैदा करने मे कथमपि समर्थ न हो सके। जिस प्रकार 'संवर' आस्रव का प्रतिपक्षी तत्त्व है, उसी प्रकार 'निर्जरा' भी बन्ध का विरोधी तत्त्व है। एक बात ध्यान देने की है। निर्जरा तो प्रतिक्षण होती रहती है। प्रत्येक क्षण में कर्म अपना फल पैदा कर जीर्ण होता रहता है, वह अपनेको समाप्त किया करता है, परन्तु तब भी मोक्ष की प्राप्ति नही होती, क्योंकि प्राचीन कर्म की समाप्ति हो जाने पर भी नवीन कर्म तो जीव में प्रवेश किया ही करते है। फलत: जीव का बन्ध समाप्त नहीं होता। इसके लिए सवरपूर्वक निर्जरा की नितान्त आवश्यकता है। दोनों तत्त्व मिलकर ही बन्ध को समाप्त करने में कृतकार्य होते है, अकेले नही।

७. **मोक्ष**—उमास्वामी की मोक्ष परिभाषा है—**कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः** सम्पूर्ण कर्मो के क्षय का नाम है मोक्ष। मोक्ष या मुक्ति मुच् धातु से निष्पन्न शब्द है, जिसका अर्थ ही है—छुटकारा। छुटकारा किससे ? बन्धन से। बन्धन क्यों ? कर्मो के द्वारा। फलत: समस्त कर्म को क्षय कर देने का ही नाम मोक्ष या मुक्ति है। मोक्ष-दशा में जीव अपने स्वाभाविक स्वरूप को पा लेता है और उसमें **'अनन्त चतुष्टय'** की सद्य: उत्पत्ति हो जाती है, जिनके नाम है—१. अनन्त ज्ञान, २. अनन्त वीर्य, ३ अनन्त दर्शन तथा ४. अनन्त सुख। कैवल्य प्राप्त करनेवाला जीव इस भूतल पर निवास करता हुआ समाज के परम मंगल के साधन में लगा रहता है। वह स्वयं मुक्त हो जाता है और अन्य जीवों को भी मुक्त होने के लिए आशा

का सन्देश दिया करता है। ये ही केवली-मुक्त सिद्ध पुरुष धर्म के प्रवर्तक होते है और इसीलिए ये 'तीर्थकर' के अभिधान से पुकारे जाते है।

जैनधर्म में ईश्वर

प्रश्न यह है कि जैन-दर्शन ईश्वर की बहुलमान्य सत्ता को स्वीकार करता है या नहीं। ईश्वर वही कहलाता है जो '**कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुं समर्थः**' अर्थात् जो किसी वस्तु के करने में,उसके न करने में तथा उसे अन्यथा करने में समर्थ होता है। ब्राह्मण धर्म में ऐसा ही ईश्वर माना जाता है, जो स्वतन्त्र तथा सर्वशक्तिमान् होता है। परन्तु जैन-दर्शन मे इस प्रकार के ईश्वर के लिए कोई स्थान नही है। वह अनादि-सिद्ध परमात्मा की सत्ता कथमपि नही मानता। ऐसे परमात्मा की कल्पना जैन-मत में नही है। परन्तु वहां एक नही, प्रत्युत अगणित ईश्वर है। जैन-मत में अर्हन्तपद और सिद्ध-पद को प्राप्त कर लेनेवाले जीव ही 'ईश्वर' पद के द्वारा अभिहित किये जाते है। अनादिकाल से जीव कर्मबन्धन मे जकड़ा हुआ है। चार प्रकार के घाती कर्मों का नाश करके जीव सर्वज्ञ या सिद्ध बन सकता है। मौलिक रूप में, प्रत्येक जीव में अनन्त चतुष्टय की सत्ता रहती है अर्थात् प्रत्येक जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से स्वतः सम्पन्न होता है, परन्तु कर्मो के कारण ये गुण अन्तर्हित से रहते है। जब वह घाति कर्मो का नाश कर देता है, तब पूर्वोक्त अनन्तचतुष्टय से सम्पन्न हो जाता है। ऐसे विशुद्ध आत्मा को 'अर्हन्त' या 'अरिहन्त' कहते हैं। कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने के कारण यह 'जिन' भी कहलाता है। वह विश्व की समस्त वस्तुओ को अतीत, वर्तमान तथा भविष्य को, सूक्ष्म, स्थूल तथा व्यवहित को जान लेता है और इसलिए वह 'सर्वज्ञ' कहलाता है। उस व्यक्ति का ज्ञान और दर्शन आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य सहायक की अपेक्षा नही रखता। इसलिए वह 'केवली' भी कहलाता है। यह जीवन्मुक्त होता है। सिद्धों का पद अरिहन्तों से बढकर माना जाता है। अरिहन्त कर्मबन्धनों से सर्वथा सब प्रकार से मुक्त नहीं होते, परन्त सिद्ध कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्त होते हैं।

तीर्थंकर

जैनधर्म में यदि कोई ईश्वर है तो वह अर्हन्त तथा सिद्ध पुरुष ही है, परन्तु उन्हे लोक-प्रचलित 'ईश्वरत्व' का अधिकारी मानना सर्वथा अनुचित है। ये ईश्वर ससार से किसी प्रकार का सम्बन्ध नही रखते। न ये सृष्टि की रचना करते है, न उसका सचालन (जैन-मत मे सृष्टि स्वयंसिद्ध वस्तु है। अतः उसके लिए किसी रचयिता की आवश्यकता नहीं होती), न ये कर्म-फल के दाता है, न स्तुति से प्रसन्न होते है,न निन्दा से अप्रसन्न। प्रत्युत वे अपने कर्म-बन्धनों का नाश कर अपने अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न होकर स्वतन्त्रता से विचरण करते है। अन्य धर्मों मे ईश्वर का जो महनीय गौरवमय पद है, वह जैन-मत में 'तीर्थंकरों' को प्राप्त है। सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली में अन्तर है। सामान्य केवली अपनी ही मुक्ति की साधना से प्रसन्न रहता है। तीर्थंकर केवली अपनी मुक्ति पाने के साथ ससारी जीवों की मुक्ति के लिए, समस्त दुःखों से छुटकारा पाने के वास्ते, मार्ग बताता है। इसलिए जैनधर्म के उपदेशक महापुरुष 'तीर्थंकर' के नाम से अभिहित होते है। तीर्थंकर संख्या में चौबीस माने जाते है, जिनमे अन्तिम दो तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा वर्धमान महावीर ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप मे सर्वत्र समादृत किये जाते है। ब्राह्मण-धर्म में जो मान्यता राम-कृष्ण आदि अवतारो को है,जो आदर बौद्ध धर्म मे गौतम बुद्ध को है, वही मान्यता और वही आदर जैनधर्म मे इन तीर्थंकरों को है। इसमे आश्चर्य ही क्या है कि जैन लोग इन्हीको 'ईश्वर' के रूप मे पूजते है ?

जैन-पूजा विधान

जैनधर्म मे मूर्ति-पूजा का विधान अत्यन्त प्राचीन काल से पाया जाता है। जैनधर्म में पाच पद बहुत ही प्रतिष्ठित माने जाते है--

१. अर्हन्त, २. सिद्ध, ३. आचार्य, ४. उपाध्याय, ५. साधु। इन्हीं पांचों को 'पंच परमेष्ठी' की संज्ञा प्राप्त है। ये पांचों ही वन्दना, पूजा तथा अर्चना के पात्र होते है। इनके स्वरूप में पर्याप्त अन्तर है। जैसा ऊपर बताया गया है, अर्हन्त जीवन्मुक्त को कहते है। शरीर से रहित होनेवाले मुक्त सिद्ध कहे जाते है। जो साधु साधु-संघ के प्रधान होते हैं,

आचार का स्वय पालन करते है और संघ के अन्य साधुओं से उसका पालन करवाते है, वे 'आचार्य' होते है । जो साधु शास्त्र का अभ्यास स्वयं करके दूसरों को उसका अभ्यास करवाता है तथा धर्म का उपदेश किया करता है, वह होता है, उपाध्याय' । शांन्त, निःस्पृह, जितेन्द्रिय, अपरिग्रही व्यक्तियों को 'साधु' की उपाधि मिलती है ।

इन वन्दनीय पंच परमेष्ठी मे अर्हन्त या तीर्थंकर की ही विशिष्ट प्रतिमाएं जैन-मन्दिरों में स्थापित की जाती है । इनके पूजन का विविध विधान भी ग्रन्थो में किया गया है। यह पूजा-विधि वैदिक देवताओं की पूजा-विधि से ही बहुश. सादृश्य रखती है । पूजन का फल मोक्ष की प्राप्ति ही है। यही जीवन का चरम लक्ष्य है । द्रव्य-पूजा तथा भाव-पूजा--दोनो प्रकार की पूजा मे पहली बाह्य पदार्थो के द्वारा है और दूसरी मानसिक । दोनों के सयोग से ही पूजा-विधान की पूर्णता सम्पन्न होती है ।[1]

जैनदर्शन और धर्म की विशिष्टता

किसी भी धर्म की विशिष्टता जानने के लिए उसके आचार-मार्ग का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है । आचार-मार्ग के प्रतिपादन में ही तो धर्म का धर्मत्व निविष्ट रहता है । आचार ही प्रथम धर्म है—**आचारः प्रथमो धर्मः** । भारतवर्ष की पवित्र भूमि पर धर्म का दर्शन के साथ सामजस्य सदा से पूर्ण रूप मे स्थापित किया गया है । दर्शन का मूल्य है सैद्धान्तिक; धर्म का महत्व है व्यावहारिक । धर्म वही है, जिससे लौकिक उन्नति तथा पारमार्थिक कल्याण की सिद्धि हो । भारत के विद्वान् धर्म की महत्ता केवल ऐहिक जीवन के लिए ही नही मानते, प्रत्युत पारलौकिक कल्याण से उसका सम्बन्ध है । महर्षि कणाद के शब्दों में धर्म का लक्षण है—**यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** । पाश्चात्य देशों मे धर्म और दर्शन में पारस्परिक उग्र विरोध रहा है । वहां धर्म दर्शन का बाधक रहा है, साधक नही; विरोधी रहा है, सहायक नहीं । परन्तु भारतवर्ष मे धर्म और दर्शन में गहरी मैत्री

---

[1]**विशेष के लिए देखिये पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री कृत 'जैन धर्म' पृष्ठ १२३ से १३३**

रही है। दोनो का आविर्भाव इसीलिए हुआ है कि वे तीनो ताप से सतप्त जनता की शान्ति के लिए, क्लेशबहुल संसार से निवृत्ति पाने के लिए, आनन्दमय मोक्ष की सिद्धि के लिए, सुन्दर तथा निश्चित मार्ग का उपदेश देते है। दर्शन सिद्धान्त' का साधक है तो धर्म व्यवहार का प्रतिपादक हे। धर्म और दर्शन मे घनिष्ठ सामजस्य है, समन्वय है। बिना धार्मिक आचार द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शन की स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट किये धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है। धर्म का प्रासाद खड़ा करने के लिए दर्शन नीव रखता है। धर्म के सहयोग से भारतीय दर्शन की व्यापक व्यावहारिक दृष्टि है और दर्शन की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित होने के कारण भारतीय धर्म आध्यात्मिकता मे अनुप्राणित है तथा वह अपनेको तर्कहीन विचारों तथा विश्वासों से बचाने मे समर्थ हुआ है। दुःख की निवृत्ति की खोज से धर्म उत्पन्न होते है और दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति का एकमात्र उपाय यही दर्शन है। धर्म और दर्शन के इस मजुल समन्वय की भव्य झाकी हमे जैनधर्म मे विशेष रूप मे दीख पड़ती है।

जैनधर्म की महती विशिष्टता है—आचार पर विशेष आग्रह। धर्म के व्याख्याता तीर्थकर के सामने सबसे महत्वपूर्ण समस्या हे जगत् के दु ख का निवारण। जिधर भी दृष्टि डालिये उधर ही दुःखों का समुदाय तुमल तरगो के समान थपेड़ा मारकर हमारे जीवन-सिन्धु को क्षुब्ध बनाये रहता है। इस दुःख-क्षोभ से आत्मा को बचाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य है। प्रत्येक प्राणी की आत्मा अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, आदि महान् गुणो से विशिष्ट है। महावीर मनुष्य के स्वातन्त्र्य के उपासक हे। जिसमे अनन्त वीर्य भरा हुआ है, भला वह किसीका दास बन सकता है? परन्तु मनुष्य जगती-तल पर सर्वत्र ही दास बना हुआ है, कहीं वह बाह्य प्रभु की दासता में आबद्ध है तो कही अपनी वासनाओ की आन्तरिक दासता से जकड़ा हुआ है। इस दासता से आत्मा को उन्मुक्त करना ही जैन-शास्त्रों का उद्देश्य है। कर्म के कारण ही जीव को बन्धन प्राप्त होता है। कर्म ही दासता का कारण है। जैनधर्म में कर्म का विवेचन बडा ही सागोपांग है। समग्र कर्म का क्षय हो जाना ही मोक्ष कहलाता है—**कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः** (तत्वार्थसूत्र १०।३)

मोक्ष उत्पन्न होने से पहले केवल-उपयोग (सर्वज्ञत्व–सर्वदर्शित्व) की उत्पत्ति जैनशास्त्रों में अनिवार्य मानी गई है। कैवल्य के प्रतिबंधक चार प्रकार के कर्म होते है—मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय। इन सबमें मोहनीय सबसे अधिक बलवान है। अतः उसके नाश के बाद ही अन्य कर्मो का नाश शक्य होता है। मोह के प्रभुत्व की महिमा सब धर्मों में स्वीकार की गई है। योगदर्शन मे पचविधि क्लेशों मे अविद्या ही अन्य क्लेशो मे आदिम है; **अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः** (योगसूत्र १२।३) अविद्या का अर्थ है—अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्म मे क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्मबुद्धि रखना। पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग को नित्य मानना, परम बीभत्स अपवित्र शरीर को पवित्र मानना, दुःखदायी जगत् के पदार्थो मे सुख मानना तथा शरीर, इन्द्रिय और मन को आत्मा मानना—अविद्या के प्रत्यक्ष दृष्टान्त है। यही चतुष्पाद अविद्या क्लेश-सन्तान का बीज है तथा विचार के साथ कर्माशय की उत्पादिका है। पतजलि का स्पष्ट कथन है—**अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्** (योगसूत्र २।४)। बौद्धधर्म मे भी अविद्या को द्वादश निदानों मे आदिम निदान माना गया है। बौद्ध मत का मुख्य सिद्धान्त है—प्रतीत्यसमुत्पाद, जिसके अनुसार अविद्या ही सस्कार, विज्ञान, नामरूप आदि के उदय द्वारा जरा-मरण की उत्पादिका है। ठीक इसी भांति मोहनीय कर्मो का सर्वातिशायी प्रभुत्व होता है। विना इनके नाश हुए न अन्य कर्मों का नाश होता है और न तदुपरान्त केवलज्ञान का उदय ही होता है। अतः समग्र कर्मो का आत्यन्तिक क्षय होने से ही मुक्ति होती है। आत्यन्तिक का अर्थ है—पूर्वबद्ध कर्म का तथा नवीन कर्म के बाधने की योग्यता का अभाव। प्राचीन कर्मो के नाश के साथ-साथ नवीन कर्मो में बन्धन की शक्ति न होने पर ही मोक्ष माना जा सकता है। आत्यन्तिक क्षय का यही अर्थ है।

आत्मा को परमात्मा के रूप में परिणत कर देना ही जैनधर्म का लक्ष्य है। परमात्मप्रकाश के रचयिता योगीन्दु के अनुसार आत्मा के तीन स्तर होते है—१. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा, ३. परमात्मा। साधारण लोगों की दृष्टि मे यह शरीर ही आत्मा है—यही हुआ बहिरात्मा; शरीर, मन तथा इन्द्रिय से भिन्न, परन्तु मोहनीय आदि कर्मो के वशीभूत होनेवाला

जीव ही अन्तरात्मा के नाम से पुकारा जाता है। यही अन्तरात्मा साधन विशेषो के द्वारा वशीभूत होकर परमात्मा बन जाता है। परमात्मा कौन है ? इस आत्मा से अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नही। परमात्मा का रूप देखिये—

जो णिय-भाउ न परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ।
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ॥

—परमात्मप्रकाश १।१८

अर्थात्— जो अपने भाव—अनन्तज्ञान आदि नही छोडता, और जो दूसरे के भाव को ग्रहण नही करता, जो नियम से जगत्त्रय मे तीनों काल मे विद्यमान रहनेवाले समस्त पदार्थो को जानता है, वही शान्त स्वरूप शिव होता है। योगीन्दु का कथन है कि जैसे आकाश मे एक ही उदित नक्षत्र जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही जिसके केवलज्ञान मे जगत् प्रतिबिम्बित होता है वही अनादि परमात्मा होता है—

गयणि अणंति वि एक्क उडु जेहउ भुअणु विहाइ।
मुक्कहँ जसु पए बिम्बियउ सो परमप्पु अणाइ॥

—परमात्मप्रकाश १।३८

जैनियो के अनुसार परमात्मा जगत् के कर्तृत्व आदि गुणों से विशिष्ट आत्मा मे पृथक् नही होता (जैसा न्याय वैशेषिक मानता है) प्रत्युत अन्तरात्मा ही कतिपय विशिष्ट साधनों के द्वारा स्वय परमात्मा बन जाता है।

इन्ही साधनो के प्रतिपादन मे महावीर की शिक्षा का महत्त्व है। ससार मे दु ख की सत्ता इतनी बलवती है तथा पद-पद पर हमे आक्रान्त कर रही है कि उससे छुटकारे के लिए उद्योग करना प्रत्येक विवेकशील प्राणी का कर्तव्य हो जाता है। जैनधर्म के अनुसार इसका केवलमात्र उपाय है रत्न-त्रय का सम्पादन—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यकचारित्र। जैनधर्म के अनुसार दर्शन तथा ज्ञान का अन्तर खूब स्पष्ट रूप मे दिखलाया गया है। दर्शन है सच्ची श्रद्धा। जीवों के आध्यात्मिक विकास मे श्रद्धा की भूयसी प्रतिष्ठा है। गीता का महत्त्वपूर्ण वचन है—**यो यच्छ्रच्छः स एव सः**—जो मनुष्य जिस वस्तु की श्रद्धा रखता है, वह वही बन जाता है। श्रद्धा के

आधार पर ही ज्ञान प्रतिष्ठित होता है और इस ज्ञान का उपयोग है चारित्र में। सदाचार के द्वारा साधक भविष्य में होनेवाले नवीन कर्मों को रोक लेता है और इसीके अंगभूत तपस्या के बल पर वह करोड़ों जन्मों के पापों को क्षीण कर देता है। तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का होता है शोषण और चरित्र के द्वारा नवीन कर्मों का प्रतिरोध। इस प्रकार जीव कर्म-प्रपञ्च से बचकर आत्मकल्याण की ऊंची चोटी पर पहुंचने में समर्थ होता है। भगवान महावीर का स्वयं उपदेश है—

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगण्हइ तवेण परिसुज्झइ॥

समन्वय बुद्धि जैनधर्म में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। वह किसी भी धर्म से न तो विरोध रखता है और न किसी दार्शनिक दृष्टि का अपलाप करता है। वह 'स्याद्वाद' के महनीय सिद्धान्त के द्वारा समग्र सिद्धान्तों में सामंजस्य का पक्षपाती है। जैन मतानुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है—**अनन्त धर्मात्मकमेव तत्त्वम्।** कोई भी वस्तु अनन्त धर्मों का समुच्चय होती है। मानव-बुद्धि केवल एक-दो धर्मों को जानकर उसीकी सत्ता पर आग्रह दिखलाती है, परन्तु वस्तुस्थिति पर विचार करने से प्रत्येक ज्ञान का सापेक्ष होना ही न्याय-संगत प्रतीत हो रहा है। साधारणतया ज्ञान तीन प्रकार के होते हैं—१. दुर्णय, २. नय, ३. प्रमाण। यदि विद्यमान होनेवाली किसी वस्तु को हम विद्यमान ही (सदैव) बतलाये, तो उनके अन्य प्रकारों के निषेध करने के कारण यह ज्ञान दुर्णय (दुष्ट नय) के नाम से पुकारा जाता है। अन्य प्रकारों का बिना निषेध किये वस्तु को सद् (विद्यमान) बतलाना आंशिक ज्ञान से संबलित 'नय' कहलायेगा। विद्यमान वस्तु के विषय में 'सम्भवतः यह है' (स्यात् सत्)[1] यही ज्ञान वस्तुतः सच्चा है, क्योंकि इसमें वस्तु के ज्ञात और अज्ञात समस्त

[1] **'दृष्टि विशेष की अपेक्षा से'—स्यात् शब्द का अर्थ लेना उचित है। स्याद्वाद-सिद्धान्त किसी वस्तु-विवेचना को 'यह ही है' कहकर एकान्त पक्ष में जिज्ञासु को नहीं डालता; बल्कि वह स्पष्ट रूप से—'सम्भवतः' नहीं, वस्तु-विवेचना के रूप-विशेष को 'यह भी है' निर्दिष्ट करके पूर्ण सत्य के दर्शन कराता है।**

धर्मों का एकत्र सकलन हो जाता है—यही है प्रमाण। 'स्याद्वाद' ही सच्चा प्रमाण है। स्याद्वाद के मानने के कारण जैनधर्म की दृष्टि अतिशय व्यापक तथा समन्वयी प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए उसकी आत्माविषयक कल्पना को हम ले सकते हैं। आत्मा को कुछ दार्शनिक 'सर्वगत' मानते है, कुछ 'जड' मानते है, बौद्ध लोग शून्य मानते है और जैन लोग उसे देह-प्रमाण मानते है। ये भिन्न-भिन्न दृष्टिया व्यवहार नय का फल है, परन्तु यदि 'निश्चय नय' से विचार किया जाय, तो आत्मा यह चारो स्वय है। इस विषय मे योगीन्दु का कथन महावीर के 'स्याद्वाद' दृष्टि का ही प्रतीक है—

अप्पा जोइय सव्वगउ अप्पा जडु वि वियाणि।
अप्पा देह-पमाणु मुणि अप्पा सुण्णउ वियाणि॥

—परमात्मप्रकाश १।५१

आगे के अनेक दोहो के द्वारा लेखक ने इस दोहा के समन्वयवाद का प्रमाणपुर सर वर्णन किया है। यह समन्वय अन्यत्र मिलना नितान्त दुष्कर है।

महावीर के उपदेश की महत्ता इस कारण विशेष है कि वे उनके स्वानुभव पर अवलम्बित है। विद्वान् तथा यति के उपदेश का अन्तर तो यही कारण होता है। विद्वान् का ज्ञान पुस्तक के आधार पर ही अवलम्बित रहता है। वह उसकी सत्यता की परीक्षा स्वानुभूति की कसौटी पर कभी नही करता। **'यथाश्रुतं तथा निवेदतम्'**—बस उसका यही महामन्त्र होता है, परन्तु यति या साधु-सन्त का उपदेश अपने निज अनुभव के ऊपर ही अवलम्बित रहता है। इसीलिए उसमे प्रभावोत्पादन की महती शक्ति है। परमार्थ का मुख्य प्रमाण है —स्वानुभूति—**स्वानुभूत्येक मानय मन: शान्तायतेजसे।** अपनी अनुभूति ही परमार्थ की सत्ता के लिए मुख्य प्रमाण है। महावीर की शिक्षाए स्वानुभूति की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित है, इसीलिए उनमे इतना जोर दिखाई पडता है, इतनी प्रभावशालिता दीख पड़ती है। एक-दो उदाहरण देखिये—

कुसग्गे जह ओस बिंदुए
कोवं चिट्ठइ लंबमाणए।

एवं मानुसाण जीविअं
समयं गोयम ! मा पमायए ।।

आशय है कि हे गौतम, जैसे घास के अग्रभाग पर तरल ओस की बूद थोड़े ही समय तक टिक सकती है, वैसे ही शरीरधारियों का जीवन है। अत थोड़े से समय के लिए भी प्रमाद मत करो। इस गाथा की उपमा इतनी सुन्दर, सटीक तथा सरस है कि यह उपदेश चित्त पर गहरा प्रभाव जमाता है। स्मरण रखना चाहिए कि जीवन की असारता की शिक्षा हृदय पर इतनी चोट करती है कि कहा नही जा सकता। इस असारता को हृदयगम बनाने के लिए कुश के सिरे पर लटकनेवाले ओस-बिन्दु की उपमा बड़ी ही सुन्दर है। इसके भीतर स्वानुभूति का पर्याप्त पुट है।

महावीर ने त्याग के महनीय गुणों की ओर साधको की दृष्टि फेकी है। आर्यसस्कृति के मूल मे यही सर्वातिशायी पदार्थ है-त्याग। वैदिक ऋषि कहते है--

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

त्याग से धन को भोगो। किसीके धन को खसोटने का लालच न करो। अन्य धर्मवालो की दृष्टि स्वधन को अपने कार्य मे लगाने के प्रति है। और आजकल मानव-समाज दूसरे के धन को लूट-पाटकर अपने स्वार्थ मे लगाने का ही पक्षपाती है। आधुनिक ससार की मनोवृत्ति का क्या यह सच्चा वर्णन नही है? परन्तु भारतीय सस्कृति का आधार यह नही है। अन्यत्र दिखलाया गया है कि भारतीय संस्कृति जिन तीन तकारो--त्याग, तप और तपोवन--पर आश्रित रहती है, उनमे त्याग' ही मुख्य तथा सर्वातिशायी है। महावीर स्वामी त्याग की बड़ी ही सुन्दर परिभाषा बतलाते है--

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ ति वुच्चइ ।।

गृहस्थाश्रम मे रहते हुए भी जो मनुष्य सुन्दर तथा प्रिय भोगो को प्राप्त करके भी उनकी ओर पीठ करता है अर्थात् उन भोगों में अलिप्त रहता है, इतना ही नही, अपने अधीन होनेवाले भोगों को भी वह छोड़ता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है। अप्राप्त तथा अप्राप्य भोगों का परित्याग

करनेवाले कहा नही है ? न मिलनेवाले अगूर को खट्टा बतानेवाली लोमडी किस समाज मे नही होती ? परन्तु यह व्यक्ति त्यागी नही है ! त्याग के लिए आवश्यक होता है--ज्ञानपूर्वक वस्तुप्रहाण। यह पूर्ण ममता के परित्याग तथा पूर्ण वैराग्य के होने पर ही सभव होता है। इसी प्रसंग मे महावीर ने इन्द्रियासक्ति का सुन्दर दृष्टान्तो के द्वारा वर्णन किया है। वह नितान्त हृदयावर्जक है। एक-एक इन्द्रिय के वश मे पड़ा हुआ जीव अपना विनाश प्राप्त करता है। उस मनुष्य को क्या कहा जाय, जो पांच इन्द्रियो के पाश मे जकडा हुआ अपना हतजीवन व्यतीत करता है ?

महावीर की शिक्षा मे अहिसा का स्थान बडा ही ऊचा है। आजकल ससार हिसा का क्रीड़ा-निकेतन बना हुआ है। जिधर देखिये उधर ही हिसा देवी का प्रचण्ड ताण्डव लोगो के हृदय मे उन्माद उत्पन्न कर रहा है। ससार को इस घनघोर विनाश से बचाने का एक ही मार्ग है और वह है अहिंसा-व्रत का पालन। 'अहिसा' का प्रयोग हम व्यापक अर्थ मे कर रहे है! प्राणियो के प्राणनाश को ही हम हिसा नही मानते, प्रत्युत हिसा का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। मनसा वाचा कर्मणा तीनों के द्वारा हिसा-निवृत्ति ही महावीर स्वामी को मान्य है। महावीर के वचन है--

एव खु नाणिणो सार, जं ण हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया॥

इस प्रकार महावीर ने त्याग तथा तपस्या के आचरण पर तथा अहिंसा व्रत के पालन पर विशेष महत्त्व दिया है। ये ही भारतीय सस्कृति के मूल आधार है। इन्हीके ऊपर हमारी प्राचीन अथ च मृत्युञ्जय सभ्यता आज भी टिकी हुई है। भारतीय धार्मिक परम्परा का ही निर्वाह हमे महावीर की शिक्षा मे मिलता है। उपनिषदों मे प्रतिपादित सिद्धान्तो को ग्रहण कर उन्होने अपने मत का परिष्कार किया। महावीर तो अन्तिम तीर्थकर है। उनसे प्राचीन तेईस तीर्थकरों ने भिन्न-भिन्न समयों मे इस धर्म का भव्य उपदेश प्राणियो के हितार्थ किया। आजकल के इतिहासज्ञ इन समस्त तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता में विश्वास नही करते, परन्तु प्रथम तीर्थकर ऋषभनाथ को ऐतिहासिक व्यक्ति मानना ही पड़ेगा। श्रीमद्-भागवत के पांच स्कन्द (अ० ४-६) मे ये मनुवशी राजा नाभि तथा महारानी

मरुदेवी के पुत्र बतलाये गए है । इनके सिद्धान्त का जो वर्णन यहां उपलब्ध होता है, वह जैनधर्म के सिद्धान्तों से मेल खाता है। ऋषभ के ही ज्येष्ठ पुत्र भरत (या जड़ भरत) के नाम से यह देश 'भारतवर्ष' के नाम से विख्यात है । अत. ऋषभनाथ को ऐतिहासिक व्यक्ति मानना नितान्त उचित है। इन्हीकी परम्परा महावीर के सिद्धान्तो मे अभिव्यक्त होती है। हम महावीर के मत को उपनिषन्मूलक धर्मों से पृथक् नही मानते। जिस प्रकार हिमालय मे स्थित मानसरोवर से निकलकर विभिन्न जलधाराएं इस भारत भूमि को आध्यापित तथा उर्वर बनाती है, उसी प्रकार उपनिषदों से विभिन्न विचारधाराए निकलकर इस देश के मस्तिष्क को पुष्ट तथा तृप्त करती है। भारतवर्ष मे पनपनेवाले समग्र धर्म-वृक्षो के मूल मे विराजनेवाली है यही उपनिषत्—ब्रह्मविद्या और इसी ब्रह्मविद्या के आधार पर उगनेवाले जैनधर्म का यह कल्पद्रम है, जिसकी शीतल छाया मे जाकर मानव मात्र कल्याण साधन कर सकता है। महावीर का यह उपदेश कभी न भूलना चाहिए--

जर जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ।।

—जबतक बुढापा नही सताता, जबतक व्याधिया नही बढती, जबतक इन्द्रिया हीन-अशक्त नही बनती, तबतक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए। उसके बाद होता ही क्या है ? बहुत ही ठीक है यह कथन, परन्तु इसका उपयोग तब हो सकता है, जब इसको व्यवहार में लाकर इसके अनुसार अपना जीवन बनाया जाय। बिना क्रिया के ज्ञान बोझ ही है **'ज्ञानं भारः क्रियां विना'**। महावीर के उपदेश का संकेत इसी ओर है।

: ३ :

बौद्ध-दर्शन

बौद्ध धर्म विश्व के महनीय धर्मों मे अन्यतम है तथा बौद्ध-दर्शन संसार के प्रख्यात तत्त्वज्ञानीय सम्प्रदायो में एक प्रमुख विचारधारा का प्रतिनिधि है। भगवान् बुद्ध इसी भारत-भूमि पर अवतीर्ण हुए और उन्होने अपने समय की परिस्थिति का निरीक्षण कर जिस धर्म का चक्र-प्रवर्तन (आरम्भ) किया, वह इतना सजीव, इतना व्यावहारिक तथा इतना मगल-साधक था कि आज ढाई हजार वर्षों के अनन्तर भी उसका प्रभाव मानव-समाज पर तनिक भी कम नही हुआ है। एशिया के केवल एक छोटे-से पश्चिमी भाग को छोडकर इस विस्तृत भूखण्ड पर, जिसमे चीन, जापान, कोरिया, मगोलिया, बर्मा, थाइलैण्ड, हिन्दचीन, श्रीलका आदि देश सम्मिलित है, इसकी प्रभुता अतुलनीय है। आज के विद्वानो ने यह धारणा बना रखी है कि बौद्ध धर्म नैराश्यवादी है, क्योकि इसके द्वारा उद्घाटित आर्यसत्यो मे 'दु ख' ही प्रथम सत्य के रूप में गृहीत किया गया है, परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। यह सच है कि बुद्ध ने जीवन की समस्याओ के विश्लेपण मे 'दुःख' की सत्यता मानी है, परन्तु साथ-ही-साथ उन्होंने दु:ख के 'समुदय' (कारण) तथा दु ख के 'निरोध' (निर्वाण) को बतलाकर उस मार्ग का स्पष्टत: प्रतिपादन किया है, जिसपर चलने से निर्वाण की प्राप्ति होती है। इस प्रकार मनुष्य की स्वतन्त्रता, स्वावलम्ब तथा महत्ता का प्रतिपादन करना बौद्ध-धर्म की महती विशिष्टता है। इस धर्म ने करोडों प्राणियों का मंगल-साधन किया है तथा आज भी उनके आत्यन्तिक कल्याण की साधना में लगा हुआ है। विश्व में धर्मानुयायियों की गणना की दृष्टि से विचार किया जाय तो बौद्ध-धर्म ही सर्वप्रथम ठहरता है। ईसाई धर्म के इतने विभिन्न सम्प्रदाय है कि विद्वानों की दृष्टि मे वह एक धर्म न होकर, अनेक और परस्पर-विरोधी सम्प्रदायो का एक विराट समुच्चय मात्र है।

बुद्ध का जीवन-चरित

बुद्ध का जन्म आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व प्राचीन कोशल जनपद (वर्तमान उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग मे स्थित) के मुख्य नगर कपिलवस्तु में हुआ था। इनके पिता का नाम था राजा शुद्धोदन, जो शाक्य गणतन्त्र के मुखिया थे। माता का नाम था महामाया, जो पुत्र-जन्म से छः या सात दिनों के बाद ही परलोक सिधार गई और इनके पालन का भार इनकी विमाता प्रजावती गौतमी पर पडा। इनका बचपन का नाम सिद्धार्थ था। विवाह कर देने पर भी इनका चित्त विषयों के चाकचिक्य में कभी नही रमा। महल से बाहर घूमने के समय इन्होने चार बार में चार व्यक्तियो को देखा—एक वृद्ध पुरुष, रोगी, शव (मुर्दा) तथा सन्यासी। उसी समय इन्होने उन्तीस साल के वय मे युवा पत्नी के प्रेममय आलिगन को, नवजात शिशु के छोह को तथा बडे साम्राज्य के वैभव को लात मारकर विरक्त होकर जंगल का रास्ता लिया। सिद्धार्थ का यह गृहत्याग 'महाभिनिष्क्रमण' के नाम से प्रसिद्ध है। ये जगल मे भटकते रहे और 'आराडकलाम' तथा 'रुद्रक रामपुत्र' नामक विद्वानों से इन्होंने तत्त्व-ज्ञान तथा योग-साधना की प्रक्रिया सीखी। छः सालों तक इन्होंने कठिन तपस्या के द्वारा सुखाकर अपने शरीर को काटा बना दिया, परन्तु इन्हे अपने अभीष्ट ज्ञान (सबोधि) की प्राप्ति नही हुई। तब इन्होने गया के पास 'उसवेला' नामक स्थान मे समाधि के द्वारा आर्यसत्यो का साक्षात्कार किया और उसी दिन से (४७१-विक्रम पूर्व, वैशाखी पूर्णिमा) ये बुद्ध (जगा हुआ) कहलाने लगे। उस समय सिद्धार्थ केवल पैंतीस साल के नवयुवक थे। उसी वर्ष की आषाढ़ी पूर्णिमा को उन्होंने काशी के समीप मृगदाव (वर्तमान सारनाथ) में कौण्डिन्य आदि पचवर्गीय भिक्षुओं के सामने अपने धर्म का प्रथम उपदेश किया, जो 'धर्मचक्रप्रवर्तन' के नाम से बौद्ध साहित्य में प्रसिद्ध है।

इसके अनन्तर इन्होने अपनी शेष आयु धर्म के विपुल प्रचार तथा प्रसार में बिताई। इन्होंने अपने शिष्य भिक्षुओ को एक सूत्र में संगठित करने के लिए संघ की स्थापना की और भिक्षुओ के आचार के निमित्त विनय का उपदेश दिया, जो 'विनयपिटक' नामक पालिग्रन्थ में सगृहीत है। जनता के हृदय तक सीधे पहुचने के लिए इन्होंने अपने उपदेशों को लोकभाषा के

द्वारा देना स्वीकार किया, जो आजकल 'पाली भाषा' के नाम से प्रसिद्ध है। अस्सी साल की आयु मे ४८६ विक्रमपूर्व वैशाखी पूर्णिमा को कुशीनगर (आजकल 'कसिया', जिला गोरखपुर) मे बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया। बौद्ध धर्म के इतिहास में वैशाखी पूर्णिमा बडी पवित्र मानी जाती है, क्योंकि इसी तिथि को बुद्ध के जीवन की तीन महनीय घटनाए घटीं—उनका जन्म, सबोधि (ज्ञान-प्राप्ति) तथा निर्वाण (मोक्ष)। इसीलिए बौद्ध देशो मे वैशाखी का पर्व बड़े उत्साह, उल्लास तथा श्रद्धा के साथ मनाया जाता है। बौद्धधर्म के चार तीर्थ-स्थल है—१ लुम्बिनी जहा गौतम का जन्म हुआ था, २. बोधगया, जहा उन्हे सबोधि प्राप्त हुई; ३. सारनाथ, जो उनके उपदेश का प्रथम स्थान था तथा ४. कुशीनगर, जहा बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हुआ। आज भी संसार भर के बौद्ध यात्री इन तीर्थो के दर्शन करके पुण्यसभार का अर्जन करते है तथा अपने को भाग्यशाली मानते है। इन तीर्थो मे बोधगया को छोडकर तीनो तीर्थ उत्तर प्रदेश के ही पूर्वी भाग मे है। बोधगया बिहार राज्य मे एक प्रख्यात नगर है।

बौद्ध साहित्य

बौद्धधर्म की दो प्रधान शाखाए या सम्प्रदाय है—१ हीनयान तथा २. महायान। इनमे हीनयान के मत का वर्णन पाली भाषा में निबद्ध त्रिपिटकों में उपलब्ध होता है। यह मत थेरवादी या स्थविरवादी भिक्षुओं का है, जो आजकल लंका, स्याम, बर्मा आदि देशों में पाये जाते है। महायान के आधारभूत ग्रन्थ सस्कृत में रचित है। इस साहित्य का संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जाता है।

पिटक का अर्थ है पिटारी अर्थात् सग्रह। बुद्ध के वचन तीन पिटकों में सगृहीत है, जो विषय की विशिष्टता लेकर विरचित हैं।

१. सुत्तपिटक —इसमे बुद्ध के उपदेश संगृहीत है। इसके पांच निकाय हैं—(क) दीघनिकाय, (ख) मज्झिमनिकाय, (ग) संजुत्तनिकाय, (घ) अगुत्तर निकाय तथा (ङ) खुद्दक निकाय। अन्तिम निकाय में पंद्रह छोटे-छोटे ग्रन्थ सम्मिलित किये जाते है, जिनमे 'धम्मपद' तथा 'जातक' अत्यन्त

लोकप्रिय और प्रसिद्ध है। जातक बुद्ध के प्राचीन जीवन से सम्बद्ध पाच सौ पचास कथाओ का एक विराट संग्रह है और 'धम्मपद' चार सौ तेईस उपदेशात्मक गाथाओं का एक बडा ही रोचक ग्रन्थ है। बौद्धों के अनुसार बुद्ध के उपदेश इसी ग्रन्थ में सक्षेप में दिये गए है। यह मान्यता सत्य प्रतीत होती है, क्योंकि बौद्ध-दर्शन के और बौद्ध जीवन-पद्धति के प्रमुख सिद्धान्तों की यहा विवेचना की गई है। इसमें भी अन्य बौद्ध ग्रन्थों की भांति यज्ञ-याग तथा आत्मप्रपीड़क हठ-योगो की निन्दा है। इसका विशेष आग्रह शील पर है। यह छोटी-सी पुस्तक साहित्यिक गुणो से परिपूर्ण है। एक गाथा में कहा गया है कि धर्म-ग्रन्थों का कितना ही पाठ करे, लेकिन यदि प्रमाद के कारण मनुष्य उन धर्मग्रन्थो के अनुसार आचरण नही करता, तो दूसरों की गायें गिननेवाले ग्वालों की तरह वह श्रमणत्व का भागी नही होता (गाथा १९)

२. **विनयपिटक**—'विनय' का अर्थ है नियम। इस पिटक मे भिक्षु और भिक्षुणियों के आचार तथा व्यवहार-सम्बन्धी नियम दिये गए है। इन नियमों का यथावत् पालन न करने से प्रायश्चित्त भी करना पडता है। पालिरूप मे यह पिटक पांच भागो मे विभक्त है --

(अ) खन्धक (१) महावग्ग
(२) चुल्लवग्ग।
(आ) सुत्तविभंग (३) पाराजिका से निस्सग्गिय तक
(४) पाचित्तिय से सेखिय तक और भिक्खुणी-विभग
(५) परिवार।

इसमे पातिमोक्ख सुत्त (संस्कृत मे 'प्रातिमोक्षसूत्र') विनयपिटक का मुख्य सार है। पालिपिटक का यह सबसे पुराना अश है, क्योंकि इसकी भाषा निकायो की भाषा से भी प्राचीन है।

३. **अभिधम्मपिटक**—इस पिटक का नाम 'अभिधर्म' है। इसके अनेक कारण असंग ने एक कारिका में बतलाये है। सत्य, बोधि, विमोक्ष, सुख आदि के उपदेश देने के कारण इसमे निर्वाण के अभिमुख धर्म प्रतिपादित है; एक ही धर्म के अनेक प्रभेद बतलाये गए है। दूसरे मतों के खण्डन करने के कारण तथा सुत्तपिटक के सिद्धान्तों की उचित व्याख्या करने के कारण यह

नामकरण किया गया है—

अभिमुखतोऽथाभीक्ष्ण्यादभिभवगतितोऽभिधर्मश्च ।

—महायान सूत्रालंकार ११।३

इसके सात विभाग है--धम्म सगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपंञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान । सच तो यह है कि जहा सुत्तपिटक आचार-मार्ग का प्रतिपादन करता है, विनयपिटक व्यावहारिक नियमों का तथा उनके प्रायश्चित्तों का विवरण देता है, वहा अभिधम्मपिटक बौद्ध तत्त्व-ज्ञान तथा मनोविज्ञान का प्रचुरता से वर्णन करना है। फलतः दार्शनिक दृष्टि से इसका त्रिपिटक मे प्रमुख स्थान है ।

महायान के आचार तथा तत्त्व-ज्ञान कतिपय प्राचीन सस्कृत मे रचित सूत्रो के आधार पर आश्रित है, जिनमे नौ ग्रन्थों की प्रमुखता है—

१. सद्धर्म पुण्डरीक, २. प्रज्ञा पारमिता सूत्र, ३. गण्डव्यूह सूत्र, ४. दशभूमिक सूत्र, ५. रत्नकूट, ६. समाधिराज सूत्र, ७. सुखावती व्यूह, ८. सुवर्णप्रभास सूत्र तथा ९. लकावतार सूत्र । इनमे आदिम तथा अन्तिम ग्रन्थ अपने सिद्धान्त-प्रतिपादन के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण माने जाते है । 'सद्धर्म पुण्डरीक' संस्कृत गद्य और पद्य का मिश्रण है, जिसमें गद्य की भाषा तो विशुद्ध संस्कृत है, परन्तु पद्य की भाषा मिश्रित सस्कृत है--सस्कृत तथा पालि का मिश्रित रूप । यह ग्रन्थ उस युग की रचना है जब हीन-यान महायान के रूप में संक्रमण कर रहा था । फलतः यह बौद्धधर्म की सक्रान्ति का सूचक ग्रन्थ है । इसलिए इसमें कतिपय सिद्धान्तों की मान्यता केवल हीनयानियों में है और अन्य सिद्धान्तों की मान्यता महायानियों को स्वीकृत है । 'लंकावतार सूत्र' विज्ञानवादियों का प्रमुख ग्रन्थ है, जिसमें विज्ञान या चित्त ही एक सत्ता के रूप मे प्रदर्शित किया गया है । मैत्रेयनाथ ने इसी ग्रन्थ से विज्ञानवाद के तथ्य को पल्लवित तथा प्रतिष्ठित किया । ये तो प्राचीन सूत्र है, जो महायानियो को सामान्यतः मान्य तथा स्वीकृत है । महायानियों के दो प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदाय थे । १. विज्ञानवाद अथवा योगाचार; २. माध्यमिक अथवा शून्यवाद । इन मतों के आचार्य भिन्न-भिन्न हुए, जिन्होंने अपने प्रौढ ग्रन्थ लिखकर विशिष्ट मत का प्रति-पादन किया ।

वज्रयान का भी अपना विपुल साहित्य है, जो तन्त्र के ऊपर आधारित है। स्थानाभाव के कारण इस मत का प्रतिपादन इस छोटे ग्रंथ मे नहीं किया गया है।

बुद्ध की शिक्षा

तथागत बुद्ध का जीवन-दर्शन आचार से सम्बन्ध रखता है। क्लेश-बहुल प्रपंच से मुक्ति पाने का सरल मार्ग है आचार का यथावत् पालन। बुद्ध से उनके शिष्य जब अध्यात्म के रहस्यमय गूढ विषयो पर प्रश्न करते थे, तब बुद्ध कोई उत्तर न देकर मौन हो जाया करते थे। इस मौनावलम्बन का अर्थ यह है कि ये 'अतिप्रश्न' है, जिनका प्रतिपादन करना जितना दुरूह है उतना ही अनावश्यक है। इस विषय मे बुद्ध ने बड़े सुन्दर दृष्टान्त तथा उपमाएं दी है। ब्राह्मणों के आत्मवाद के विषय में 'दीघ-निकाय' के 'पोट्ठपाद सुत्त' में उनका कथन है कि आत्मा को स्वर्ग में सुख भोगते हुए किसने देखा ? बिना देखे उसकी चाह रखना नितान्त उपहासास्पद है। बुद्ध के वचन है—कोई पुरुष ऐसा कहे कि 'इस जनपद में जो जनपद कल्याणी (देश की सुन्दरतम स्त्री) है, मै उसे चाहता हू।' इसपर लोग उससे पूछते हैं कि जिस स्त्री की तू इच्छा करता है, वह क्षत्रियाणी है, ब्राह्मणी है, वैश्यस्त्री है या शूद्री है ? अमुक नामवाली या अमुक गोत्रवाली है; लम्बी, छोटी या मझले कद की है ? ऐसे प्रश्न का उत्तर यदि वह 'नही' कहता है, तो उसके वचन को कोई प्रमाण मान सकता है ? नही, कभी नही। इसी प्रकार आत्मवादी ब्राह्मणों के वचन भी प्रमाण नही माने जा सकते। दूसरा दृष्टान्त तो इससे कही अधिक रोचक और सुन्दर है। कोई पुरुष महल पर चढ़ने के लिए चौरस्ते पर सीढी बनावे। तब उसको लोग यह कहे—"हे पुरुष जिस प्रासाद के लिए तू सीढी बनाता है, जानता है वह प्रासाद पूर्व दिशा मे है, दक्षिण दिशा मे, पश्चिम दिशा में या उत्तर दिशा में है ? ऊंचा, नीचा या मझोला है ? ऐसा पूछने पर 'नही' कहे। उसको यह कहे—'हे पुरुष, जिसको तू नहीं जानता, तूने नही देखा, उस प्रासाद पर चढ़ने के लिए सीढ़ी बना रहा है ?' यदि ऐसा पूछने पर

वह हां कहे तो क्या उसका वचन प्रमाणरहित नहीं हो जाता ?

—दीघ-निकाय पृष्ठ ७३

इन उदाहरणों की सहायता से गौतम बुद्ध यह दिखलाना चाहते हैं कि ब्राह्मण-दर्शन में प्रतिपादित 'आत्मा' नामक कोई पदार्थ नहीं है; क्योंकि जब आत्मा को किसीने देखा नहीं, सुना नहीं, अनुभव नहीं किया, तब उसकी सत्ता में कैसे विश्वास किया जाय ? परलोक में उस आत्मा को सुखी बनाने के लिए जो उपाय किये जाते है, वे निरर्थक नहीं तो क्या है ? जब मूल ही नहीं, तब उसे सींचने के लिए उद्योग करना भी उपहास की ही बात है।

श्रावस्ती के जेतवन में विहार करने के अवसर पर मालुंक्यपुत्त ने बुद्ध से दस मेण्डक प्रश्नों को पूछा कि लोक शाश्वत है ? अशाश्वत है ? अन्तवान् है ? या अनन्त है ? जीव शरीर से भिन्न है या अभिन्न है ? आदि आदि। इसके उत्तर में गौतम ने इन प्रश्नों को 'अव्याकृत' (व्याख्या के अयोग्य) बताया, क्योंकि इन प्रश्नों के उत्तर से आचार-मार्ग की कोई भी समस्या नहीं सुलझती। आचार-मार्ग के लिए उपयोगी साधन है वैराग्य, उपशम, अभिज्ञा (=लोकोत्तर ज्ञान) तथा संबोधि (=परमोत्कृष्ट ज्ञान)। उक्त प्रश्नों का उत्तर इनके उत्पादन में तनिक भी सहायता नहीं करता। फलतः इनका उत्तर देना व्यर्थ और निरर्थक है। इस विषय में गौतम ने बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। कोई व्यक्ति विष से बुझे बाणों से घायल होकर पीड़ा के मारे बेचैन होकर कराहता हो, और उसके हित-चिन्तक सम्बन्धी चिकित्सा के लिए किसी विष-वैद्य को बुलाने के लिए जा रहे हों। उस समय वह रोगी पूछ बैठता है कि वैद्य का नाम क्या है ? उनका गोत्र कौन-सा है ? उनका रंग कैसा है, उनका रूप कैसा है ? इन प्रश्नों के उत्तर पाये बिना मैं उस वैद्य की चिकित्सा कराने के लिए उद्यत नहीं हूं। इसपर उसके संगे-सबन्धी चिल्ला उठते है—"यह मूर्खता परले दर्जे की है। तुम्हारी इन व्यर्थ की बातों से क्या लाभ ?वह अपनी विद्या का पारगामी पण्डित है। उसे हम बुला देते हैं। दवा करालो और इस असीम बेचैनी से छुटकारा पाओ।" उचित मार्ग भी यही है। हमे आम खाने से काम गुठली गिनने से लाभ नहीं ? इन मेण्डक प्रश्नों के उत्तर पाने का

आग्रह भी इसी कोटि का है। भवरोग से पीड़ित बीमारों की भी ठीक यही दशा है। उन्हें अध्यात्म को लेकर क्या करना है? उनके लिए तो कर्तव्य-मार्ग की जानकारी पाकर उसपर चलना ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इसी कारण ही बौद्धधर्म आरम्भ मे आचारशास्त्र पर ही आग्रह करने के कारण 'नैतिक यथार्थवाद' (एथिकल रीयलीज्म) के नाम से प्रख्यात है।

बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्त

बौद्धधर्म तथा दर्शन कालान्तर मे विकास को पाकर नाना रूपों मे परिवर्तित हो गया, परन्तु उसके मूल में कतिपय सिद्धान्त आधारभूत होने के हेतु सर्वदा विद्यमान रहे। ये मौलिक सिद्धान्त तीन है—

१. सत्ता अविच्छिन्न रूप से प्रवाहशील है,

२. एक मे अनेक की और अनेक में एक की उपलब्धि होती है।

३. निर्वाण ही परम शान्त है।

इन सिद्धान्तों को विस्तार से समझने की आवश्यकता है। बौद्धमत मे ससार, चाहे वह भौतिक हो या मानसिक या बौद्धिक हो, बाहरी हो या भीतरी, सदा सर्वदा परिवर्तित होता रहता है। हम यह ग्रंथ लेखनी से लिख रहे है। यहा लिखने की क्रिया भी देखने मे एक समानाकार की प्रतीत होती है, परन्तु वह वास्तव में क्षणिक है, क्षण-भर ठहरकर अतीत के गर्भ में चली जाती है। लिखनेवाला भी प्रतिक्षण मे परिवर्तनशील है। 'परिवर्तन' की यह मीमांसा बुद्ध की दार्शनिक जगत् को महती देन है।

१. सत्ता अविच्छिन्नरूप से प्रवाहशील है

हमारे कमरे मे जो बिजली का प्रकाश हो रहा है, वह देखने में स्थिर मालूम होता है, किन्तु यथार्थ मे यह एक अटूट प्रवाह है, जो बिजली की धारा से 'बल्ब' में प्रत्येक क्षण पैदा होकर चारों ओर व्याप्त हो रहा है। उसी प्रकार जितने भी पदार्थ है, चाहे कितने भी ठोस और कठोर क्यों न हों, क्षण-क्षण नये होकर उत्पन्न हो रहे हैं। उनका अविच्छिन्न प्रवाह चल रहा है। छोटे-से-छोटा ज़र्रा भी दो क्षण तक एक बना नही रहता। इसी अनित्यता की भावना करते हुए ग्रीस देश के प्रसिद्ध दार्शनिक हेरेक्लाइट्स ने कहा, "कोई मनुष्य एक नदी में दो डुबकियां नही ले सकता। जब

एक डुबकी लेकर वह बाहर निकलेगा और दूसरी लेने की तैयारी करेगा, इतने में नदी का कण-कण बदल जायगा और वह स्वयं भी 'वही' न रहेगा।"

अब प्रश्न हो सकता है कि यदि पदार्थ इतनी गति से प्रवाहित हो रहे है तो वे स्थिर क्यों प्रतीत होते हैं और उनकी प्रत्यभिज्ञा कैसे होती है ? इसके उत्तर मे बौद्ध-दर्शन का कहना है कि बाह्य भौतिक पदार्थों के साथ 'चित्त' भी अविच्छिन्न रूप मे प्रवाहशील है, जिसमे उनकी गतिशीलता का भान चित्त को नही होता। पौधा धीरे-धीरे बढकर एक बडा पेड़ हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नही कि उसका विकास प्रत्येक क्षण अनवरत रूप से होता रहता है। किन्तु माली क्या घड़ी-घडी उसके परिवर्तन को देख पाता है ? कल्पना करे कि माली पौधे के सामने बैठकर उसे एकटक सप्ताह-भर देखता रहे कि पौधे मे किस क्षण परिवर्तन हुआ तो क्या वह उस क्षण को पकड सकेगा ? नही, उसका विकास इतना सूक्ष्म और इतना अविच्छिन्न है कि यह सम्भव नही कि ऐसा कोई क्षण जाना जा सके। हम पदार्थ के जितना नजदीक रहते है, उसकी परिवर्तनशीलता का हमें उतना ही कम भान होता है। 'परिवर्तन' का बोध होने के लिए आवश्यक है कि हम उस वस्तु की किसी अतीत अवस्था का चित्र मन में लाकर उसकी वर्तमान से तुलना करें। जब हम किसी बच्चे को एक-दो साल के बाद देखते है और उसकी तुलना पहले देखी हुई अवस्था से करते है, तब हमे उसमे बड़ा परिवर्तन मालूम होता है। किन्तु, अनवरत उसके साथ रहनेवाली उसकी मा को इस परिवर्तन का पता उतना नहीं लगता।

तट पर स्थित चीजों को ही देखकर चलती नौका पर बैठा आदमी उसकी गति का अन्दाजा करता है। यदि बगल मे चलती किसी दूसरी नौका पर वह दृष्टि रखे तो उसे अपनी गति का ठीक-ठीक पता नहीं लग सकता। ठीक उसी तरह सभी ज्ञेय पदार्थ हमे तबतक स्थिर मालूम होते है, जबतक हम उनके पहले की किसी स्थिति का ख्याल नही करते, किन्तु यथार्थ में ज्ञेय और ज्ञाता (चित्त) दोनों अविच्छिन्न रूप से प्रवाहशील हैं। नदी के तल पर जिस प्रकार एक तरंग गिरते ही दूसरी उठा देती है और वह भी तीसरी, उसी प्रकार सत्ता क्षण-क्षण उत्पन्न होती, स्थित रहती और भंग हो

जाती है और भग होते दूसरा क्षण उत्पन्न कर देती है। इस तरह मानसिक तथा भौतिक सभी अवस्थाओं की सन्तति अवाध रूप मे चल रही है। पानी जमकर बर्फ और जलकर वाष्प हो जाता है। यहां वर्फ, पानी और वाष्प एक ही सन्तति के तीन क्षण है। वे एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न भी नही और एक भी नहीं है—"**न च सो न च अञ्ञो**"।

सूखे घास के खेत के एक कोने में कोई आग जला दे तो वह बढती-बढती दूसरे कोने तक पहुंच जायगी। यह आग वही नहीं है, जो मनुष्य ने जलाई थी, किन्तु उसीसे उत्पन्न होनेवाली सन्तति मे होने के कारण भिन्न भी नही कही जा सकती। और, इस कोने मे भी आग लगाने की जिम्मेदारी उसीपर होगी।

अनित्यता के प्रबल प्रवाह मे वस्तु के अत्यन्त परिवर्तित होजाने पर भी हम उसे 'उसी' नाम से जानते रहते है, इसका मुख्य कारण है उससे हमारी स्वार्थ-साधना का होते रहना। मै एक चीज की ओर इशारा करके पूछता हू—क्या यह बहुत दिन चलेगी? इसका क्या मतलब है? यही न कि क्या यह बहुत दिन तक मेरे स्वार्थ की पूर्ति करती रहेगी? इससे अधिक और क्या? मेरे मित्र के पास लगभग तीस वर्ष से एक बाइसिकिल है। एक-एक करके हरेक पुर्जे को कभी-न-कभी वह बदलवा चुके है। सारी साइकिल की कितनी बार मरम्मत हो चुकी है और कितनी बार उसपर रोगन फिर चुका है। लेकिन फिर भी उनका कहना है कि यह उनकी वही साइकिल है, जिसे उन्होंने तीस वर्ष पहले खरीदा था। इतने परिवर्तन होते हुए भी इस साइकिल को वह 'यह वही है केवल इसीलिए समझते है कि इसपर चढने का जो उनका स्वार्थ है, वह इतने दिनों तक बराबर होता रहा है। यद्यपि अपने व्यवहार मे हमे 'टिकाऊ', 'वही है' आदि शब्दो का प्रयोग करना ही पड़ता है, किन्तु परमार्थ की दृष्टि से यह हमारे अज्ञान के परिचायक है। जबतक हम अपनी तृष्णा का अन्त नही कर देते तबतक हमारी 'सत्काय-दृष्टि' अर्थात् वस्तु को 'वही है' ऐसा समझने की अविद्या बनी रहेगी और हम मानसिक तथा भौतिक अवस्थाओं की अनित्यता को नहीं देख सकेंगे।

आचार्य बुद्धघोष ने अनित्यता की व्याख्या करते हुए कहा है, "यथार्थ रूप से देखा जाय तो एक प्राणी का जीवन-काल एक चित्त क्षणमात्र है।

जिस प्रकार रथ का पहिया चलते हुए या खड़ा रहते अपने एक अल्प अश पर ही चलता या खड़ा रहता है, उसी प्रकार प्राणी का जीवनकाल एक ही चित्तक्षण है। बीते चित्तक्षण की अवस्था में न वह जीता था, न जीता है और न जीयेगा; भविष्य की चित्तक्षण की अवस्था मे वह जीयेगा, न जीता था और न जीता है; वर्तमान चित्तक्षण की अवस्था में वह जीता है, न जीता था और न जीयेगा।

"यदि यही वास्तविकता है तो अतीत (भूत), वर्तमान तथा भविष्यत् से तात्पर्य क्या समझना चाहिए? अतीत, वर्तमान तथा भविष्य की कल्पना हमे उसी चीज के सम्बन्ध मे होती है, जिसे हम 'वही' समझते है। "पहले यह वैसी नही थी, अब यह ऐसी है, भविष्य मे यह ऐसी रहेगी।' इसका आशय यह है—'एक ही बनी रहनेवाली सत्ता की कल्पना' के आधार पर पूर्व तथा पर का विचार ही 'काल' है। लेकिन हम देख चुके है कि यहां अनित्यता-ही-अनित्यता है। ज्ञान के प्रकाश में एक ही बनी रहनेवाली कोई सत्ता नही है। जब अर्हत् अपनी अविद्या का मूलोच्छेद कर अनित्यता का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह पूर्व और पर के बन्धनों से छूट जाता है।"

२. एक में अनेक की और अनेक मे एक की उपलब्धि

सामने कुर्सी पडी है। वह 'एक चीज' है। किन्तु, पैर, बाह, बेत की बुनावट, गद्दा आदि तो उसके अनेक अग है—उनमे 'कुर्सी' कौन-सा है? या 'कुर्सी' नाम की कोई सत्ता इन अगों से पृथक् कही स्थित है? यह स्पष्ट है कि न तो इनमे कोई 'एक अग' कुर्सी है, और न इन अगों के परे कोई चीज कुर्सी है। अपने भिन्न-भिन्न अंगों और गुणों के आधार पर ही 'कुर्सी' की ख्याति है। इसी प्रकार यदि उसके अंगों को अलग-अलग लेकर देखे तो वे भी अपने मे 'एक चीज' नही निकलेंगे। उनकी भी ख्याति उनके अपने प्रत्यंगों के आधार पर होती है। जहांतक चले जाय, ऐसा कोई छोटा-से-छोटा कण भी नही मिलेगा, जो परमार्थ रूप से अपने मे 'एक' हो। एक मे अनेक की और अनेक में एक की उपलब्धि होती है। यही नियम मनुष्य पर भी लागू होता है। मनुष्य कोई शुद्ध एक सत्ता नहीं है, किन्तु वह मानसिक (मेंटल) तथा भौतिक (मेटीरियल) अनेक अवस्थाओं का समुदाय-

मात्र है, जो उत्पाद-स्थिति-भग की अविच्छिन्न धारा मे प्रवाहित हो रही है। सभी भौतिक अवस्थाओ को एक साथ 'रूप' और सभी मानसिक अवस्थाओं को एक साथ 'नाम' कहते है। 'नाम' की तीन स्थितियां है—१. वेदना—विषय के स्पर्श से जो सुख-दु.ख, सौमनस्य, दौर्मनस्य या उपेक्षा की अनुभूति होती है, उसे समूह-रूप से 'वेदना' कहते है। २ संज्ञा—विषय को जो 'वैसा' करके पहचान लेना है, यही संज्ञा है, ३ संस्कार—वितर्क, विचार,लोभ,द्वेष, करुणा इत्यादि मानसिक प्रवृत्तियो को एक साथ 'सस्कार' कहते है। पाप-पुण्य आदि जितने प्रकार के चित्त है सभीको एक साथ विज्ञान कहते है। इस तरह, 'मनुष्य' इन पांच अवस्थाओं के समुदाय का समुदाय है। इन्हे 'पच स्कन्ध' कहते है—रूप-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, सज्ञा-स्कन्ध, सस्कार-स्कन्ध और विज्ञान-स्कन्ध।

मिलिन्द प्रश्न (पृ० ३०-३३) में भदन्त नागसेन ने यवनाधिपति मिलिन्द (मिनैण्डर) से आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है, जो बौद्ध मत मे मान्य समझा जाता है। मिलिन्द नागसेन के पास चिलचिलाती धूप मे अपने प्रश्नों के उत्तर के लिए आया। तब नागसेन ने उससे पूछा—

प्रश्न—जिसपर चढकर आप आये है, क्या वह दण्ड है ?

उत्तर—नही।

प्र०—तो क्या धुरा है ?

उ०—यह भी नही है।

प्र०—तो क्या चक्के रथ है ?

उ०—नही, चक्के रथ नही है।

प्र०—तो क्या रथ को बांधनेवाली रस्सियां रथ है ?

उ०—नही, रस्सियां भी रथ नही है।

प्र०—तो क्या चाबुक रथ है !

उ०—नहीं, चाबुक भी रथ नहीं है।

प्र०—तब रथ ही क्या चीज ?

मिलिन्द एकदम निरुत्तर हो गया। तब अगत्या उसे स्वीकार करना पडा कि चक्का, रस्सी, धुरा, चाबुक आदि अवयवों का समुदाय ही 'रथ' के नाम से व्यवहृत किया जाता है। अवयवों को छोडकर किसी अवयवी

की सत्ता नही होती। 'रथ' एक व्यावहारिक नाम या सज्ञा है, जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं के संघात का अभिधान है। चक्का, रस्सी, धुरा, चाबुक आदि को छोडकर 'रथ' की पृथक् सत्ता है ही नही। 'आत्मा' के विषय मे भी यही समझना चाहिए। पूर्ववर्णित पांचो स्कन्धो का समुदाय ही 'आत्मा' नाम से पुकारा जाता है। इन्हे छोड देने पर आत्मा नामक कोई चीज अलग नही होती। यह दार्शनिक परिभाषा मे नैरात्म्यवाद के नाम से प्रख्यात सिद्धान्त है।

३. निर्वाण ही परम शान्त है।

'निर्वाण' के ज्ञान के लिए द्वादश निदानो की शृखला को जानना आवश्यक है। ये निदान दु.ख के कारण है। इनकी एक शृखला है, जिनमें से प्रत्येक में पारस्परिक कार्यकारणभाव की सत्ता है। इस शृखला का रूप इस प्रकार है—

१ जरामरण—बुढापा और मृत्यु।
|
२. जाति=जन्म लेना।
|
३. भव=पुनर्जन्म उत्पन्न करनेवाले कर्म।
|
४. उपादान=आसक्ति।
|
५. तृष्णा=विषय को पाने की तीव्र इच्छा।
|
६ वेदना=इन्द्रियो के द्वारा उत्पन्न अनुभव।
|
७. स्पर्श[1] =विषयो के साथ इन्द्रियों का सम्पर्क।
|
८. षडायतन=मन तथा पाचों ज्ञानेन्द्रिया।
|
९. नामरूप=दृश्यमान शरीर तथा मन से सवलित सस्थान विशेष।

[1]गीता में भी यह शब्द इसी व्यापक अर्थ में गृहीत किया गया है—
ये हि संस्पर्शजा भोगाः दु.खयोनय एव ते। (५।२२)

१०. विज्ञान = चैतन्य ।
|
११. संस्कार = पूर्व-जन्म के कर्म और अनुभव से उत्पन्न सूक्ष्म
| वासनामय वस्तु ।
१२ अविद्या = अज्ञान; तथ्य को अतथ्य जानना ।

इस चक्र का नाम 'भवचक्र' है, जिसका अक्षरार्थ है—ससार का चक्कर; जगत् का आवागमन ।

यह भवचक्र का प्रपंच अनादिकाल से प्रवाहित होता है । इसमे पड़ने-वाला प्राणी संसार में जन्मता है और मरता है। उसके दु खों की सीमा नही रहती। इस विषय में तथागत के उपदेश बडे स्पष्ट है। 'सजुत्त निकाय' (१४-२) में उनका कथन है—

"भिक्षुओं, संसार अनादि है। अविद्या और तृष्णा से सचालित भटकते-फिरते प्राणियों के आदि और अन्त का पता नही चलता। इस तरह भव-चक्र में पडा प्राणी अनादिकाल से बारबार जन्मता और मरता है। तो भिक्षुओं, क्या समझते हो इन चारो महासमुद्रों मे पानी है, यह अधिक है अथवा यह जो संसार मे बारबार जन्म लेनेवालों मे प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग के साथ रो-पीटकर आंसू बहाये है। भिक्षुओ, चिरकाल तक माता के मरने का दु.ख सहा है, पुत्र के मरने का दु:ख सहा है, सम्पत्ति के विनाश होने का दु:ख सहा है, रोगी होने का दु ख सहा है। उन माता के दु:ख सहनेवालों ने, पिता के दु:ख सहनेवालों ने ··, संसार मे बार-बार जन्म लेकर प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग के कारण जो रो-पीटकर आंसू बहाये है, वे ही अधिक हैं, इन चार महासमुद्रों का जल नही। यह क्यों ? भिक्षुओं, ससार अनादि है। अविद्या और तृष्णा से संचालित भट-कते-फिरते जीवों के आदि का पता नही । इस प्रकार भिक्षुओं, दीर्घकाल तक दु:ख का अनुभव किया है, तीव्र दु:ख का अनुभव किया है, बडी-बड़ी हानिया सही है, श्मशान भूमि को पाट दिया। अब तो भिक्षुओं, सभी संस्कारों से निर्वेद प्राप्त करो, वैराग्य प्राप्त करो, मुक्ति प्राप्त करो।"

बौद्धधर्म में 'निर्वाण' तत्त्व को ठीक-ठीक समझने के लिए 'भवचक्र'

के सिद्धान्त को जानना आवश्यक है।

इसे यथार्थतः समझने के लिए मूल अविद्या से आरम्भ कीजिये। अविद्या से शुरू होनेवाली शृंखला 'प्रतीत्य समुत्पाद' के नाम से प्रख्यात है। 'प्रतीत्य समुत्पाद' का अर्थ है—इसके होने पर यह होता है अर्थात् कार्यकारण की शृंखला। इस शृंखला में ग्यारह कड़ियां है—१. अविद्या के होने से संस्कार होता है, २ संस्कार (कर्म) के होने से उसके विपाक स्वरूप मृत्यु के अनन्तर चित्त की संतति जन्मान्तर में चली आती है, ३. 'विज्ञान' के होने से जन्मान्तर में 'नामरूप' होते है। नामरूप का अर्थ है--मानसिक तथा भौतिक स्थिति। ४ नामरूप के होने पर चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया और मन—ये छ. 'आयतन' उठ खड़े होते है। ५. इन छहो आयतनों के कारण विषयो के साथ सम्पर्क होता है जो 'स्पर्श' कहलाता है, ६ स्पर्श होने से सुख, दुःख आदि 'वेदनाएं' होती है, ७ वेदना के होने से 'तृष्णा' होती है। ८. तृष्णा होने से विषयों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है, जो 'उपादान' कहलाती है। ९. उपादान होने से जीवन में भागदौड़ होती है, जिसे भव कहते है। १०. 'भव' होने से जन्मान्तर में उसके व्यक्तित्व की संतति चालू रहती है ('जाति' का यही अर्थ है) ११. संतति चालू रहने से जरा-मरण उत्पन्न होता है।

बुद्ध के द्वारा प्रदर्शित 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' के अभ्यास करने से तृष्णा का नाश हो जाता है और आगे चलकर मूलभूत अविद्या का ही नाश हो जाता है। यही निर्वाण है। निर्वाण के रूप को समझने के लिए दीपक के बुझने का दृष्टान्त बौद्ध ग्रन्थों में दिया जाता है। बुझ जाने पर दीपक कहीं नष्ट नहीं होता, प्रत्युत यहीं बना रहता है। उसकी लौ नष्ट हो जाती है और इसीको हम बुझना कहते है। निर्वाण में भी यही होता है। तृष्णा का क्षय होना ही निर्वाण है। पूछा जाता है कि 'निर्वाण' अपने-आपको मिटा देता है क्या? यह प्रश्न 'मैं' के अज्ञान पर आश्रित है। यथार्थ में कोई एक 'मैं' तो है नहीं, जिसका उच्छेद किया जा सके। निर्वाण उच्छेद नहीं है, बल्कि तृष्णा का अशेष निरोध कर देना ही निर्वाण है। जो 'मैं' पर आग्रह रखते है, उनके लिए निर्वाण अपनेको मिटा देना ही है।

आर्यसत्य

बौद्धधर्म के रहस्य को जानने के लिए चार आर्यसत्य का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। इन्ही आर्यसत्यो के उद्घाटन करने से शाक्यमुनि 'बुद्ध' के नाम से अभिहित किये गए अर्थात् इस रहस्य का प्रकटीकरण आध्यात्मिक जागरण (बुद्धत्व) का संकेत है। ये आर्यसत्य संख्या में चार है--(क) दु.खम्, (ख) दु:खसमुदय: (दु:ख का कारण), (ग) दु.खनिरोध (दु.ख-से मुक्ति), (घ) दु.ख-निरोध-गामिनी प्रतिपत् (दु.ख-निरोध की प्राप्ति का उपाय या मार्ग)। इन सत्यो को यहां समझने की आवश्यकता है।

(क) दु:खम्--संसार का अनुभव हमे बतलाता है कि यहां दु:ख पूर्णतया विद्यमान है। जिसे हम सुख की कोटि में रखते है, वह भी दु:ख ही उत्पन्न करता है। सम्पति, धन-दौलत का उदाहरण लीजिये हम समझते हैं कि सम्पत्ति सु.ख की निशानी है। सम्पन्न व्यक्ति सदा सुख से पूर्ण रहता है, परन्तु यह धारणा भी केवल कल्पना से अधिक सत्य नहीं है। भला, विचार कीजिये। रुपये-पैसे के कमाने में दु.ख होता है, उसके बढ़ाने में भी दु:ख है; उनके रक्षण में दु:ख है, हम अपने रुपयों को बैंक में रखते है रक्षण और वर्धन की दृष्टि से; परन्तु बैंक के फेल हो जाने पर हमारे ऊपर दु:खों का पहाड़ गिर पडता हे। ऐसी दशा में क्या रुपयो से सुख मिलता है ?

कथमर्था: सुखावहा:। सचमुच दु ख की सत्ता का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता।

(ख) दु:ख-समुदय:—यह द्वितीय आर्यसत्य है। दु.ख का कारण भी है। दु:ख के उदय का एक ही कारण नहीं है, प्रत्युत उसकी एक शृंखला है। इसीको बौद्ध-दर्शन में निदान कहते है, जो सख्या मे बारह है। इन द्वादश निदानों के कार्य-कारण की एक व्यवस्थित शृंखला है, जो वर्तमान जन्म से, भविष्य जन्म मे तथा अतीत जन्म मे सम्बन्ध रखती है। प्रथम निदान से आरम्भ कर कारण को खोजते-खोजते हम अन्तिम निदान पर पहुचते हैं, जो 'अविद्या' के नाम से प्रख्यात है।

(ग) दु:ख-निरोध:--यदि दु.ख है और उसका कारण भी है तो

निश्चित बात है कि इन कारणो के हटा देने पर उनसे उत्पन्न दुःख भी आप-से-आप समाप्त हो जायगा। इस तीसरे आर्यसत्य का नाम है—निर्वाण अर्थात् दु.खो से पूर्णतः छुटकारा या मुक्ति।

(घ) **दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपत्**—इसका अर्थ है निर्वाण की ओर ले जानेवाला पन्थ। बुद्ध की दृष्टि तथा अनुभूति मे यही तथ्य स्फुरित हुआ कि भोगविलास में जीवन बिताना जिस प्रकार अनुचित और दु.खमय है, उसी प्रकार व्रत-उपवासो के द्वारा शरीर का उत्पीड़न भी व्यर्थ और निरर्थक है। इसीलिए वह मध्यम मार्ग के पूर्णतया समर्थक है। इस मार्ग के आठ अग है, जो इसी कारण आर्य अष्टागिक मार्ग के नाम से प्रख्यात है—

१. सम्यक् ज्ञान—आर्यसत्यों को ठीक-ठीक समझना।
२. सम्यक् सकल्प—दृढ निश्चय पर डटा रहना।
३. सम्यक् वचन—सत्य बोलना, मिथ्या का परित्याग।
४. सम्यक् कर्मान्त—हिंसा, द्रोह तथा दुराचरण से रहित कर्म।
५. सम्यक् आजीव—न्यायपूर्ण जीविका चलाना।
६. सम्यक् व्यायाम—भलाई उत्पन्न करने के लिए सन्तत उद्योग करना।
७. सम्यक् स्मृति—लोभ आदि चित्त-संताप से अलग रहना।
८. सम्यक् समाधि—रागद्वेष से हीन चित्त की एकाग्रता।

यही बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग है। इसके सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है और निर्वाण की सद्यः प्राप्ति होती है। बुद्ध की शिक्षा का सक्षेप इस धम्मपद की गाथा मे निर्दिष्ट है

सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सत्सनं। (१४।५)

१. सब पापो का न करना, २. पुण्य-कर्मो का संचय, तथा ३. चित्त की परिशुद्धि—ये ही बौद्धधर्म के उपदेश के तीन तत्त्व है। सक्षेप में बुद्ध की यही शिक्षा है।

बौद्धधर्म आजकल विश्व के प्रतिष्ठित देशों मे फैला हुआ है—यूरोप के विभिन्न देशों के विद्वान् इसके प्रति आकृष्ट ही नहीं हुए है, प्रत्युत इस

धर्म को स्वीकार कर बौद्ध बनकर अपने जीवन को उच्च आचार-मार्ग पर लगा रहे है, इसका क्या कारण है ? इसके मुख्य कारणों में बुद्ध का बुद्धि-वाद अन्यतम है। बुद्ध किसी व्यक्ति के प्रामाण्य पर उसके मत को मानने का उपदेश नहीं देते। वह तो यहा तक कहते है कि मेरे भी वचनों को इस-लिए न मानो कि वे एक बुद्ध के द्वारा कहे गए है, प्रतिपादित है तथा उद्-घाटित है। प्रत्येक सत्य को युक्ति तथा तर्क की कसौटी पर कसकर मानो। व्यक्ति के प्रामाण्य का कोई मूल्य नही। मूल्य है सिद्धान्तों की सत्यता का, मतों की युक्ति युक्तता तथा तार्किकता का। सत्यान्वेषण के निमित्त तर्क ही एकमात्र कसौटी है। गौतम बुद्ध का इस मत पर बडा आग्रह था और इसीलिए आज के वैज्ञानिक तथा तार्किक युग मे यह धर्म आकर्षण का विषय बना हुआ है। अपने अन्तिम उपदेश मे गौतम ने यही शिक्षा दी और भिक्षुओं को स्वावलम्बी बनने का महान् उपदेश दिया। चक्कवत्ति-सीहनादसुत्त (दीघनिकाय ३।३) में उन्होंने यही शिक्षा दी —

"भिक्षुओं, आत्मद्वीप, आत्मशरण अर्थात् स्वावलम्बी होकर विहार करो; किसी दूसरे के भरोसे मत रहो। धर्मद्वीप और धर्मशरण होकर विहार करो; दूसरे किसीके भरोसे मत रहो।"

स्वावलम्बी बनने की यह शिक्षा ही बौद्धधर्म के द्वारा विश्व-विजय की घोषणा का आरम्भिक घोष है। इस शिक्षा ने भिक्षुओं मे अगम्य स्थानो मे धर्म प्रचार करने की, अगनित क्लेशो को सहने की, अपने धर्म की प्रचार-वेदी पर प्राणो का न्यौछावर कर देने की वह स्फूर्ति और प्रेरणा भर दी कि आज भी इस धर्म की दुन्दुभि संसार के कोने-कोने मे बज रही है। बुद्ध के समुज्ज्वल व्यक्तित्व का तथा उदात्त उपदेश का यही अमृत फल है।

बौद्धधर्म के प्रधानतया दो भेद है—हीनयान तथा महायान। दोनो मार्गों का लक्ष्य तथा साधन-क्रम आपस मे नितान्त भिन्न हैं। मानव-जीवन के लिए कौन-सा आदर्श है, जिसकी प्राप्ति करना उसके लिए सन्तत वाछ-नीय है। इस प्रश्न के विषय में दोनों यानों में महान् अन्तर है। हीनयान का आदर्श है—अर्हत् और महायान का आदर्श है बोधिसत्त्व। अर्हत् वह साधक है, जो अपने ही अर्थात् व्यक्तिगत निर्वाण के लिए सदा उद्योगशील

रहता है। हीनयानी का आदर्श होता है कि मै एक ही आत्मा की इच्छाओं का दमन करूं तथा एक ही आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति कराऊं। उसकी सारी शिक्षा, समग्र साधना, इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है। बोधि-सत्त्व का लक्ष्य कुछ दूसरा ही होता है। वह अपने ही स्वार्थ के लिए क्रिया-शील नही होता; प्रत्युत सब प्राणियों को वह परमार्थ सत्य में प्रतिष्ठित करना चाहता है। इस प्रकार हीनयान कोरा निवृत्ति-मार्ग है। ठीक इसके विपरीत महायान प्रवृत्तिमार्गी धर्म है। हीनयान मे कोरे ज्ञान की ही प्रधानता रहती है; महायान में भक्ति की विशिष्टता होती है। बुद्ध की मूर्ति बनाना, उसकी स्थापना करना तथा भक्ति के साथ उसकी पूजा-अर्चा करना महायान मे प्रमुख स्थान रखता है। बोधिसत्त्व की मानसिक स्थिति का परिचायक निम्नांकित पद्य बडे महत्त्व का है। इसका अर्थ है कि जबतक एक भी व्यक्ति ससार के पचड़े मे पडा हुआ दु.ख भोग रहा है, तबतक मैं अकेले निर्वाण प्राप्त कर क्या करूगा? जीवो को निर्वाण पा लेने पर मेरे हृदय मे आनन्द की लहरी इतने उल्लाह से प्रवाहित होती है कि मुझे अकेले रस-हीन फीका निर्वाण पाने से लाभ ही क्या? महायानी साधना का यही अन्तिम लक्ष्य होता है—

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेनारसिकेन किम्॥

बौद्ध-दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय

बौद्ध-दर्शन का लक्ष्य है सत्ता का परीक्षण। प्रश्न यह है कि सत्ता भीतर रहती है या बाहर? संसार मे दो वस्तुओं के अस्तित्व का पता हमें भली भांति चलता है—एक है भीतरी तत्त्व (मन, चित्त या विज्ञान) और दूसरा है बाहरी तत्त्व (पृथ्वी, जल आदि पचभूत)। अब प्रश्न है कि इन दोनों की स्थिति पृथक् रूप से मान्य है अथवा एक की स्थिति दूसरे पर आश्रित है अथवा दोनों में से किसीकी भी स्थिति नही है। इन्ही प्रश्नों के उत्तर विभिन्न रूपों में दिये जाते है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन के चार सम्प्रदाय है—१. वैभाषिक, सौत्रान्तिक, ३. विज्ञानवादी (योगाचार), ४. शून्य-वाद (माध्यमिक)। इन चारों मतों के स्वरूप को प्रथमतः संक्षेप में

समझने की आवश्यकता है।

१. **वैभाषिक**—इस मत के अनुसार जिस जगत् का अनुभव हमें अपनी इन्द्रियों के द्वारा हो रहा है, उसकी बाह्य सत्ता अवश्यमेव है। हमारे भीतर चित्त की भी सत्ता स्वतन्त्र रूप से है। बाहरी पदार्थों की सत्ता चित्त-निरपेक्ष है, अर्थात् हम अपनी इन्द्रियों की सहायता से बाहरी पदार्थ की सत्ता प्रत्यक्ष रूप से मानते है। बाह्य तथा आन्तर पदार्थ स्वतन्त्ररूप से पृथक् रूप से सत्ता धारण करते है।

२. **सौत्रान्तिक**—इनका कहना है कि 'बाह्य सत्ता' है तो अवश्य, परन्तु उसका ज्ञान हमें अपनी इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नही होता। जब समग्र पदार्थ क्षणिक है, तब किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है। जिस क्षण मे किसी भी पदार्थ का हमारी इन्द्रियो के साथ सम्पर्क घटित होता है, वह पदार्थ प्रथम क्षण मे उत्पन्न होकर अतीत हो चुका रहता है। केवल उससे उत्पन्न सवेदन शेष रहता है, प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों के नीला, पीला या काला के चित्र चित्त के ऊपर खिच जाता है। चित्त को इसका ज्ञान होता है और इनके द्वारा वह इनके उत्पादक बाहरी पदार्थों की सत्ता का अनुमान करता है। फलतः बाहरी पदार्थों की सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध न होकर अनुमान के द्वारा गम्य है। यही है सौत्रान्तिकों की बाह्यार्थ की अनुमेयता का सिद्धान्त। इस मत मे चित्त के आकारों के द्वारा ही बाह्य पदार्थों का अनुमान होता है। उनकी चित्त-निरपेक्ष सत्ता नही है। फलतः ये दोनो ही सर्वास्तिवादी है। दोनो मतो मे 'सर्व' है' (सर्वम् अस्ति) का सिद्धान्त मान्य है। अन्तर इतना ही है कि वैभाषिक मत मे बाह्य सत्ता चित्त-निरपेक्ष है, परन्तु सौत्रान्तिक मत में बाह्यसत्ता चित्त-सापेक्ष है।

३. **विज्ञानवाद**—विज्ञानवाद सत्ता की मीमासा मे एक पग आगे बढ़कर आता है। यह बाह्य सत्ता को कथमपि नहीं मानता। अन्ततः बाह्य सत्ता का पता ही कैसे चलता है हमको? चित्त में समय-समय पर उत्पन्न होनेवाले आचारो के ज्ञान द्वारा ही तो। ऐसी दशा मे ज्ञान की सत्ता मानना ही तर्कसगत सिद्धान्त है। यदि बाह्य अर्थ की सत्ता ज्ञान पर अवलम्बित है, तो ज्ञान ही वास्तविक सत्ता है। विज्ञान (या विज्ञप्ति) ही एकमात्र परमार्थ है। विज्ञान के ही चित्त, मन तथा विज्ञप्ति अन्य पर्याय

हैं। एक ही वस्तु विभिन्न नामों के द्वारा अपनी क्रिया के भेद के कारण भिन्न शब्दों से पुकारी जाती है। चेतन क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण यह 'चित्त' कहलाता है; मनन क्रिया करने से वही 'मन' है तथा विषयों के ग्रहण करने मे कारण होने के हेतु वही 'विज्ञान' शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है। 'आलय विज्ञान' भी विज्ञान का ही एक प्रकार है। योगाचार दार्शनिको का यही मत है।

४. **शून्यवाद**—माध्यमिक लोग न तो बाह्यार्थ को मानते है और न विज्ञान को ही। उनकी दृष्टि में शून्य ही परमार्थ सत्य है। यह शून्य कोई अभाववादी शब्द नही है, प्रत्युत यह अनिर्वचनीय तत्त्व का द्योतक है, जो न सत् है, न असत् है, न सदसद् है और न इन दोनो से भिन्न है। इन चारो कोटि से भिन्न तथा विलक्षण होने के कारण यह पदार्थ 'शून्य' नाम से अभिहित किया जाता है।

इस प्रकार 'प्रत्यक्ष बाह्य सत्ता' से 'अनुमेय बाह्य सत्ता' पर हम आते है। तदनन्तर 'विज्ञानमात्र सता' से आगे बढकर हम 'शून्य' मे प्रतिष्ठित हो जाते है। बौद्ध साधना का यही चरम लक्ष्य है। आगे चारों मतों का सविस्तर वर्णन पृथक्-पृथक् किया जा रहा है।

वैभाषिक मत

वैभाषिक मत के आचार्यों ने अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए अनेक ग्रंथों का प्रणयन सस्कृत भाषा में किया था, परन्तु दु.ख है कि मूल ग्रथ सर्वथा दुर्दैव के कारण नष्ट हो गये है। केवल उनका चीनी भाषा मे अनुवाद समग्ररूपेण मिलते है, जिनसे मूल ग्रथों की विपुलता तथा व्यापकता का स्पष्ट परिचय हमें मिलता है। इस मत के नामकरण का कारण एक ऐतिहासिक घटना मे छिपा हुआ है। कनिष्क (द्वितीय शती) ने बौद्धधर्म के परिशोधन और परिमार्जन के लिए बौद्धभिक्षुओ की एक महती सगीति (सम्मेलन) एकत्रित की, जो 'चतुर्थ संगीति' के नाम से बौद्ध इतिहास में प्रख्यात है। इस संगीति मे अभिधर्म के ऊपर एक महनीय भाष्य-ग्रथ तैयार किया गया, जो 'विभाषा' या 'विभाषा-शास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'विभाषा' के सिद्धान्तों को अपना आधार मानने के कारण यह सम्प्रदाय

तदनुसार 'वैभाषिक' नाम से अभिहित किया गया। आचार्य वसुबन्धु—(२८० ई०—३६० ई० के आस-पास) की महत्त्वपूर्ण रचना 'अभिधर्म-कोश' इस मत का सबसे श्रेष्ठ तथा प्रामाणिक ग्रंथरत्न है, जिसके ऊपर भाष्य तथा टीकाओं की परम्परा आज भी उपलब्ध है। सप्तमशती में हुएनसांग के द्वारा विहित कोश-व्याख्या का अनुवाद चीनी भाषा में आज भी उपलब्ध है। सघभद्र (चतुर्थ शती) को अभिधर्म-कोश के सिद्धान्त विशुद्ध वैभाषिक प्रतीत नही हुए। फलतः उन्होने इसके खण्डनमें 'कोशकरका' (सप्त लक्ष श्लोकोंवाला ग्रथ) नामक नितान्त गौरवशाली ग्रथ का प्रणयन किया। इन्ही पुस्तको के विशेषत. अभिधर्म कोश के आधार पर वैभाषिक मत की सिद्धान्तावली खडी है।

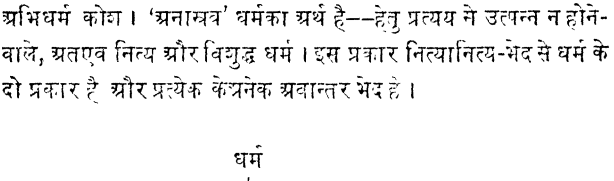
वैभाषिकों के प्रधान मत का निर्देश ऊपर किया जा चुका है। यह मत मानता है—सर्वम् अस्ति अर्थात् जगत् मे सबकुछ विद्यमान है। आन्तर जगत् भी सत्य है तथा बाहरी जगत् भी। इसी सिद्धान्त के कारण यह मत सर्वास्तिवाद के नाम से प्रख्यात है। इस मत मे पदार्थों की मीमांसा एक विभिन्न प्रकार से की गई है।

बौद्ध-दर्शन मानता है कि इस विश्व मे 'धर्म' की सत्ता सर्वतोमुखी है। यह 'धर्म' शब्द सामान्य रूप से समझे जानेवाले आचार या कर्मकाण्ड के लिए व्यवहृत नही होता, प्रत्युत यहा धर्म से अभिप्राय भूत (बाहरी) तथा चित्त (भीतरी) के सूक्ष्म तत्त्वो से है, जिनका पृथक्-करण और नही किया जा सकता। बौद्धधर्म के अनुसार यह ससार धर्मो के परस्पर मेल से उत्पन्न होनेवाला एक सघातमात्र (समूह) है। धर्म अत्यन्त सूक्ष्म और सत्तात्मक होते हैं और इन्हीके परस्पर आघात-प्रतिघात से यह विचित्र जगत् उत्पन्न होता है। ऊपर वर्णित चारो सम्प्रदायो में केवल शून्यवाद ही इसकी सत्ता नही मानता, अन्य तीन मत इसकी सत्ता मानते हैं। इस प्रकार धर्म की सत्ता के विषय मे प्रथम तीन मतों मे कोई अन्तर नही है, अतर है तो केवल धर्म की सख्या के विषय मे ही है। बौद्धधर्म का यह सर्वप्रधान सिद्धान्त है कि जगत् मे जितने धर्म है, वे सब 'हेतु' (कारण) से उत्पन्न होते है। उनके हेतु को तथागत (बुद्ध) ने बतलाया है तथा इनके 'निरोध' (रोकना) का भी वर्णन किया है। इस प्रकार धर्म, उनके हेतु तथा उनके

निरोध का ज्ञान बुद्ध-धर्म का सार है। इस मत का प्रतिपादक यह पद्य अत्यंत प्रख्यात है—

ये धर्मा हेतु प्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत्।
अवदच्च तन्निरोधो एवं वादी महाश्रमणो॥

ये धर्म दो प्रकार के होते है—१. सास्रव (मलसहित); २. अनास्रव—मल रहित (विशुद्ध)। सास्रव धर्म की प्रसिद्ध सज्ञा है—सस्कृत। सस्कृत का तात्पर्य है संस्कारवाले धर्म अर्थात् हेतु तथा प्रत्यय से उत्पन्न होनेवाले, रागद्वेष आदि से मिश्रित धर्म, जो अनित्य होते है। **संस्कृतं क्षणिकं मतः**—अभिधर्म कोश। 'अनास्रव' धर्मका अर्थ है—हेतु प्रत्यय से उत्पन्न न होनेवाले, अतएव नित्य और विशुद्ध धर्म। इस प्रकार नित्यानित्य-भेद से धर्म के दो प्रकार है और प्रत्येक के अनेक अवान्तर भेद है।



इस प्रकार वैभाषिक मत मे धर्मो की सख्या है पचहत्तर, जिनमे तीन असंस्कृत धर्म है और बहत्तर सस्कृत-धर्म है।

असंस्कृत धर्म—आकाश नित्य सर्व-व्यापक सत्तात्मक पदार्थ है। इसका रूप नही होता, क्योंकि यह भौतिक पदार्थ नही होता। परन्तु इसकी स्वतन्त्र सत्ता अवश्य है। 'प्रतिसख्या' का तात्पर्य है प्रज्ञा। इस तरह प्रतिसंख्या-निरोध का अर्थ है प्रज्ञा के द्वारा उत्पन्न निरोध। प्रज्ञा के उदय होने पर जब किसी धर्म मे रागद्वेष का सर्वथा परित्याग कर दिया जाता है, तब

उस धर्म के लिए 'प्रतिसंख्या-निरोध' का उदय होता है। 'अप्रतिसंख्या-निरोध' का शाब्दिक अर्थ है बिना प्रज्ञा के ही निरोध। इस निरोध में धर्म के प्रति राग, द्वेष, ममता आदि का भविष्य में भी कथमपि उदय नहीं होता। इसका फल होता है कि इस निरोध से जीव भव-चक्र से मुक्ति-लाभ कर लेता है और वह फिर उसमें नहीं पड़ता। बौद्धधर्म का यही अन्तिम लक्ष्य है।

संस्कृत धर्म—संस्कृत-धर्म के चार मुख्य भेद है—रूप, चित्त, चैतसिक तथा चित्तविप्रयुक्त। इनमें रूपधर्म ग्यारह प्रकार का होता है, चित्त धर्म (मन या विज्ञान) एक ही प्रकार माना जाता है। चैतसिक छियालीस प्रकार के तथा चित्त विप्रयुक्त धर्म चौदह प्रकार के होते है। इन चारों प्रकार के सम्मिलित भेद बहत्तर होते है।

१. रूप—रूप का अर्थ है—भूत अर्थात् वह धर्म, जो रूप धारण करे। रूप वह पदार्थ है, जो अवरोध उत्पन्न करे। रूप एकादश प्रकार का होता है, जिसमें पाच बाह्य इन्द्रिय (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा तथा काय) तथा पाच इनके विषय (रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श) मिलकर दस भेद होते है। अन्तिम भेद है—अविज्ञप्ति। वसुबन्धु के अनुसार अविज्ञप्ति कर्म का एक भेद है। चेतनाजन्य कर्म दो प्रकार के होते है। कुछ कर्मों का फल तुरन्त प्रकट होता है (विज्ञप्ति), परन्तु कुछ कर्मों का फल तुरन्त अभिव्यक्त न होकर कालान्तर में प्रकट होता है। इन्हीं कर्मों का नाम 'अविज्ञप्ति' है। यह वस्तुतः कर्म न होकर कर्म का फल है, भौतिक न होकर नैतिक है। कोई व्यक्ति किसी व्रतशः अनुष्ठान करता है, तो यह हुआ विज्ञप्ति-कर्म। परन्तु उस व्रत के अनुष्ठान से उस व्यक्ति का विज्ञान गूढरूप से शोभन तथा सुन्दर बन जाता है, इसीका नाम है—अविज्ञप्ति कर्म। इस प्रकार अविज्ञप्ति वही तत्त्व है, जिसे वैशेषिक 'अदृष्ट' के नाम से और मीमासक 'अपूर्व' के नाम से पुकारते है।

२. चित्त—साधारण रूप से हम जिसे 'जीव' कहते है, उसे ही बौद्ध लोग 'चित्त' की सज्ञा देते है। चित्त की सत्ता तभी तक है जबतक इन्द्रियों तथा उनके विषयों में घात-प्रतिघात होता रहता है। चित्त, मन तथा

विज्ञान समानार्थक शब्द है। मन की व्युत्पत्ति 'मा' धातु से होने के कारण इसका अर्थ है—मापनेवाला या किसी वस्तु का निश्चय करनेवाला। 'चित्त' का अर्थ है किसी वस्तु का सामान्य ज्ञान (आलोचन मात्र या निर्विकल्पक ज्ञान)। यही चित्त जब वस्तुओं के ग्रहण में प्रवृत्त होता है, तब इसे 'विज्ञान' कहते है। प्रत्येक चित्त प्रतिक्षण बदलता रहता है। वह कार्य-कारण के नियमानुसार नवीन रूप धारण करता है। चित्त वस्तुत. एक ही धर्म है, परन्तु आलम्बनों की भिन्नता के कारण वह सात प्रकार का होता है।

३. चैतसिक (या चैत्त धर्म)—चित्त से सम्बन्ध रखनेवाले धर्म या संस्कार चैतसिक या चित्त सप्रयुक्त के नाम से पुकारे जाते है। ये विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाले धर्म गणना मे छियालीस माने जाते है।

४. चित्तविप्रयुक्त धर्म—जिन धर्मो का समावेश न तो भौतिक धर्मो के भीतर किया जाता है और न चैत्त धर्मो मे ही, उन्हे ही इस नाम से पुकारते है। इनका विस्तृत तथा अन्वर्थक नाम है—'रूप-चित्त-विप्रयुक्त' अर्थात् रूप और चित्त दोनो से पृथक् रहनेवाले धर्म, इनकी सख्या चौदह है।

एक बात ध्यान देने की है। ऊपर वर्णित धर्म के पचहत्तर भेद सर्वास्तिवादियों के अनुसार है। स्थविरवादियो के मत मे प्रथम तीन ही भेद मान्य है, जिनके प्रकारों की सम्मिलित सख्या एक सौ सत्तर है तथा विज्ञानवादियों के अनुसार यह सख्या पूरी एक सौ है।[1]

सौत्रान्तिक मत

यह बौद्ध-दर्शन का दूसरा प्रख्यात सम्प्रदाय है। बौद्ध-धर्म के तीनों पिटक ही धर्म के तथ्य जानने के लिए उपादेय है, जिनमे अन्तिम 'अभिधर्म पिटक' तत्त्वज्ञान के सिद्धान्तों को विशेषरूप से प्रतिपादन करनेवाला है। परन्तु सौत्रान्तिक मत के दार्शनिक यह बात नही मानते। उनकी मान्यता है कि अभिधर्म तथागत बुद्ध की रचना न होने से प्रमाणकोटि में

[1] तुलनात्मक विवरण के निमित्त बलदेव उपाध्याय-रचित 'बौद्धधर्म-मीमांसा' पृष्ठ १८७-२०२ (द्वितीय संस्करण, १९५४) देखिये।

नहीं आ सकता। 'सुत्तपिटक' के सूत्रों में ही बुद्ध की महनीय शिक्षा समाविष्ट है। फलतः सूत्र या 'सूत्रान्त' को अपने विचारों का आधार मानने के हेतु यह मत 'सौत्रान्तिक' नाम से अभिहित किया जाता है। इस मत के आचार्य तथा उनके ग्रन्थों के विषय में हमारी जानकारी अधिक नहीं है। हुएनसांग (६५० ई०) के प्रामाण्य पर हम इतना ही जानते हैं कि इस मत के संस्थापक का नाम आचार्य कुमारलात था, जिनका समय द्वितीय शती का उत्तरार्द्ध और तृतीय शती का प्रारम्भकाल माना जाता है। कुमारलात के दो शिष्य थे—श्रीलात और हरिवर्मा। इनमें श्रीलात ने सौत्रान्तिक मत का प्रचार किया और हरिवर्मा ने 'सत्यसिद्ध' नामक एक नवीन बौद्ध सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसका प्रचार चीन में विशेष रूप से परिलक्षित होता है।

सौत्रान्तिकमत का सिद्धांत—सौत्रान्तिकों का प्रधान मत यह है कि जगत् की सत्ता प्रत्यक्षतः न होकर अनुमानतः सिद्ध है। इस मत को पुष्ट करनेवाली युक्ति इस प्रकार प्रदर्शित की जा सकती है। जगत् के सब पदार्थ क्षणिक हैं। तब उनका प्रत्यक्ष क्योंकर हो सकता है? सामने घट पड़ा हुआ है। जबतक हम अपनी आंखों से उसे देखने का प्रयास करते हैं अर्थात् घट और नेत्रेन्द्रिय का संयोग होता है, तबतक वह घट अतीत के पेट में चला जाता है। उससे उत्पन्न केवल विज्ञान ही शेष रह जाता है। पदार्थ अस्त हो जाता है। केवल उसका चित्र (नीला, पीला आदि) ही बच रहता है और इन्हीं चित्रों को देखकर हम अनुमान करते हैं कि इनका उत्पादक पदार्थ भी अवश्य सत्य होगा। इस प्रकार घड़े के अस्तित्व का ज्ञान हमें अपनी इन्द्रियों की सहायता से प्रत्यक्षरूपेण नहीं होता (जैसा वैभाषिक लोग मानते हैं) प्रत्युत उसके चित्र को देखकर अनुमान के द्वारा घट की सत्ता का ज्ञान होता है। ये दोनों मत 'सर्वास्तिवादी' हैं अर्थात् भूत तथा चित्त दोनों को सत्य मानते हैं। परन्तु अन्तर यह है कि जहां वैभाषिक लोग पदार्थ को प्रत्यक्ष मानते हैं, वहां सौत्रान्तिक उसका अनुमान मानते हैं

संक्षेप में सौत्रान्तिक चित्त तथा बाह्यजगत् दोनों की सत्ता मानते हैं। यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व नहीं माना जायगा तो बाह्य वस्तु की प्रतीति किस प्रकार होती है, इसे हम ठीक-ठीक समझा नहीं सकते। विज्ञान-

वादी कहता है, "मेरा 'ज्ञान' ही सच्चा है, परन्तु गाय के ज्ञान के समय मैं अपनी मानस-अवस्था को ही 'गाय के समान' देखता हूं।" इसपर सौत्रान्तिक का कहना है कि जिस व्यक्ति ने गाय का प्रत्यक्ष ज्ञान ही कभी नहीं किया है, वह अपने ज्ञान को 'गाय के समान' कैसे बतला सकता है। 'गाय के समान' कहना वैसा ही निरर्थक है, जिस प्रकार 'वन्ध्यापुत्र' कहना। जब वे बाह्य वस्तु को मानते ही नहीं, तब बाह्य वस्तु का ज्ञान कैसे हो सकता है तथा उस ज्ञान से किसी की तुलना भी कैसे की जा सकती है? इस प्रकार विज्ञान को सत्य माननेवाले विज्ञानवादी का मत मान्य नहीं हो सकता। विज्ञान या चित्त को ही केवल सत्य मानना नितान्त युक्तिहीन मत है।

विज्ञानवादी वस्तु तथा वस्तु-ज्ञान को समकालीन मानता है। घट तथा घट-ज्ञान दोनों एक ही अभिन्न वस्तु है, क्योंकि वे समकालीन होते हैं। सौत्रान्तिक मत में यह युक्ति ठीक नहीं है। जब हमें घट का प्रत्यक्ष होता है, तब हमें स्पष्ट अनुभव होता है कि घड़ा हमारे बाहर है और ज्ञान हमारे भीतर है। स्थिति दोनों की भिन्न-भिन्न होती है। अतएव बाह्य वस्तु और उसके ज्ञान को अभिन्न मानना तर्कहीन बात है। इसे ही हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं—वस्तु (घट, पट आदि) बाहर में एक सत्ताधारी पदार्थ है और उसका ज्ञान विषयी (अनुभवकर्ता) में उत्पन्न होता है। वस्तु होता है विषय, परन्तु वस्तु-ज्ञान होता है विषयीगत। घड़ा एक बाहरी वस्तु है (विषय) और घड़े का ज्ञान होता है अनुभव करनेवाले मुझमें (विषयी में)। इससे दोनों में भिन्नता सिद्ध है। यदि दोनों को एक ही अभिन्न माना जाय, तो 'मैं ही घड़ा हूं', ऐसा अनुभव होना चाहिए। परन्तु लोक में ऐसा अनुभव तो कभी नहीं होता। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व नहीं माना जायगा, तो 'घट-ज्ञान' और 'पट-ज्ञान' में भी कोई अन्तर नहीं होता, क्योंकि ज्ञान-रूप होने के कारण घट का ज्ञान और पट का ज्ञान एक ही होता। लेकिन 'घट-ज्ञान' को तथा 'पट-ज्ञान' को क्या कभी हम एक मानते हैं? इससे स्पष्ट है कि दोनों में वस्तु-सम्बन्धी भेद है।

इस प्रकार बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व मानना नितान्त आवश्यक है। बाह्य वस्तुओं में भिन्न-भिन्न आकार है; फलतः उनका ज्ञान भी भिन्न-

भिन्न आकार का होता है। इन विभिन्न आकारों के ज्ञान से ही हम उनके कारणरूप बाहरी वस्तुओं की सत्ता का अनुमान कर सकते है। इस प्रकार बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण है। इसीलिए सौत्रान्तिक लोग बाह्य वस्तु को मानते है और उसकी सत्ता को अनुमान से सिद्ध मानते है।

इस सिद्धान्त को 'बाह्यानुमेयवाद' कहते है। विज्ञानवाद के खण्डन मे सौत्रान्तिको की युक्तिया बडा महत्व रखती है। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास मे सौत्रान्तिकों के समान अनेक दार्शनिक हुए है। बर्कले के 'विज्ञानवाद' (सबजेक्टिव आइडियलिज्म) के खण्डन मे आधुनिक काल मे मूर जैसे वस्तुवादी की युक्तिया इसी प्रकार की है। सौत्रान्तिकों की प्रमाणमीमासा लॉक के 'साकार ज्ञानवाद' (रिप्रेजेंटेशनीज्म) के साथ बहुत मिलती है। इस प्रकार इस मत का दार्शनिक महत्त्व कम नही है।

विज्ञानवाद

विज्ञानवाद का दूसरा नाम 'योगाचार' है। इस मत के अनेक प्रौढ आचार्यो ने अपनी रचनाओं के द्वारा इस मत के तथ्यों का बड़ा ही प्रामाणिक उपन्यास किया है। इन आचार्यो मे मैत्रेय, असग, वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति प्रमुख है। मैत्रेय या मैत्रेयनाथ (तृतीय शती) ने विज्ञानवाद का प्रवर्तन किया। 'अभिसमयालकार' इनका प्रौढ ग्रन्थ है। इनके शिष्य असग ने 'योगाचार भूमि-शास्त्र' लिखकर अपने गुरु के द्वारा प्रतिपादित तथ्यों का उपबृंहण किया। असग के ही अनुज तथा शिष्य वसुबन्धु ने अपने जीवन की सन्ध्या मे योगाचार-मत मे प्रवेश किया तथा 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' के द्वारा विज्ञान के स्वरूप का बडा ही प्रामाणिक विवरण दिया। दिङ्नाग (पचम शती) बौद्ध-न्याय के प्रतिष्ठापक रूप मे विद्वानो मे प्रसिद्ध है। अपनी तास्थ-पटुता और वादकुशलता के कारण ये 'वादिवृषभ' (शास्त्रार्थ करनेवालों मे प्रमुख) की उपाधि से विभूषित किये गए थे। 'प्रमाण समुच्चय' इनकी प्रमुख रचना बौद्धन्याय का आधार-ग्रन्थ मानी जाती है। धर्मकीर्ति (६३५ ई०–६५० ई० के लगभग) दिङ्नाग के विद्वान् भाष्यकार थे, जिनका 'प्रमाण वार्तिक' अपने विषय का नितान्त प्रौढ, उदात्त तथा शोभन ग्रन्थ-रत्न माना जाता है।

है। यहा जाना भी नही है और जाना भी नही है। इस वर्णन को पढकर ऐसा लगता है कि यह श्रुति के द्वारा वर्णित 'ब्रह्म' का नेति-नेति प्रतिपादन है। माध्यमिको की दृष्टि मे किसी वस्तु को सत् (विद्यमान) नहीं कह सकते, किन्तु जब वह दिखाई पडती है, तब उसे असत् भी नही कह सकते। फलत. पदार्थ अनिर्वचनीय के समान प्रतीत होता है। इसी तथ्य को ज्ञान करने के लिए वे 'शून्य' शब्द का प्रयोग करते है।

शून्यवाद

माध्यमिक आचार्य अपने मत को 'शून्यवाद'के नाम से भी पुकारते है, परन्तु 'शून्यवाद' का तथ्य क्या है ? इसके विषय मे ब्राह्मण और माध्यमिक से भिन्न दार्शनिको के विचार एकसमान है। ये विद्वान् 'शून्य' का अर्थ बिलकुल सत्ता का निराश मानते है। विज्ञानवादियों ने 'शून्य' का यही अर्थ समझकर उसका खण्डन किया है। माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शन-सग्रह' मे एक विलक्षण युक्ति देकर ससार को 'सर्वशून्य' सिद्ध किया है। माध्यमिक शून्यवाद को 'सर्वनैराशिकवाद' नाम से भी अभिहित किया है, क्योकि माना जाता है कि इसके अनुसार किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है; परन्तु शून्यवाद के मूल ग्रन्थों के अध्ययन से यही सिद्ध होता है कि शून्य शब्द का प्रयोग सत्ता निराश के अर्थ मे नही किया गया है।

शून्य का अर्थ—इस प्रत्यक्ष जगत से परे पारमार्थिक सत्ता विद्यमान है, लेकिन वह अवर्णनीय है। उसके विषय में यह कुछ भी नही कहा जा सकता है कि वह तत्त्व आतरिक है या बाह्य है। लौकिक विचारों से वर्ण-नीय न होने के कारण वह तत्त्व 'शून्य' कहा गया है। परन्तु शून्य वस्तुतः अभावरूपी नही है। अभाव स्वय एक सापेक्ष शब्द है, क्योकि 'भाव' की कल्पना पर ही 'अभाव' आश्रित है। परन्तु वह परमतत्व स्वतः एक निर-पेक्ष सत्ता है। वह अपनी सत्ता के लिए किसीपर आश्रित नही है। जब आपने कहा कि 'यहा घडा नही है', तब आपने अनजाने ही 'है' की भी कल्पना स्वीकार कर ली। फलत. अभाव की सत्ता भाव के ऊपर अवलम्बित होने से एक सापेक्ष सत्ता (किसी वस्तु की अपेक्षा रखनेवाली सत्ता) है। 'शून्य' एक निरपेक्ष तत्त्व है, जो स्वतः अपने-आप पूर्ण है, सत्य है, वर्तमान

है; अन्य किसीके आधार पर खड़ा नहीं रखना। 'शून्य' का यही अर्थ इस मत में अभीष्ट है।

माध्यमिक लोग दो प्रकार की सत्यता मानते हैं—१. पारमार्थिक सत्य तथा २. संवृत्ति सत्य। पहला सत्य तो शून्य रूप है। वही वास्तव है और उससे इतर सबकुछ मिथ्या है, झूठा है तथा अनृत है, परन्तु उसकी व्यावहारिक सत्ता है। 'संवृति सत्य' का अर्थ है व्यावहारिक सत्य। निर्वाण से भिन्न पदार्थों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है।

संवृत्ति सत्य पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति के लिए एक साधनमात्र है। निर्वाण की दशा भी साधारण व्यावहारिक दशा से भिन्न होती है, क्योंकि निर्वाण पानेवाला प्राणी व्यावहारिक दशा से सर्वथा मुक्त हो जाता है। हमारी कल्पना में वह अतीत होती है। उसका भी वर्णन नकारात्मक रूप से ही किया जा सकता है। निर्वाण का रूप-निर्धारण करते हुए आचार्य नागार्जुन के इस नकारात्मक विवरण पर ध्यान देना आवश्यक है। वह कहते हैं कि जो अज्ञात है (अर्थात् साधारण उपायों के द्वारा अविदित होता है), जिसकी प्राप्ति नई नहीं होती (अर्थात् जो सर्वदा प्राप्त है), जिसका विनाश नहीं होता, जो नित्य भी नहीं है, जो निरुद्ध नहीं है और जो उत्पन्न भी नहीं है, उसीका नाम निर्वाण है (माध्यमिक कारिका २५।३)। निर्वाण को यथार्थ रूपमें जाननेवाला व्यक्ति ही 'तथागत' (बुद्ध) है और इसीलिए उनका भी स्वरूप निर्वाण के समान ही वर्णनातीत है।

शून्यवाद के इस संक्षिप्त वर्णन से पाठकों को यह बात ध्यान में आ गई होगी कि माध्यमिकों के शून्याद्वैत तथा शंकराचार्य के ब्रह्माद्वैत के सिद्धान्तों में अनेक समानताएं दृष्टिगोचर होती है। माध्यमिक दो प्रकार के सत्य मानते हैं—व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य। वे वस्तु जगत को काल्पनिक और असत्य मानते हैं। पारमार्थिक सत्ता का नकारात्मक वर्णन करते हैं तथा निर्वाण को उस सत्य की अनुभूति मानते हैं। अद्वैत-वेदान्त में भी ये विचार पाये जाते हैं। इसी कारण बहुत-से आलोचक शंकराचार्य के ही नहीं, प्रत्युत उनके भी पूर्ववर्ती आचार्य गौड़पाद के सिद्धान्तों पर माध्यमिकों की विचारधारा का प्रभाव स्वीकार करते हैं।

निर्वाण का स्वरूप

निर्वाण के स्वरूप के विषय में हीनयान और महायान की कल्पनाएं नितान्त भिन्न हैं। यह विषय बौद्ध-दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। निर्वाण के विषय में बौद्धधर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय का विशिष्ट मत है। निर्वाण भाव-रूप है अथवा अभाव रूप, इस विषय को लेकर बौद्ध-दर्शन में पर्याप्त मीमांसा की गई है। इस उपादेय विषय की यहां मीमांसा प्रस्तुत की जा रही है।

हीनयान

निर्वाण का सामान्य रूप—हीनयान मतानुयायी अपनेको तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित मानता है—१. दुःख-दुःखता अर्थात् भौतिक और मानसिक कारणों से उत्पन्न होनेवाला क्लेश, २. संस्कार-दुःखता अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाशशील जगत् की वस्तुओं से उत्पन्न होनेवाला क्लेश, ३. विपरिणाम दुःखता अर्थात् सुख का दुःख रूप में परिणत होने का क्लेश। मनुष्य को इन क्लेशों से कभी छुटकारा नहीं मिलता, चाहे वह कामधातु, रूपधातु अथवा अरूपधातु में ही जीवन क्यों न व्यतीत करता हो। इस दुःख से छुटकारा पाने का उपाय बुद्ध ने स्वयं बतलाया है—आर्य सत्य, सांसारिक पदार्थों की अनित्यता तथा अनात्मता का ज्ञान। अष्टांगिक मार्ग के अनुशीलन से तथा जगत् के पदार्थों में आत्मा का अस्तित्व नहीं है, इस ज्ञान को परिनैष्ठिक रूप देने पर साधक उपरिनिर्दिष्ट क्लेशों से सदा के लिए मुक्ति पा लेता है। फिर ये क्लेश उसे किसी प्रकार पीड़ित करने के लिए या संसार में बद्ध करने के लिए कथमपि समर्थ नहीं होते। अतः आर्य सत्य के ज्ञान से—सदाचार के अनुष्ठान से—हीनयान-सम्प्रदाय में कोई भी साधक क्लेशों से निवृत्ति पा लेता है।

निर्वाण और निरोध की एकता—हीनयान के विविध सम्प्रदायों में इस विषय को लेकर पर्याप्त मतभेद दिखाई पड़ता है। निकायों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि निर्वाण क्लेशभाव रूप है। जब क्लेश के आवरण का सर्वथा परिहार हो जाता है तब निर्वाण की अवस्था का जन्म होता है। इसे सुख-रूप भी बतलाया गया है; परन्तु अधिकतर बौद्ध निकाय निर्वाण को

अभावात्मक ही मानते है। 'मिलिंदप्रश्न' में निर्वाण के विषय में बड़ी सूक्ष्म विवेचना की गई है।[1] इसका स्पष्ट कथन है कि निरोध हो जाना ही निर्वाण है। ससार के सभी अज्ञानी जीव इन्द्रियों और विषयों के योग में लगे रहने के कारण नाना प्रकार के दुःख उठाते है। परन्तु ज्ञानी आर्य-श्रावक इन्द्रियों और विषयों के उपभोग मे न कभी लगा रहता है और न उसमे आनन्द ही लेता है। फलतः उसकी तृष्णा का निरोध हो जाता है। तृष्णा के निरोध के साथ उपादान का—भव का—निरोध उत्पन्न होता है। पुनर्जन्म के बन्द होते ही सभी दुःख रुक जाते है। इस प्रकार तृष्णादिक क्लेशो का निरोध हो जाना ही निर्वाण है। नागसेन की सम्मति मे निर्वाण के बाद व्यक्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है। जिस प्रकार जलती हुई आग की लपट बुझ जाने पर दिखाई नही जा सकती, उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त हो जाने के बाद वह व्यक्ति दिखाया नही जा सकता, क्योकि उसके व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। अतः निर्वाण के अनन्तर व्यक्तित्व की सत्ता किसी प्रकार सिद्ध नही रहती।

निर्वाण की निर्गुणता—ससार में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओ की यह विशेषता है कि उनमे से कुछ तो कर्म के कारण उत्पन्न होती है, कुछ हेतु के कारण और कुछ ऋतु के कारण। परन्तु निर्वाण ही आकाश के साथ ऐसा पदार्थ है, जो न तो कर्म के कारण उत्पन्न होता है, न हेतु के कारण और न ऋतु के कारण। वह तो हेतु से रहित त्रिकालातीत, इन्द्रियातीत और अनिर्वचनीय पदार्थ है, जिसे विशुद्ध ज्ञान के द्वारा अर्हत् जान सकता है। निर्वाण के साक्षात् करने के उपाय है, परन्तु उसे उत्पन्न करने का कोई उपाय नही है। साक्षात् करना तथा उत्पन्न करना दोनो भिन्न-भिन्न वस्तुए है। कोई भी मनुष्य अपनी प्राकृतिक शक्ति के बल पर हिमालय तक जा सकता है, परन्तु वह लाखों कोशिश करने पर भी उसे इस स्थान पर नही ला सकता, कोई भी मनुष्य साधारण शक्ति के सहारे भी नाव पर चढकर समुद्र के इस पार से उस पार तक जा सकता है, परन्तु अश्रान्त परिश्रम करने पर भी उस पार को इस पार नही ला सकता, ठीक यही दशा निर्वाण की भी है। उसके साक्षात्कार करने का मार्ग बताया जा सकता

[1] मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ ९२।

है, परन्तु उसके उत्पादक हेतु को कोई भी नही दिखा सकता।[1] इसका कारण यह है कि निर्वाण निर्गुण है। उसके उत्पन्न होने का प्रश्न ही नही उठता, क्योंकि वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालो से परे है। अदृश्य होने पर भी, इन्द्रियो द्वारा गोचर न किये जाने पर भी उसकी सत्ता है। अर्हत्-पद को प्राप्त कर भिक्षु विशुद्ध, ऋजु और आवरणों तथा सासारिक कामों से रहित मन द्वारा निर्वाण को देखता है। अत. उसकी सत्ता के विषय मे किसी प्रकार का अपलाप नही दिया जा सकता, परन्तु निर्गुण होने से वह उत्पादरहित है। उपाय होने से उसका साक्षात्कार अवश्य होता है, परन्तु वह स्वयं अनिर्वचनीय पदार्थ है।

निर्वाण की सुखरूपता——नागसेन ने निर्वाण की अवस्था के विषय में भी खूब विचार किया है।[2] महाराज मिलिन्द की सम्मति में निर्वाण मे दु.ख कुछ-न-कुछ अवश्य ही विद्यमान रहता है, क्योंकि निर्वाण की खोज करनेवाले नाना प्रकार के संयमो से अपने शरीर, मन तथा इन्द्रियो को तप्त किया करते है। ये ससार से नाता तोडकर और इन्द्रियो तथा मन की वासनाओं को मारकर बन्द कर देते है, जिसमे शरीर को भी कष्ट होता है और मन को भी। इसी युक्ति के सहारे मिलिन्द की दृष्टि से निर्वाण भी दुख मे सना होता है। इसके उत्तर मे नागसेन की स्पष्ट सम्मति है कि निर्वाण में दुःख का लेश भी नहीं रहता। वह तो सुख-ही-सुख है। राज्य की प्राप्ति होने मे नाना प्रकार के क्लेश सहने पडते है, परन्तु स्वय राज्य-प्राप्ति क्लेश में नही है। इसी प्रकार तपस्या, ममतात्याग, इन्द्रिय-जय आदि निर्वाण के उपायो में क्लेश अवश्य है, परन्तु स्वय निर्वाण मे क्लेश कहा? वह तो महासमुद्रों के समान अनन्त है। कमल के समान क्लेशों से अलिप्त है। जल के समान सभी क्लेशो की गर्मी को शान्त कर देता है। कामतृष्णा, भव-तृष्णा और विभव-तृष्णा की प्यास को बुझा देता है। वह आकाश के समान दश गुणों से युक्त रहता है। न पैदा होता है, न पुराना होता है, न मरता है और न आवागमन को प्राप्त करता है। वह दुर्ज्ञेय, स्वच्छन्द तथा अनन्त

---

[1] 'मिलिन्द प्रश्न', पृष्ठ ३२९-३३३।

[2] वही, पृष्ठ ३८४-४०३।

है। अच्छी राह पर चलकर संसार के सभी संस्कारों को अनित्य दुःख तथा अनात्म रूप से देखता हुआ कोई भी व्यक्ति प्रज्ञा से निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है। उसके लिए किसी दिशा का निर्देश नहीं किया जा सकता। महाकवि अश्वघोष का कहना है कि बुझा हुआ दीपक न तो पृथ्वी पर जलता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, न किसी विदिशा में, प्रत्युत स्नेह (तेल) के क्षय होने से वह केवल शान्ति को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष कहीं नहीं जाता है—न पृथ्वी पर, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, न किसी विदिशा में—केवल क्लेश के क्षय हो जाने पर वह शान्ति प्राप्त कर लेता है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नांतरिक्षम्।
दिशं न कञ्चित् विदिशं न कञ्चिद् क्लेशक्षयात् केवलमेति शांतिम्।

—सौदरनन्द, १६।२८-२९

स्थविरवादी मत में निर्वाण की कल्पना—निर्वाण की यही सामान्य कल्पना है। ज्ञान के उदय होने से जब अविद्या के पाश स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाते है तब अर्हत् की अवस्था का नाम निर्वाण है। यही चरम लक्ष्य है, जिसके लिए भगवान् तथागत ने अपने धर्म की शिक्षा दी है। निर्वाण इसी लोक में प्राप्त होता है। वेदान्त में जीवन्मुक्त पुरुष की जो कल्पना है, वही कल्पना निर्वाण-प्राप्त अर्हत् की है। परन्तु निर्वाण के स्वरूप के विवेचन में हीनयान तथा महायान सम्प्रदाय के अनुयायियों में पर्याप्त मतभेद है। सामान्य रीति से कहा जा सकता है कि हीनयान निर्वाण को दुःख का अभाव मात्र मानता है और महायान उसे आनन्द रूप बताता है। परन्तु हीनयान के सम्प्रदायों के भीतर भी इसके विषय में भिन्न-भिन्न मत है। थेरवादियों की दृष्टि से निर्वाण मानसिक तथा भौतिक जीवन का चरम निरोध है। निर्वाण प्राप्त हो जाने के बाद व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता है। 'निर्वाण' शब्द का अर्थ ही है बुझ जाना। जिस प्रकार दीपक तबतक जलता रहता है जबतक उसमें बत्ती और तेल विद्यमान रहते हैं, उनके नष्ट होते ही दीपक स्वतः शान्त हो जाता है, उसी प्रकार तृष्णा आदि

क्लेशों के विराम ले लेने पर जब यह भौतिक जीवन अपने चरम अवसान पर पहुच जाता है तब यह निर्वाण कहलाता है।

वैभाषिक मत में निर्वाण—वैभाषिकों के मत इस विषय मे स्थविरवादियों के मत के समान ही है। वे भी निर्वाण को अभावात्मक मानते है। निर्वाण प्रतिसंख्या-निरोध है, अर्थात् विशुद्ध प्रज्ञा के सहारे सांसारिक साश्रव धर्मों तथा सस्कारों का जब अन्त हो जाता है तब वही निर्वाण कहलाता है।

प्रतिसंख्यानमनाश्रवा एव प्रज्ञा गृह्यते, तेन प्रज्ञाविशेषेन प्राप्यो निरोधः इति प्रतिसंख्या निरोधः !

—यशोमित्रकृत अभिधर्मकोशव्याख्या, पृष्ठ १६

निर्वाण नित्य, असंस्कृत धर्म, स्वतन्त्र सत्ता (भाव=वस्तु), पृथक् भूत सत्य पदार्थ (द्रव्य सत्य) है।

द्रव्य सन् प्रतिसंख्या-निरोधः सत्यचतुष्टयनिर्देशनिर्दिष्टत्वात् मार्गसत्यवत् इति वैभाषिकाः।

—अभिधर्मकोशव्याख्या, पृष्ठ १७

निर्वाण अचेतन अवस्था का सूचक है अथवा चेतन अवस्था का? इस प्रश्न के विषय में वैभाषिकों मे एकमत नही दिखाई पडता। तिब्बतीय परम्परा से ज्ञात होता है कि कुछ वैभाषिक निर्वाण की प्राप्ति के अवसर पर उस चेतना का सर्वथा निरोध मानते थे, जो क्लेशोत्पादक (साश्रव) संस्कारों के द्वारा प्रभावित होती है। इसका अभिप्राय यह कि आश्रवों मे किसी प्रकार भी प्रभावित न होनेवाली कोई चेतना अवश्य है, जो निर्वाण की प्राप्ति होने के बाद भी विद्यमान रहती है। वैभाषिकों का यह एक एकांगी मत था। इस मत के माननेवाले कौन थे, यह कहना बहुत ही कठिन है। वैभाषिकों का सामान्य मत यही है कि यह अभावात्मक है। संघभद्र की 'तर्कज्वाला' के अध्ययन मे प्रतीत होता है कि मध्य भारत मे वैभाषिकों का एक ऐसा सम्प्रदाय था, जो 'तथता' नामक चतुर्थ असंस्कृत धर्म मानता था। यह तथता वैशेषिकों के अभाव पदार्थ के समान था। निर्वाण की कल्पना के लिए ही अभाव के चारों भेदों—प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव—की कल्पना की गई थी। यह तथता महायान सम्प्रदाय में परमार्थ सत्य के लिए

प्रयुक्त 'तथता' शब्द से नितान्त भिन्न है। इस प्रकार वैभाषिकों के मत में निर्वाण क्लेशाभाव रूप माना जाता है। परन्तु अभाव होने पर भी यह सत्तात्मक पदार्थ है। वैभाषिक लोग भी वैशेषिकों के समान अभाव पदार्थ मानते थे। भाव पदार्थों के समान अभाव भी स्वतन्त्र पदार्थ था।

सौत्रान्तिक मत में निर्वाण का रूप—ये लोग निर्वाण को विशुद्ध ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होनेवाला भौतिक जीवन का चरम निरोध मानते थे। इस अवस्था में भौतिक सत्ता किसी प्रकार विद्यमान नहीं रहती। इसीलिए यह उस सत्ता का अभाव माना गया है। परन्तु इस विषय में वैभाषिकों से इनका मत भिन्न है। वैभाषिक लोग तो निर्वाण को स्वतः सत्तावान् पदार्थ अर्थात् वस्तु मानते हैं। परन्तु सौत्रान्तिक लोग निर्वाण को वस्तु नहीं मानते। निर्वाण की प्राप्ति के अनन्तर सूक्ष्म चेतना विद्यमान रहती है, जो चरम शान्ति में डूबी रहती है। भोट देश की परम्परा से पता चलता है कि सौत्रान्तिकों की एक ऐसी उपशाखा थी, जो निर्वाण को भौतिक सत्ता तथा चेतना का उपशम मानती थी। उसकी दृष्टि में निर्वाण प्राप्त होनेवाले अर्हत् की भौतिक सत्ता का ही सर्वथा निरोध नहीं हो जाता, प्रत्युत चेतना का भी विनाश हो जाता है। इस शाखा के मतानुसार निर्वाण के अनन्तर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। न तो कुछ जीवन शेष रहता है और न कोई चेतना ही बाकी रह जाती है। इस प्रकार यह निर्वाण नितान्त अभावात्मक है।

नैयायिकों की मुक्ति से निर्वाण की तुलना—निर्वाण की यह हीनयानी कल्पना ब्राह्मण दार्शनिकों में से न्याय-वैशेषिक की मुक्ति की कल्पना से बिल्कुल मिलती-जुलती है। गौतम के शब्दों में दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग (मुक्ति) कहते हैं। **तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः**। —न्यायसूत्र १।१।२२ अत्यन्त का अर्थ है चरम अवसान, अर्थात् जिससे उपात्त वर्तमान जन्म का परिहार हो जाय तथा भविष्य में अन्य जन्म की उत्पत्ति न हो। गृहीत जन्म का नाश तो होना ही चाहिए, साथ ही भविष्य जन्म की अनुत्पत्ति भी आवश्यक है। इन दोनों के सिद्ध होने पर आत्मा दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति पा लेती है। जबतक वासना आदि आत्मगुणों का उच्छेद नहीं होता, तबतक दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए आत्मा

महायान

महायान सम्प्रदायवाले इस मुक्ति को वास्तविक रूप में निर्वाण मानने को तैयार नही है। उनकी सम्मति में इस निर्वाण से केवल क्लेशावरण का ही क्षय होता है, ज्ञेयावरण की सत्ता बनी ही रहती। हीनयान[1] सम्प्रदाय की दृष्टि मे राग-द्वेष की सत्ता पंच स्कन्ध के रूप से या उससे भिन्न प्रकार से आत्मा की सत्ता मानने के ऊपर अवलम्बित है। आत्मा की सत्ता रहने पर ही मनुष्य के हृदय मे यज्ञ-यागादिक मे हिंसा करने की प्रवृत्ति होती है। परलोक मे आत्मा को सुख पहुंचाने के लिए ही मनुष्य नाना प्रकार के अकुशल कर्मो का सम्पादन करता है। इसलिए समस्त क्लेश और दोष इसी आत्मदृष्टि (सत्काम दृष्टि) के विषम परिणाम है। अतः आत्मा का निषेध करना क्लेश-नाश का परम उपाय है। इसीको कहते है पुद्गल-नैरात्म्य। हीनयान इसी नैरात्म्य को मानता है। परन्तु इस नैरात्म्य के ज्ञान से केवल क्लेशावरण का ही क्षय होता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरे आवरण की भी सत्ता है, जिसे ज्ञेयावरण कहते है। 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' मे इन दोनों आवरणों का भेद बडी कुशलता से दिखाया गया है। नैरात्म्य दो प्रकार का है—(क) पुद्गल नैरात्म्य और (ख) धर्म नैरात्म्य। रागादिक क्लेश आत्मदृष्टि से उत्पन्न होते है, अतः पुद्गल नैरात्म्य के ज्ञान से प्राणी सब क्लेशो को छोड़ देता है।

जगत् के पदार्थो के अभाव या उनकी शून्यता के ज्ञान से सच्चे ज्ञान के ऊपर पड़ा आवरण स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाता है। मोक्ष और सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिए इन दोनों आवरणों (क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण) का हटना नितान्त आवश्यक है। क्लेश-मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवरण का काम करते है, मुक्ति को रोकते है। अतः इस आवरण को दूर हटाने से मुक्ति

---

[1] **सत्कामदृष्टिप्रभवानशेषान्, क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन्।**
आत्मानमस्या विषयञ्च बुद्ध्वा, योगी करोत्यात्मनिषेधमेव॥
—चन्द्रकीर्तिकृत माध्यमकावतार, ६।१२०। माध्यमिकवृत्ति, पृष्ठ ६४० में उद्धृत।

के नौ विशेष गुणों—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा सस्कार—का मूलोच्छेद हो जाता है। मुक्त दशा मे आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है और अखिल गुणों से विरहित रहती है। वह छह प्रकार की ऊर्मियो से भी रहित हो जाती है। ऊर्मि का अर्थ है क्लेश। भूख-प्यास प्राण को; लोभ-मोह चित्त को, शीत-आतप शरीर को क्लेशदायक होने मे ये छहों ऊर्मि कहे जाते है। मुक्त आत्मा इन छहों ऊर्मियों के प्रभाव को पार कर लेती है और सुख-दु.ख आदि सासारिक बन्धनो से विमुक्त हो जाती है। उस अवस्था मे दु.ख के समान सुख का भी अभाव आत्मा में रहता है। जयन्त भट्ट[1] ने बहुत विस्तारपूर्वक भाववादी वेदान्तियों के मत का खण्डन कर मुक्ति के अभाव पक्ष को पुष्ट किया है। मुक्ति में सुख न मानने का प्रधान कारण यह है कि सुख के साथ राग का सम्बन्ध सदा लगा रहता है और यह राग है बन्धन का कारण। ऐसी अवस्था मे मोक्ष को सुखात्मक मानने मे बन्धन की निवृत्ति कथमपि नही हो सकती। इसलिए नैयायिक लोग मुक्ति को दुःख का अभाव रूप ही मानते है।

इसी अभावात्मक मोक्ष की कल्पना के कारण वेदान्ती श्रीहर्ष ने नैयायिकों की बहुत दिल्लगी उड़ाई है। उनका कहना है कि जिस सूत्रकार ने सचेतन प्राणियो के लिए ज्ञान, सुख आदि से विरहित शिलारूप प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य बताकर उपदेश किया है, उनका 'गोतम' नाम शब्दतः ही यथार्थ नही है, अपितु अर्थतः भी यथार्थ है, वे केवल गो न होकर गोतम (अतिशयेन गौः इति गोतमः=पक्का बैल) है।

मक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवैक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥

—नैषधचरित, १७।७५

इस विवेचन से स्पष्ट है कि नैयायिक मुक्ति और हीनयानी निर्वाण की कल्पना एक ही है।

[1] न्यायमंजरी, भाग २ (चौखंभा संस्करण), पृ० ७५-८१

से भिन्न है—

अप्रहाणम् असंप्राप्तम् अनुच्छिन्नम् अशाश्वतम् ।
अनिरुद्धम् अनुत्पन्नम् एतन्निर्वाणमुच्यते ।।

इस कारिका की व्याख्या करते हुए चद्रकीर्ति का कथन है कि राग के समान निर्वाण का प्रहाण (त्याग) नही हो सकता और न सात्त्विक जीवन के फल के समान इसकी प्राप्ति ही सभव है। हीनयानियो के निर्वाण के समान यह नित्य नही है। यह स्वभाव से ही उत्पत्ति-विनाशरहित है और इसका लक्षण शब्दत: निर्वचनीय नही है। जबतक कल्पना का साम्राज्य बना हुआ है तबतक निर्वाण की प्राप्ति नही हो सकती। महायानियो के अनुसार निर्वाण और संसार मे कुछ भी भेद नही है। कल्पना-जाल के क्षय होने का नाम ही निर्वाण है। नागार्जुन ने निर्वाण को भाव पदार्थ माननेवाले तथा अभाव पदार्थ माननेवाले दार्शनिको के मत की आलोचना की है। उनके मत में निर्वाण भाव तथा अभाव दोनो से अतिरिक्त पदार्थ ह। यह अनिर्वचनीय है। यह परम तत्त्व है। इसीका नाम भूतकोटि या धर्म-धातु है।

दोनों मतों मे निर्वाण का सामान्य रूप

हीनयान तथा महायान सप्रदायो के ग्रथो के अनुशीलन मे निर्वाण-विषयक सामान्य कल्पना का रूप इस प्रकार का स्थिर होता है—१. यह शब्दो द्वारा प्रकट नही किया जा सकता (निष्प्रपंच)। यह असस्कृत धर्म है, अत: न तो इसकी उत्पत्ति है, न इसका विनाश है और न परिवर्तन है। २. इसकी अनुभूति अपने ही अन्दर स्वत. की जा सकती है। इसीको योगाचारी लोग प्रत्यात्मवेद्य कहते है और हीनयानी लोग 'पच्चत्त वेदितब्ब' शब्द द्वारा व्यक्त करते है। ३. यह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालो के बुद्धों के लिए एक है और सम है। ४. मार्ग द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है। ५. निर्वाण मे व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता है। ६. दोनो मतवाले बुद्ध के ज्ञान तथा शक्ति को लोकत्तर, अर्हत् के ज्ञान से बहुत ही उन्नत मानते है। महायानी लोग अर्हत् के निर्वाण को निम्न कोटि का तथा असिद्धावस्था का सूचक मानते है। इसे हीनयानी लोग

प्राप्त होती है। ज्ञेयावरण सब ज्ञेय पदार्थों के ऊपर ज्ञान की प्रवृत्ति रोकता है। अतः इस आवरण के दूर हो जाने पर सब वस्तुओं में अप्रतिहत ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जिससे सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।[1]

पुद्गलधर्मनैरात्म्यप्रतिपादनं पुनः क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणार्थम्। तथा ह्यात्मदृष्टिप्रभवा रागादयः क्लेशाः पुद्गलनैरात्म्यावबोधश्च सत्कायदृष्टेः प्रतिपक्षत्वात् तत्प्रहाणाय प्रवर्तमानः सर्वक्लेशान् प्रजहाति। धर्मनैरात्म्यज्ञानादपि ज्ञेयावरणप्रतिपक्षत्वात् ज्ञेयावरणं प्रहीयते। क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणमपि मोक्षसर्वज्ञत्वाधिगमार्थम्। क्लेशा हि मोक्षप्राप्तेरावरणमिति अतस्तेषु प्रहीणेषु मोक्षऽधिगम्यते। ज्ञेयावरणऽपि सर्वस्मिन् ज्ञेये ज्ञानप्रवृत्तिप्रतिबन्धभूतं अक्लिष्टज्ञानम्। तस्मिन् प्रहीणे सर्वाकारे ज्ञेयेऽसक्तमप्रतिहतं च ज्ञानं प्रवर्तत इत्यतः सर्वज्ञत्वमधिगम्यते॥

—स्थिरमतिकृत और प्रा० सिल्वन लेवी सम्पादित 'त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्यम्', पृष्ठ १५

आवरणों का यह द्विविध भेद दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का है। महायान सम्प्रदाय के अनुसार हीनयानी निर्वाण में केवल पहले आवरण (अर्थात् क्लेशावरण) का ही अपनयन होता है। परन्तु शून्यता का ज्ञान होने से दूसरे प्रकार के आवरण का भी नाश होता है। जबतक इस दूसरे आवरण का क्षय नहीं होता तबतक वास्तविक निर्वाण हो ही नहीं सकता। परन्तु हीनयानी लोग इस भेद को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अर्हतों का ज्ञान अनावरण हो जाता है, परन्तु महायान सम्प्रदाय की यह कल्पना नितान्त मौलिक है। हीनयान सम्प्रदाय के अनुसार अर्हत्-पद की प्राप्ति ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। परन्तु महायान सम्प्रदाय के अनुसार बुद्धत्व-प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। उद्देश्य की इसी भिन्नता के कारण निर्वाण की कल्पना में भी भेद है।

नागार्जुन का मत—नागार्जुन ने निर्वाण की बहुत विशद परीक्षा 'माध्यमिककारिका' के पच्चीसवें परिच्छेद में की है। उनके मतानुसार निर्वाण न तो छोड़ा जा सकता है और न प्राप्त किया जाता है। यह न तो उच्छिन्न होनेवाला पदार्थ है और न शाश्वत। यह न तो निरुद्ध है और न उत्पन्न। उत्पत्ति होने पर ही किसी वस्तु का निरोध होता है। निर्वाण दोनों

६. हीनयानी निर्वाण और ससार की धर्म-समता नहीं मानता।	६. माध्यमिकों के मतानुसार निर्वाण ही निराकार परमार्थ भूत है। यही एकमात्र सत्ता है। अन्य पदार्थ चित्त के केवल विकल्प मात्र है। इस प्रकार निर्वाण और ससार मे धर्म-समता रहती है। इन दोनो का सम्बन्ध समुद्र और लहरी के समान है।
७. हीनयानी जगत् के पदार्थों की भी सत्ता मानता है। जगत् उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार निर्वाण।	७. माध्यमिक और योगाचार दोनो की सम्मति में निर्वाण अद्वैत है; अर्थात् उसमें ज्ञाता, ज्ञेय; विषय, विषयी, विधि, निषेध का द्वैत किसी प्रकार भी विद्यमान नही रहता। यही एक तत्त्व है। जगत का प्रपच मायिक तथा मिथ्या है।
८. हीनयानी को यह द्विविध आवरण की कल्पना मान्य नही है।	८. महायान-सम्प्रदाय में निर्वाण की प्राप्ति को रोकनेवाले

मैत्री से हीन होने के कारण अपना चित्त निर्वाण की प्राप्ति मे ही लगाते हैं। परन्तु बोधिसत्त्व मैत्री से युक्त होने के कारण निर्वाण में अपना चित्त कभी नहीं लगाता। इसीलिए उसकी सत्ता अप्रतिष्ठित निर्वाण में मानी जाती है। यह निर्वाण बुद्धों के द्वारा ही प्राप्य है। यह अवस्था अर्हत् से बढ़कर है। 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' के अनुसार इस दशा मे बुद्ध संसार एवं निर्वाण दोनों की कल्पना से बहुत ऊंचे रहते हैं।

आविष्टानां कृपया न तिष्ठति मनः शमे कृपालूनाम्।
कुत एव लोक सौख्ये स्वजीविते वा भवेत् स्नेहः॥
निस्नेहानां श्रावकप्रत्येकबुद्धानां सर्वदुःखोपशमे निर्वाणे प्रतिष्ठितं मनः। बोधिसत्त्वानां तु करुणाविष्टत्वात् निर्वाणेऽपि मनः न प्रतिष्ठितम्।

भी स्वीकार करते है।

दोनों सम्प्रदायों में निर्वाण की कल्पना में जो पार्थक्य है, उसे सक्षेप मे इस प्रकार स्पष्ट किया जा रहा है--

हीनयान	महायान
१. निर्वाण सत्य, नित्य, दु खाभाव तथा पवित्र है।	१. महायानी इसको स्वीकार करता है, केवल दु:खाभाव न मानकर इसे सुख रूप मानता है। वस्तुत. माध्यमिक और योगाचार नित्य, अनित्य, सुख और असुख की कल्पना निर्वाण मे नही मानते, क्योकि उनकी दृष्टि निर्वाण अनिर्वचनीय है।
२. निर्वाण प्राप्त करने की वस्तु है (प्राप्तम्)।	२. निर्वाण अप्राप्य है।
३. निर्वाण भिक्षुओं के ध्यान और ज्ञान के लिए आरभण (आलबन) है।	३. ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय, भिक्षु और निर्वाण मे किसी प्रकार का अन्तर नही है।
४. निर्वाण लोकोत्तर दशा है। प्राणिमात्र के लिए यह ऐसी सबसे उन्नत दशा है, जिसकी कल्पना की जा सकती है।	४. लोकोत्तर मे बढकर भी एक दशा होती है, जिसे 'लकावतार सूत्र' मे 'लोकोत्तरतम' कहा गया है। यही निर्वाण है, जिसमे सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। योगाचार के मत में हीनयानी लोग केवल विमुक्तिकाय (मोक्ष) को प्राप्त करते है और महायानी लोग धर्मकाय और सर्वज्ञत्व को प्राप्त करते है।
५. निर्वाण के केवल दो रूप है—सोपाधिशेष और निरुपाधिशेष या प्रति-सख्या निरोध और अप्रति-संख्या-निरोध।	५. योगाचार के अनुसार निर्वाण के दो भेद और होते है—प्रकृतिशुद्ध निर्वाण और अप्रतिष्ठित[1] निर्वाण।

[1] **'सूत्रालंकार' (पृष्ठ १२६-२७) के अनुसार श्रावक और प्रत्येक बुद्ध**

पानेवाला हीनयानी अर्हत । दोनों असत्य में सत्य की भावना कर कल्पना के प्रपंच में पड़े हुए हैं। महायान मत में निर्वाण ही परम सत्ता है। उसे छोड़कर जगत के समस्त पदार्थ कल्पना-प्रसूत हैं। जिस क्षण प्राणी इस ज्ञान का अनुभव करने लगता है कि वही सत्य है, संसार निर्वाण से पृथक् नहीं है (अर्थात् दोनों एक ही है) उस क्षण वह बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। इसके लिए केवल अपने आत्मत्व की भावना को ही दूर करने से काम नहीं चलेगा, प्रत्युत जिस वस्तु को वह देखता है, वह पदार्थ भी आत्मशून्य है, इसका ज्ञान भी परमावश्यक है। जब इस ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब महायानी कल्पना के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

सांख्य और वेदान्त की मुक्ति से निर्वाण की तुलना

उपरिनिर्दिष्ट निर्वाण की द्विविध कल्पना सांख्य तथा वेदान्त की मुक्ति के साथ तुलनीय है। इन दोनों ब्राह्मण दर्शनों की मुक्ति में महान् अन्तर है। सांख्य द्वैतवादी है और वेदांत अद्वैतवादी। सांख्य की दृष्टि में प्रकृति और पुरुष को एक मानने से अज्ञान उत्पन्न होता है। वेदांत की दृष्टि में एक तत्त्व को अनेक समझने में अज्ञान है। सांख्य की प्रक्रिया के अनुसार समाधि के द्वारा बाह्य जगत के पदार्थों पर ध्यान लगाने से सब विषय धीरे-धीरे छूट जाते हैं तथा अस्मिता में उनका अवसान हो जाता है। अस्मिता विषयी और विषय के परस्पर मिश्रण का सूचक है। 'अस्मि' में दो अंश हैं—अस्+मि। अस्=सत्त्व या प्रकृति तथा मि=उत्तम पुरुष=चेतन। 'अस्मि' पुरुष नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें सत्त्व का अंश नहीं है। 'अस्मि' प्रकृति भी नहीं है, क्योंकि जड होने से वह 'मि' अर्थात् 'चेतन पुरुष' नहीं हो सकती। इसीलिए 'अस्मि' प्रकृति तथा पुरुष का, विषयी तथा विषय का मिश्रण है। समाधिप्रज्ञा के बल पर हम इस अंश तक पहुंचते हैं। अब यहां से पुरुष को प्रकृति से पृथक् हटाने का प्रयत्न होता है। विवेकख्याति ही सांख्य का चरम लक्ष्य है। प्रकृति तथा पुरुष के पृथकत्व के ज्ञान को विवेकख्याति कहते हैं। 'योगसूत्र' के मतानुसार इसकी सात भूमियां हैं। पुरुष धीरे-धीरे इन भूमियों को पार करता हुआ सत्त्व से पृथक् होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। सत्त्व तो स्वयं अंधकारमय है। पुरुष का

उसकी सम्मति मे क्लेशावरण के अनन्तर अर्हत् का ज्ञान आवरण-हीन रहता है।

दो प्रकार के आवरण माने गए है—क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण। उनकी सम्मति मे हीनयानी केवल क्लेशावरण से मुक्त हो सकता है। महायानी ही स्वय दोनो आवरणो से मुक्त हो सकते है।[1]

निर्वाण का परिनिष्ठित रूप

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि हीनयान मत मे जब भिक्षु अर्हत की दशा प्राप्त कर लेता है तब उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है। साधारणतया प्राणी पूर्वकर्मो के कारण उत्पन्न होनेवाले धर्मो का सघातमात्र है। वह अनन्त काल से इस भ्रान्ति मे पडा है कि उसके भीतर आत्मा नामक कोई चेतन पदार्थ है। अष्टागिक मार्ग के सेवन से प्रत्येक व्यक्ति को वस्तुओं की अनित्यता का अनुभव हो जाता है। जिन स्कधों से उसका शरीर बना हुआ है, वे स्कध विशिष्ट रूप से उसीके नही है। जगत् के प्रत्येक प्राणी उन्ही स्कधों से बने है। इस विषय का जब उसे अच्छी तरह ज्ञान हो जाता है तब वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है। निर्वाण वह मानसिक दशा है, जिसमे भिक्षु जगत् के अनन्त प्राणियो के साथ अपना विभेद नही कर सकता। उसके व्यक्तित्व का लोप हो जाता है तथा सब प्राणियो के एकत्व की भावना उसके हृदय मे जाग्रित हो जाती है। साधारण रीति मे हीनयानी निर्वाण की यही कल्पना है। परन्तु महायानी कल्पना इससे नितान्त भिन्न है। महायानी लोग धर्मो की सत्ता मानते ही नही। वे लोग केवल धर्मकाय या धर्मधातु को ही सत्य मानते है। बुद्ध को छोडकर जितने प्राणी है, वे सब कल्पना-जाल मे पड़े है। पुत्र और धन को रखनेवाला व्यक्ति उसी प्रकार भ्रान्ति मे पडा हुआ है, जिस प्रकार सुख और शान्ति के सूचक निर्वाण को

---

[1] **हीनयानी निर्वाण का वर्णन 'कथावत्थु,' 'विशुद्धिमग्ग' तथा 'अभिधम्मकोश' के अनुसार है तथा महायानी निर्वाण का वर्णन 'माध्यमिकवृत्ति' और 'लंकावतारसूत्र' के अनुसार है। इन दोनों मतों के विशेष विवरण के लिए देखिये 'दत्तकृत आस्पेक्ट्स ऑव महायान बुद्धिज्म'—पृष्ठ १६८-२०१**

इन पदार्थों का संक्षिप्त परिचय क्रमशः उपस्थित किया जाता है—

१. प्रमाण—प्रभा (यथार्थ ज्ञान) के असाधारण कारण को प्रमाण कहा जाता है। इसके द्वारा ही किसी वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान उत्पन्न होता है। न्याय में ये चार होते है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

२ प्रमेय—प्रमा के विषय को प्रमेय कहते है,जो सख्या में बारह है—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग। इनका विस्तृत परिचय आगे दिया जायगा।

३ संशय—एक ही धर्मी में विरुद्ध अनेक धर्मो का परिज्ञान 'सशय' कहलाता है, स्थाणु (ठूठ) अथवा पुरुष। एक ही पदार्थ में कुछ तो स्थाणु के धर्म और कुछ पुरुष के धर्म प्रतीत हो रहे है। अत. यह सशय उत्पन्न होता है कि यह वस्तु स्थाणु है अथवा पुरुष।

४. प्रयोजन—इसमे प्रयुक्त होकर पुरुष किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। प्रयोजन मुख्यरूपेण सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश है, क्योंकि इन्ही के लिए सबकी प्रवृत्ति होती है। किसी भी कार्य में प्राणी इसीलिए प्रवृत्त होता है कि उसके द्वारा उसे सुख की प्राप्ति होगी और दुःख का नाश होगा।

५. दृष्टान्त—जिसके विषय में वादी और प्रतिवादी में किसी प्रकार का मतभेद न हो, वह दृष्टान्त कहलाता है। साधारण लौकिक पुरुष और विशेषज्ञ परीक्षक उसे एक रूप से मानते है। यह दो प्रकार का होता है—साधर्म्य दृष्टान्त जैसे धूमवत्ता का दृष्टान्त महानस (रसोईघर) तथा वैधर्म्य दृष्टान्त जैसे धूमवत्ता का तालाब।

६. सिद्धान्त—प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया गया अर्थ 'सिद्धान्त' कहलाता है। यह चार प्रकार का होता है—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण तथा अभ्युपगम।

७. अवयव—अनुमान करते समय जिस वाक्य का प्रयोग किया जाता है, उसके अंगों को अवयव कहते हैं। ये संख्या में पाच होते है—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन। इनकी व्याख्या अनुमान के प्रकरण में आगे की जायगी।

८. तर्क—यह प्रमाण नहीं है, किन्तु प्रमाणों का अनुग्राहक है। दो

व्याप्तियुक्त धर्मों में से व्याप्य के स्वीकार करने से अनिष्ट व्यापक की प्रसक्ति होना 'तर्क' कहलाता है। जैसे 'यदि यहा घट होता, तो वह भूतल के समान दिखाई पडता'।

९. **निर्णय**—निश्चयात्मक ज्ञान को 'निर्णय' कहते है। यह प्रमाणो का फल होता है।

१०. **वाद**—शास्त्रार्थ के समय किसी विवेचनीय विषय पर प्रश्न करनेवाले को 'वादी' और उसके उत्तर देनेवाले को 'प्रतिवादी' कहते है। ये दोनों जब तत्त्व के जानने के लिए शास्त्रार्थ (कथा), करते है तब इसे 'वाद' कहते है। इस कथा का उद्देश्य होता है तत्त्व का परिज्ञान, वस्तु के स्वरूप की अवगति।

११. **जल्प**—जब वादी-प्रतिवादी विजय की अभिलाषा से शास्त्रार्थ मे जुटते है और अपने-अपने पक्ष के समर्थन मे अर्थात् अपने ही पक्ष को सिद्ध करने के लिए कथा करते है, तो यह जल्प कहलाती है।

१२. **वितण्डा**—जब विजिगीषु का उद्देश्य परपक्ष में केवल दूषण देने का होता है और वह अपने किसी पक्ष की स्थापना नही करता, तब यह कथा 'वितण्डा' कहलाती है। 'कथा' का यहा अर्थ है किसी तत्त्व के निर्णय करने के लिए अनेक वक्ताओं के द्वारा पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के रूप में चर्चा या वार्तालाप। यदि यह तत्त्व-निर्णय के ही उद्देश्य से की जाती है, तब यह कथा होती है 'वाद'; परपक्ष का खण्डन कर स्वपक्ष की स्थापना होने पर यह होती है 'जल्प' और स्वपक्ष की स्थापना से विरहित होकर परपक्ष के खण्डन होने पर यही कहलाती है 'वितण्डा'। कथा के इस त्रिविध भेद का यही पारस्परिक अन्तर है।

१३. **हेत्वाभास**—अच्छे हेतु से ही अनुमान यथार्थतः हो सकता है। सत्-हेतु के पांच रूप है। सत्-हेतु के अभाव होने से जो अयथार्थ अनुमान होता है, उसे ही हेत्वाभास कहते है। विशेष विवरण आगे किया जायगा।

१४. **छल**—अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द की किसी दूसरे अर्थ में कल्पना कर दोष देना 'छल' कहलाता है। जैसे किसीने कहा —**नवकम्बलोऽयं देवदत्तः**(देवदत्त के पास नया कम्बल है)। यहा प्रतिवादी 'नवकम्बल'

का अर्थ नौ कम्बलोवाला अर्थ कर दोष देता है कि इस दरिद्र देवदत्त के पास दो कम्बल भी नही है, नौ कम्बलों की तो बात ही अलग ठहरी। अत यहा 'नवकम्बल' के विभिन्न अर्थ मे कल्पना किये जाने मे यह छल का उदाहरण हुआ।

१५. **जाति**—असद् उत्तर को जाति कहते है। इसके न्यायसूत्र मे चौबीस प्रकार बतलाये गए है। 'उत्कर्ष समा' जाति का उदाहरण देखिये। वादी ने कहा, "शब्द अनित्य है, कृतक (उत्पाद्य) होने के कारण, घट के समान।" इसपर प्रतिवादी का कथन है, "यदि कृतकत्व हेतु शब्द घट के समान अनित्य है, तो इसी हेतु के कारण उसी घट के समान शब्द को सावयव भी होना चाहिए।" इस उदाहरण में शब्द में अविद्यमान सावयवत्व रूप एक नया धर्म बढाया जा रहा है। अत इस जाति का नाम है—उत्कर्ष समा।

१६. **निग्रह स्थान**—वह पदार्थ, जिसके द्वारा शत्रु को शास्त्रार्थ मे पराजय सिद्ध होता है, निग्रह स्थान कहलाता है। 'निग्रह' का शाब्दिक अर्थ है पकड़ना, पराजय। अत पराजय के हेतु को 'निग्रह स्थान' कहते है। न्यायसूत्र में बाईस निग्रह-स्थानों के नाम और लक्षण निर्दिष्ट है। एक-दो का निर्देश पर्याप्त होगा। सिद्धान्त से च्युत होना 'अपसिद्धान्त' विवक्षित से कुछ अधिक कहना 'अधिक', विवक्षित अर्थ से न्यून होने पर 'न्यून' प्रकृत विषय से असम्बद्ध अर्थ के कथन पर 'अर्थान्तर', प्रश्न का उत्तर न सूझ पडने पर 'अप्रतिभा' नामक निग्रह-स्थान होता है, जिनके द्वारा वादी पराजित किया जाता है।

न्याय की तत्त्वमीमासा

न्याय-शास्त्र के द्वारा निर्मित तत्त्वमीमासा का विषय 'प्रमेय' नामक पदार्थ के निरूपण के अवसर पर प्रतिपादित किया गया है। प्रमेयों की सख्या गौतम के अनुसार बारह है—१ आत्मा, २. शरीर, ३. इन्द्रिय, ४. अर्थ, ५. बुद्धि, ६. मन, ७. प्रवृत्ति, ८ दोष, ९. प्रेत्यभाव, १०. फल, ११. दु ख; १२. अपवर्ग। इन प्रमेयों का वर्णन तत्त्वमीमांसा के तथा कर्तव्य-मीमासा के प्रसंग मे किया जायगा।

१. **आत्मा**—आत्मा देह, इद्रिय तथा मन से भिन्न रहनेवाला एक पृथक

पदार्थ है, जिसका अस्तित्व प्रमाणों के द्वारा सिद्ध है। अपने आत्मा की सत्ता का ज्ञान मानस प्रत्यक्ष के द्वारा होता है, परन्तु आत्मा के विषय में सन्देह उपस्थित होने पर हम उसका ज्ञान बुद्धि, सुख-दुःख,द्वेष प्रयत्नादि गुणों को हेतुभूत मानकर 'परिशेष अनुमान' के द्वारा करते है। बुद्धि आदि अनित्य होते हुए केवल एक इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होने से 'गुण' है। गुण गुणी के आश्रित रहता हे। इसलिए बुद्धि आदिक गुण जिस गुणी के आश्रित रहते हैं, वह 'आत्मा' सिद्ध होता है। आत्मा विभु है, अर्थात् परम महत् परिमाण से युक्त है। विभु होने के कारण वह आकाश के समान सत्य भी है। सुखादिकों की विचित्रता के कारण आत्मा प्रति-शरीर में भिन्न है। सुख-दुःख आदि की विचित्रता सर्वत्र लक्षित होती है। कोई सामान्यरूप से सुखी है, तो कोई सुख के अगाध भण्डार में अपना जीवन बिता रहा है। राग-द्वेष की भी ऐसी ही विचित्रता है। इसी विचित्रता के कारण बाध्य होकर हमें मानना पड़ता है कि आत्मा प्रत्येक शरीर मे भिन्न ही होता है।

२. **शरीर**—इस आत्मा के भोग का आयतन या आश्रय शरीर कहलाता है। भोग का अर्थ है सुख अथवा दुःख इन दोनो मे से किसी एक का साक्षात्कार या अनुभव। आत्मा ही सुख तथा दुःख का अनुभव करता है, परन्तु किसी आश्रय के द्वारा ही इस कार्य की सिद्धि हो सकती है, अतः जिससे अवच्छिन्न अथवा सीमित होकर भोग आत्मा में रहता है, वही है भोगायतन और वही शरीर कहलाता है।

३. **इन्द्रिय**—शरीर से संयुक्त, अतीन्द्रिय (अर्थात इन्द्रियो से गृहीत न होनेवाला) ज्ञान का करण इन्द्रीय कहलाता है। इन्द्रियों के द्वारा ही हमे पदार्थों का ज्ञान होता है। अतएव इन्द्रियों को ज्ञान का करण माना गया है। साथ-ही-साथ वे 'अतीन्द्रिय' है, अर्थात् इन्द्रियों का ग्रहण हमें किसी इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता। वे शरीर से युक्त होते है। शरीर के संयोग के अभाव मे इन्द्रियां अपना व्यापार नही कर सकतीं। इन्द्रियां संख्या में छः है—घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र (ये तो पाच बाहरी इन्द्रियां है) तथा मन (भीतरी इन्द्रिय, अन्तःकरण या अन्तरिन्द्रिय)

४. **अर्थ**—इस प्रमेय के अन्तर्गत वैशेषिकों द्वारा निर्दिष्ट द्रव्य, गुण, कर्म,सामान्य, विशेष तथा समवाय—इन छः पदार्थो का ग्रहण किया जाता

है। इनका विशेष विवरण वैशेषिक दर्शन के अवसर पर दिया जायगा।

५. **बुद्धि**—अर्थ के ज्ञान को 'बुद्धि' कहते हैं। उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय आदि शब्दों के द्वारा इसी बुद्धि का सकेत किया जाता है। यह बुद्धि दो प्रकार की होती है—अनुभव तथा स्मृति।

६. **मन**—यह भीतरी इन्द्रिय है, जो सुख-दु:ख आदि आतर वस्तुओं के ग्रहण का साधन है।

७. **प्रवृत्ति**—प्रवृत्ति का तात्पर्य है धर्माधर्ममयी यागादि क्रिया। यज्ञ करने से धर्म का उदय होता है और वेदो से निषिद्ध कर्मो के करने से अधर्म की उत्पत्ति होती है। संसार मे व्यवहार के साधन होने से ये प्रवृत्ति के नाम से अभिहित किये जाते है।

८. **दोष**—दोष तीन प्रकार के होते है —(१) राग=इच्छा, किसी काम मे अभिलाषा, (२) द्वेष=क्रोध; (३) मोह, जिसका अर्थ है मिथ्या ज्ञान।

९. **प्रेत्यभाव**—प्रेत्यभाव (प्रेत्य=मरकर, भाव=पुन: उत्पन्न होना) का अर्थ है पुनर्जन्म। आत्मा नित्य माना गया है और इसलिए मरने के बाद उसके पुनर्जन्म की कल्पना असम्भव है। प्रेत्यभाव से यही तात्पर्य है कि वह पूर्व-देह को छोडकर अपूर्व या नवीन देह का ग्रहण करता है।

१०. **फल**—इसका अर्थ है सुख और दु:ख इन दोनों मे से किसी एक का साक्षात्कार।

११. **दु:ख**—दु:ख का अर्थ पीड़ा, प्रतिकूल वेदनीय वस्तु।

१२. **अपवर्ग**—इसका अर्थ है मोक्ष। इसका विवरण आगे किया जायगा।

ईश्वर की सत्ता

न्याय ईश्वरवादी दर्शन है। इसमे ईश्वर की सत्ता प्रमाणो के द्वारा सिद्ध की जाती है। बौद्ध लोग निरीश्वरवादी थे। उन लोगो के ईश्वर-सिद्धि के विरुद्ध प्रमाणों तथा युक्तियो का खण्डन नैयायिकों ने बडी सूक्ष्म दृष्टि से किया है। उदयनाचार्य (११ शती) ने 'न्यायकुसमाजलि' नामक नतिान्त प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना कर प्रतिपक्षियो के तर्कों का खण्डन कर ईश्वर

की सिद्धि बड़े आग्रह के साथ की है। अपने इसी पाण्डित्य के बल पर, सुनते हैं, उन्होंने जगन्नाथजी को भी दर्शन देने के लिए बाध्य किया था। कहा जाता है कि उदयन पुरी की यात्रा के अवसर पर जगन्नाथजी के दर्शनों के लिए जब मन्दिर के सिंहद्वार पर पहुंचे, तब असमय होने के कारण मंदिर का पट बन्द था। उन्होंने ललकारकर कहा—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

—इस समय आप ऐश्वर्य के घमण्ड में इस उदयन की अवज्ञा कर रहे हैं, पर याद रखिये जब बौद्ध उपस्थित होकर ईश्वरवाद की धज्जियां उड़ाने लगेंगे, तब तुम्हारी स्थिति मेरे अधीन होगी। सचमुच उदयन ने इस प्रौढ़ ग्रन्थ में अपनी प्रतिभा के आलोक से ईश्वर की सत्ता को साभिमान सिद्ध किया है और निरीश्वरवादियों का मुख मुद्रण कर दिया है। इसीलिए पूर्वोक्त गर्वोक्ति में ऐतिहासिक सत्यता है। वह पाण्डित्य के अभिमान के द्वारा प्रेरित केवल सूखी उक्ति नहीं है। अब देखना है कि न्याय ईश्वर की सिद्धि किन प्रमाणों के आधार पर करता है।

ईश्वर रूप आदि गुणों से रहित होने के कारण अतीन्द्रिय माना जाता है और यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि अतीन्द्रिय वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिए ईश्वर की सत्ता प्रत्यक्ष के द्वारा न मानकर अनुमान के द्वारा सिद्ध की जाती है। लोक में कार्य को देखकर कर्त्ता का अनुमान करना स्वत:-सिद्ध है। घड़े को देखकर उसके बनानेवाले किसी व्यक्ति का अनुमान करना न्याय-संगत है। कर्त्ता के अभाव में कार्य क्योंकर उत्पन्न हो सकता है? इसी प्रकार यह संसार और इसमें रहनेवाले जन्तु, पशु, पक्षी, मनुष्य, वृक्ष, लता आदि समस्त वस्तुएं उत्पन्न होने से कार्य रूप है। अतएव इन कार्यों का उत्पादक, जगत् का सर्जन करनेवाला कोई न-कोई अवश्य होगा और वही ईश्वर है। इसपर प्रतिपक्षी का कथन है कि पृथ्वी, समुद्र आदि की उत्पत्ति किसीने तो कभी नहीं देखी है। फलतः उत्पन्न न होने से ये कार्य नहीं माने जा सकते। अत: ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। न्याय का उत्तर इसके समाधान में यह है कि सागर, पृथ्वी आदि की उत्पत्ति अवश्य किसीने नहीं देखी है, तथापि ये उत्पन्न और कार्य ही हैं सावयव होने से।

जगत् का यह व्यापक नियम है कि जो-जो वस्तु सावयव—अवयव से सम्पन्न होती है, वह अवश्यमेव कार्य होता है घट-पट के सामान। इस प्रकार सावयव होने से पृथ्वी-समुद्र आदि की उत्पत्ति नितान्त सिद्ध है और इनके उत्पादक और स्रष्टा होने से ईश्वर की भी सिद्धि नितान्त युक्ति-युक्त है।

अदृष्ट की कल्पना के द्वारा भी ईश्वर की सत्ता न्याय को मान्य है। जगत् के प्राणियों की वर्तमान दशा देखने पर इनमे कितना अन्तर दृष्टि-गोचर होता है। कोई तो राजसी ठाट-बाट से जीवन बिताता हुआ आनन्द सागर मे गोता लगाता है तो दूसरा रोटी के लिए भी तरसता हुआ एक दरवाजे से दूसरे दरवाजे पर भीख मांगकर भी अपना पेट भरने मे समर्थ नही होता। इस वैषम्य का कारण है जीवों का विचित्र कर्म। जीवों की वर्तमान दशा उनके प्राचीन कर्मो के फलरूप में ही उदित होती है। अच्छे कर्मो के फल अच्छे होते है और बुरे कर्मो के फल बुरे। आज किये गए कर्म का फल कालान्तर मे उत्पन्न कैसे होता है? इसके उत्तर मे न्याय का कहना है कि अदृष्ट के द्वारा। पुण्य तथा पाप के समुदाय को ही हम 'अदृष्ट' के नाम से पुकारते है। परन्तु अदृष्ट स्वय जड़ ठहरा और इसीलिए उसमे फल देने की सामर्थ्य कहां? इसीलिए उसके प्रेरक की कल्पना न्यायदर्शन करता है और वह प्रेरक और कोई न होकर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही है।

श्रुति के कथनानुसार ईश्वर है और इसलिए ईश्वर की सत्ता सर्वथा मान्य है। श्वेताश्वतर उपनिषद् कहता है—एक देव सब प्राणियो में छिपा हुआ है। वह सर्वव्यापी और सबकी अन्तरात्मा है। वह कर्म का अध्यक्ष है, केवल है और निर्गुण है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा
साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च ॥

—श्वेताश्वतर ६।११

उपनिषदो का सार प्रस्तुत करनेवाली भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण के इसी प्रकार के वचन हैं—मैं ही विश्व की गति हू, भर्ता, प्रभु (स्वामी), साक्षी (कार्याकार्य को देखनेवाला), निवास (आश्रय-स्थान), शरण

(रक्षक), सुहृत्, माता-पिता है—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

—गीता ९।१८

श्रुति के ऐसे स्पष्ट उल्लेखों से हमें बाध्य होकर मानना पड़ता है कि ईश्वर है और वह इस विश्व का स्रष्टा, रक्षक तथा प्रलय-काल में अपने में इसे आश्रय देनेवाला है। उदयनाचार्य ने और अधिक प्रमाणों का उपन्यास कर ईश्वर की सिद्धि स्वीकृत की है।[1]

यहां एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि जगत् की रचना करने में ईश्वर की जो प्रवृत्ति है, वह स्वार्थमूलक है अथवा परार्थमूलक? ईश्वर अपने किसी स्वार्थ की सिद्धि के लिए विश्व का निर्माण करता है अथवा किसी परोपकार के लिए? स्वार्थ मानने में दो विकल्प होते हैं—इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार। इष्ट-प्राप्ति के लिए ईश्वर विश्व की सृष्टि करता है, यह मानना ठीक नहीं, क्योंकि वह स्वयं पूर्णकाम ठहरा। उसकी कोई भी कामना नहीं है, जिसके लिए वह इस कार्य में प्रवृत्त हो। न उसे अनिष्ट-परिहार (न चाही गई वस्तु को छोड़ देना) करना है, क्योंकि सकल इष्ट कामनाओं के प्राप्त होने के हेतु उसके किसी अनिष्ट की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि परार्थ ईश्वर की प्रवृत्ति मानी जाय तो भी यह बात नहीं जचती। करुणा में ही परार्थ प्रवृत्ति होती है। करुणा क्या है? अपने स्वार्थ की बिना अपेक्षा रखे दूसरों के दुःखों को नाश करने की इच्छा। यदि ऐसी बात होती तो जगत् में कोई भी दुःखी दृष्टिगोचर नहीं होता; सभी सुखी पाये जाते। परन्तु तथ्य इससे उलटा है। फलतः जगत् के निर्माण में ईश्वर की प्रवृत्ति ही नहीं होनी चाहिए। तब रचना हुई क्योंकर और कैसे?

इस शंका का समाधान न्याय इस प्रकार करता है—जगत् की रचना में करुणा को कारण मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं प्रतीत होती। तब जगत् में सब सुखी क्यों नहीं है? इसका कारण है प्राणियों का सुकृत

[1] देखिये बलदेव उपाध्याय-कृत 'भारतीय दर्शन' (पञ्चम संस्करण, काशी, १९५७) —पृष्ठ ६८८-६९०

(शोभन कार्य) तथा दुष्कृत (बुरे काम)। सुकृत करनेवाला प्राणी सुखी होता है और दुष्कृत करनेवाला प्राणी दुःखी होता है। इस कर्म-वैचित्र्य के कारण जीव की दशा में विचित्रता है, अर्थात् प्राणियों के कर्म की अपेक्षा रखता हुआ ईश्वर विश्व का निर्माण करता है। तब तो कर्म की अपेक्षा रखने से ईश्वर की स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी और वह परतन्त्र माना जायगा। परन्तु ऐसी कल्पना उचित नहीं है, क्योंकि कर्म भी जगत् के अन्तर्गत ईश्वर-कारित होने से ईश्वराङ्ग ही है। फलतः अङ्ग होने से कर्म ईश्वर का व्यवधायक नहीं है। अतः कर्मापेक्षी ईश्वर भी परतन्त्र न होकर स्वतन्त्र ही होता है। उसके स्वातन्त्र्य में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रहती।

न्याय के प्रमाण

न्यायदर्शन के अनुसार चार प्रमाण होते हैं—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३ उपमान और ४. शब्द। इन प्रमाणों की सहायता से जो यथार्थ ज्ञान (प्रमा) उत्पन्न होता है, उसके भी क्रमशः नाम हैं—१. प्रत्यक्ष प्रमा, २. अनुमिति, ३. उपमिति तथा ४. शाब्दी प्रमा।

'प्रमा' तथा 'प्रमाण' परस्पर सम्बद्ध शब्द हैं। प्रमा का अर्थ है यथार्थ-ज्ञान और इसके साधन को, अर्थात् इसके उत्पादन में कारण होनेवाले वस्तु को 'प्रमाण' कहते हैं। 'प्रमाण' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ भी यही है—**प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्**। प्रमा चार प्रकार की होती है और इसीसे उसके साधन रूप प्रमाण भी चार प्रकार के होते हैं। मेज पर रखी हुई पुस्तक को मैं अपनी आंखों से देख रहा हूँ और तब मुझे पुस्तक के अस्तित्व का ज्ञान होता है। इसीका नाम है—'प्रत्यक्ष प्रमा'। पर्वत के ऊपर सन्तत निकलने-वाली धूम-रेखा को जब दर्शक देखता है, तब उसे यह ज्ञान होता है कि यह पर्वत वह्निमान है—इस पर्वत में अग्नि की सत्ता है। यह ज्ञान 'अनुमिति' कहलाता है और इसके साधनभूत प्रमाण को 'अनुमान' कहते हैं। 'गाय के समान 'गवय' (नील गाय) होता है' इस वचन को सुनकर कोई व्यक्ति जंगल में जाता है और वहां गलकम्बल से युक्त पशु को देखकर गाय के साथ उसकी शारीरिक समता अवलोकन कर वह पूर्ववाक्य का स्मरण कर 'यह पशु गवय है', यह ज्ञान प्राप्त करता है। इसी प्रमा का नाम 'उपमिति'

है और इसके साधनभूत प्रमाण को 'उपमान' कहते है। किसी आप्त या-विश्वसनीय पुरुष से कोई व्यक्ति सुनता है कि स्वर्ग नामक एक लोक है, जहां भूतल पर पुण्य कार्य करनेवाले लोग मरने के बाद जाते है। तब वह स्वर्ग की सत्ता का ज्ञान प्राप्त करता है। यह ज्ञान की संज्ञा है—'शाब्दी-प्रमा' और इसके प्रमाण को शब्द-प्रमाण कहते है। इस प्रकार प्रमा (यथार्थ ज्ञान) चार प्रकार की होती है और उसके साधक प्रमाण भी चार प्रकार के होते है—

प्रत्यक्ष

'प्रत्यक्ष' का अर्थ है इन्द्रिय सयाग होने पर पदार्थ का ज्ञान। यह साक्षात् रूप से होता है। इसमे किसी ज्ञान का व्यवधान नही होता। भूतल पर रखे हुए घड़े का ज्ञान हमे अपनी चक्षु इन्द्रिय के द्वारा होता हे। आत्मा मे घट-ज्ञान होने के लिए तीन सम्बन्ध की आवश्यकता होती है। इस मानस-प्रक्रिया का विश्लेषण न्याय ने बडी सुन्दरता से किया है। 'द्रव्य-इन्द्रिय-संयोग'—सर्वप्रथम सयोग वस्तु के साथ इन्द्रिय का होता है। घट के प्रत्यक्ष के अवसर पर चक्षु इन्द्रिय का घट के साथ सयोग होता है; गन्ध के प्रत्यक्ष के समय पुष्प के साथ घ्राण, इन्द्रिय का सयोग होता है। यह पहली आवश्यकता है। 'इन्द्रिय-मन-सयोग'—इन्द्रिय का मन के साथ संयोग होना दूसरी सीढी है और तीसरी सीढी है—'आत्म मनःसंयोग' अर्थात् आत्मा का मन के साथ सयोग। इन तीनों मे से यदि कही भी त्रुटि रहती है तो वस्तु का प्रत्यक्ष नही होता। वस्तु, इन्द्रिय, मन, आत्मा इस लड़ी में कहीं भी टूट मिले तो समझ रखिये प्रत्यक्ष नही हो सकता। वाटिका में सुन्दर गुलाब को अपनी आखों मे देखता हुआ भी व्यक्ति कभी गुलाब के अस्तित्व से परिचित नही होता। क्या कारण ? वह मन-ही-मन किसी दूसरी चीज़ को सोचा करता है। कक्षा मे बैठा हुआ छात्र अपने कानों से अध्यापक के व्याख्यान को सुनता हुआ भी अनसुन कर देता है। क्यों ? क्योंकि वह उस समय अपने किसी मित्र के पत्र के विषय में सोचता रहता है। इन दोनों दृष्टान्तो मे प्रथम संयोग होने पर भी इन्द्रिय मन का संयोग सम्पन्न नही होता। इसीलिए हम ऐसे व्यक्ति को 'अन्यमनस्क' कहते

है। अर्थात् उसका मन उपस्थित वस्तु के साथ संयुक्त न होकर किसी दूसरे पदार्थ के साथ उस समय संयुक्त रहता है। इसीलिए न्यायशास्त्र का कहना है कि आत्ममन संयोग ज्ञानमात्र के लिए सर्वदा आवश्यक होता है।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है 'निर्विकल्पक' तथा 'सविकल्पक'। इन दोनों प्रकारों को समझने के लिए आप अपने को उस बालक की स्थिति में ले जाइये, जो एक स्थान से किसी दूरस्थ वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। वह उसे केवल देखता है, परन्तु वह बिल्कुल ही नहीं जानता कि वह वस्तु है क्या? उसका रूप कैसा है? वह कौन क्रिया कर रही है? उसका नाम क्या है आदि-आदि? वह उस समय न तो उसकी 'जाति' से परिचित होता है, न 'गुण' से, न 'क्रिया' से और न उसकी 'संज्ञा' से। उसका ज्ञान केवल इतना ही होता है कि वह कुछ है—'**किञ्चिद् इदम्**' बस इतना ही, इससे कुछ अधिक नहीं। इस प्रकार जाति, गुण, क्रिया तथा नाम की कल्पना से विहीन यह प्रत्यक्ष 'निर्विकल्पक' कहलाता है। इसके बाद वह वस्तु धीरे-धीरे उस बालक की ओर बढ़ती चली आती है तब वह बालक जान लेता है कि "श्यामा नामक यह काली गाय घास चर रही है।" इस प्रत्यक्ष ज्ञान में श्यामा नाम है, काली गुण है, चरती क्रिया है और गाय जाति का बोधक है। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष ज्ञान नाम जात्यादि योजना से विशिष्ट है और इसलिए इसका नाम 'सविकल्पक' है। नैयायिकों की यह व्याख्या आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के प्रत्यक्ष विश्लेषण से साम्य रखती है, जिसमें पूर्वोक्त प्रथम ज्ञान का नाम है सेन्सेशन (इंद्रियज्ञान) तथा दूसरे का परसेप्शन (प्रत्यक्ष ज्ञान)।

अनुमान

'अनुमान' का शाब्दिक अर्थ है—अनु = पीछे; मान = प्रमाण अर्थात् पीछे होनेवाला प्रमाण। परन्तु किसके पीछे? **प्रत्यक्ष के पीछे।** अनुमान की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष के अनन्तर ही होती है। **हम प्रतिदिन** पाकशाला से आग जलाने पर धुआं उठते हुए देखते हैं। **सुबह-शाम, गर्मी** या बरसात, जब हम कभी रसोईघर की ओर भोजन पकाते **समय दृष्टि** डालते है, तब हम सर्वदा धुआं उठते हुए पाते हैं। धुएं को देखकर हम सहज में अनुमान लगा लेते हैं कि आग जलती होगी। धूम तथा अग्नि का सम्बन्ध सार्वभौम है। अपने प्रतिदिन के अनुभव से हम इसी परिणाम पर पहुंचते

है कि "जहा-जहा धुआ होगा, वहा-वहा अग्नि अवश्य होगी।" यह नियम सदा-सर्वथा सच्चा है। इस नियम को 'व्याप्ति' कहते है। इस व्याप्ति का दर्शन करनेवाला कोई भी व्यक्ति जब किसी पर्वत से धुए की रेखा को निकलते हुए देखता है, तब वह अनुमान सहज मे लगा लेता है कि यह पर्वत वह्नि से अवश्यमेव है। यही ज्ञान अनुमिति कहलाता है और इसका करण 'अनुमान' कहलाता है। इस अनुमान मे धूम की सत्ता से अग्नि की सत्ता का अनुमान लगाया जाता है। इस अनुमान-वाक्य का रूप होगा—

पर्वतोऽय (यह पर्वत) —पक्ष
वह्निमान् (वह्नि से युक्त है) —साध्य
धूमात् (धूम के कारण से) —हेतु, लिग

यहा पर्वत के ऊपर हम किसी विशिष्ट हेतु के द्वारा वह्नि-सम्पन्न होने की घटना का अनुमान लगाते है। यहा तीन शब्द है और इनकी विभिन्न सज्ञाए है। जिस वस्तु मे किसी वस्तु की सत्ता हमे सिद्ध करना अभीष्ट हो, उसे 'पक्ष' कहते है। यहां 'पर्वत' पर वह्निमत्ता सिद्ध करनी है, तो 'पर्वत' पक्ष कहलायेगा। जिस वस्तु को सिद्ध करना है, उसे 'साध्य' कहते है, जैसे वह्निमान (क्योकि पर्वत के ऊपर इसे ही सिद्ध करना है)। जिसके द्वारा साध्य सिद्ध किया जाता है, उसे 'हेतु' कहते है जैसे धूम। हेतु की ही दूसरी सज्ञाएं है—साधन, लिग तथा व्याप्य। साध्य की इतर सज्ञाए है—लिगी तथा व्यापक।

हेतु को व्याप्य भी कहते है तथा साध्य को व्यापक। इसके उदाहरण पर दृष्टिपात करे। जहा गीली लकडी जलाई जाने पर आग उत्पन्न होती है, और धुआ भी दिखलाई पडता है, परन्तु ईधन के गीला न होने पर धुआं नही दिखलाई पड़ता जैसे दहकते हुए अगारे या जलते हुए लोहे के गोले में आग के रहने पर भी धुआ नही होता। इस प्रकार धूम के रहने का स्थान कम है और अग्नि का उससे कहीं अधिक। इसीलिए धूम है 'व्याप्य' और अग्नि है व्यापक।

इस प्रकार अनुमान का यह लक्षण निकाला जा सकता है—

लिङ्गात् लिङ्गिनो ज्ञानम् अनुमानम्॥

—लिग से अर्थात् हेतु से लिगी अर्थात् साध्य का ज्ञान 'अनुमान' कहलाता

है। व्याप्य (धूम) की सत्ता देखकर व्यापक (अग्नि) का ज्ञान अनुमान होगा, क्योंकि धूमवाले स्थानों में अग्नि की सत्ता अनिवार्य है। जहां-जहां धूम रहेगा, वहां-वहां अग्नि अवश्यमेव रहता है। यही व्याप्ति-ज्ञान अनुमान का प्रौढ आधार है, जिसके ऊपर अनुमान का किला खडा किया जाता है।

इसके विपरीत व्यापक (अग्नि) से व्याप्य (हेतु—धूम) का अनुमान लगाना कथमपि ठीक नहीं है। दहकते हुए अंगारे को देखिये। वहां आग तो है, परन्तु धुआं नहीं है। अतः निश्चित है कि अग्नि के द्वारा धूम का ज्ञान कहीं भी अनुमान से सिद्ध नहीं होता। धूम की सत्ता के सहारे ही अग्नि का ज्ञान ठीक है। और यही अनुमान का सिद्ध लक्षण है।

अनुमान मुख्यतया दो प्रकार का होता है—१. स्वार्थानुमान, २. परार्थानुमान। स्वार्थानुमान अपने लिए किया जाता है—अपने समझने के लिए। जैसे महानस (पाकशाला) में विशेष प्रत्यक्ष से कोई व्यक्ति धूम और अग्नि की व्याप्ति को प्रथमतः ग्रहण करता है। तदनन्तर वह पर्वत के समीप जाकर सन्देह करता है कि पर्वत में अग्नि है या नहीं? उसी समय वह पर्वत से निरन्तर अविच्छिन्न मूल धूम-रेखा को देखता है और तब उसका पुराना संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है और 'जहां धूम है वहां अग्नि अवश्यमेव विद्यमान रहता है,' इस व्याप्ति का वह स्मरण करता है। फलतः वह जान लेता है कि इस पर्वत में वह्नि-व्याप्य धूम विद्यमान है। इसलिए इस पर्वत पर अग्नि भी है; इस प्रकार वह पर्वत में अग्नि की सत्ता का ज्ञान कर लेता है। यही स्वार्थ अनुमान है। यहां अनुमान की प्रक्रिया में मानस-क्रिया से ही कार्य सम्पन्न हुआ, वाक्य-प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं हुई। परन्तु यदि कोई मनुष्य पूर्वरीति से स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान कर दूसरों को बोध कराना चाहता है तो वह पांच वाक्यों का प्रयोग करता है, जिनकी सहायता से यह अनुमान की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इस परार्थानुमान के पांच अवयवों (पञ्चावयव वाक्य या 'न्याय') के नाम क्रमशः ये हैं—१. प्रतिज्ञा, २. हेतु, ३. उदाहरण, ४. उपनय तथा ५. निगमन।

इसके उदाहरण इस प्रकार प्रयुक्त होते हैं—

१. यह पर्वत अग्निमान् है (प्रतिज्ञा),

२. क्योंकि यहां धूम का सद्भाव है (हेतु),

३. जहा-जहा धूम रहता है, वहां-वहा अग्नि भी विद्यमान रहता है, जैसे पाकशाला (उदाहरण)

४ यह पर्वत भी ऐसा ही एक स्थान है (उपनय),

५ अतएव यह पर्वत अग्निमान है (निगमन)।

इनमे पहला वाक्य 'प्रतिज्ञा' कहलाता है, जो सिद्ध किये जानेवाली वस्तु का निर्देश करता है। जिस प्रकार रेखागणित के किसी भी प्रमेय में प्रथमतः प्रतिज्ञा (या मुख्य प्रतिज्ञा) का उल्लेख किया जाता है, उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए। दूसरा 'हेतु वाक्य' है, क्योंकि यहा अनुमान को सिद्ध करनेवाले हेतु (धूम) का निर्देश है। तीसरा वाक्य 'उदाहरण' कहलाता है, क्योंकि यहां व्याप्ति के साथ-साथ उसके उदाहरण का भी उल्लेख है अर्थात् उन स्थलों का जहा व्याप्ति का दर्शन पहले किया गया है। पहले व्याप्ति का रूप दिया जाता है और उसके बाद उसका उदाहरण भी रखा जाता है। चौथा वाक्य 'उपनय' कहलाता है, जहा व्याप्ति-विशिष्ट पक्ष का बोध होता है। अनुमान की प्रक्रिया मे इस 'उपनय वाक्य' का भी महत्व किसी अन्य वाक्य से न्यून नही है। द्वितीय तथा तृतीय वाक्यों का समावेश इस चतुर्थ वाक्य मे दिया गया है। द्वितीय वाक्य मे धूम की सत्ता का निर्देश है और तृतीय वाक्य मे धूम-वह्नि के साहचर्य-नियम का उल्लेख है और इन दोनो का समन्वय कर दिया जाता है चतुर्थ वाक्य मे। अर्थात् इस पर्वत पर वह धूम है, जो अग्नि के साथ व्याप्ति रखता है। इस प्रकार उपनय का रूप है—**वह्निव्याप्य धूमवान् अयं पर्वतः** (अर्थात् वह्नि से व्याप्य धूम से युक्त यह पर्वत है।) वह्नि से व्याप्य धूम-सम्पन्न होने पर तुरन्त इस परिणाम पर पहुचते है कि यह पर्वत वह्निमान है और यही 'निगमन-**वाक्य**' कहलाता है।

अनुमान का मुख्य आधार 'व्याप्ति' ही है। हेतु तथा साध्य के साहचर्य-**नियम** को व्याप्ति कहते है। प्रत्यक्ष अनुभव में जब एक वस्तु के साथ दूसरी **वस्तु** की उपस्थिति सर्वदा तथा सर्वथा विद्यमान हो तब यह होती 'अन्वय-व्याप्ति' (भावात्मक सम्बन्ध के कारण)। जब एक वस्तु के अभाव के साथ अन्य वस्तु की अनुपस्थिति विद्यमान रहे, तब इसे 'व्यतिरेक व्याप्ति' कहते है (अभावात्मक सम्बन्ध के कारण)। धूम तथा अग्नि की व्याप्ति

दोनों प्रकार की है। जहां-जहां धूम है, वहा अग्नि भी विद्यमान है जैसे पाकशाला अन्वय-व्याप्ति। जहा अग्नि का अभाव है, वहां धूम का भी अभाव है जैसे तालाब—व्यतिरेक-व्याप्ति। इस व्याप्ति की द्विविधता के कारण अनुमान के तीन प्रकार होते है—

१. 'केवलान्वयी अनुमान' (केवल अन्वय-व्याप्ति के आधार पर)। यथा घर अभिधेय है, क्योकि वह प्रमेय (प्रमा का विषय) है। यहा प्रमेयता के साथ अभिधेयता की केवल अन्वय-व्याप्ति ही सम्भव है।

२. 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' (केवल व्यतिरेक-व्याप्ति के आधार पर)। यथा पृथ्वी (पक्ष) अन्य भूतों से भिन्न है (साध्य); क्योंकि वह गन्धवती है (हेतु)। यहा गन्धवत्ता की अन्य भूतों में केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही सम्भव है। अन्य समस्त भूतों में गन्ध का अभाव होने के कारण अन्वयी उदाहरण असम्भव है।

३. 'अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान' (अन्वय और व्यतिरेक उभय-विध व्याप्तियों के कारण)। जैसे पर्वत (पक्ष) वह्निमान् है (साध्य); धूम होने के कारण (हेतु)। यहा धूम तथा वह्नि की व्याप्ति दोनों प्रकार की है।

हेत्वाभास

अनुमान मे हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि होती है। उप- युक्ततथा विशुद्ध हेतु के द्वारा ही अनुमान की सिद्धि होती है। परन्तु यदि हेतु मे किसी प्रकार की त्रुटि होती है, तो वह हेतु सच्चा हेतु न होकर हेतु का केवल आभास प्रतीत होता है और ऐसी दशा में वह साध्य का साधक नहीं होता। यह दुष्ट हेतु 'हेत्वाभास' (हेतु+आभास) कहलाता है।

किसी भी हेतु को अनुमान का साधक तथा शोभन होने के लिए पाच गुणों से समन्वित होना नितान्त आवश्यक है :

(क) हेतु का पक्ष में रहना (पक्षे सत्ता)

(ख) सपक्ष मे अर्थात् पक्ष के समान स्थलों में (जैसे महानस आदि) हेतु का रहना (सपक्षे सत्ता)

(ग) विपक्ष मे अर्थात् पक्ष से विपरीत स्थलों में (जैसे वह्निमान पर्वत से विपरीत स्थान-कूप, जलाशय आदि—में हेतु का अभाव (विपक्षाप व्यावृत्तिः)

(ग) साध्य से विपरीत वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य हेतु का अभाव होना अत्यन्त आवश्यक होता है (असत् प्रतिपक्षत्वम्)

(घ) प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा बाधित न होना चाहिए (अबाधित विषयत्वम्)

इन पांच गुणों की सत्ता होने पर हेतु सत्-हेतु माना जाता है और वह अनुमान का साधक होता है, परन्तु इनमें से किसी भी गुण का अभाव होने पर वह हेतु सच्चा हेतु न होकर हेतु का आभास ही होता है। देखने में ही हेतु जान पड़ता है, परन्तु वस्तुतः वह हेतु नहीं होता। इसीलिए इसे हेत्वाभास कहते हैं। हेत्वाभास पांच प्रकार का होता है : १. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३ सत्प्रतिपक्ष, ४. असिद्ध तथा ५. बाधित। इनका लक्षण उदाहरण के साथ संक्षेप में यहां दिया जाता है। हेत्वाभास को अंग्रेजी में 'फैलेसी' कहते हैं। पश्चिमी तर्कशास्त्र में पक्ष के भी आभास होते हैं (इलिसिट माइनर) तथा साध्य के भी दोष होते हैं (इलिसिट मेजर = साध्याभास), परन्तु न्यायशास्त्र में अनुमान के समस्त दोष असद् हेतु के कारण माने जाते हैं।

१. **सव्यभिचार**—व्यभिचार का अर्थ है साध्य में भिन्न पदार्थों में भी हेतु का अस्तित्व। इसका दूसरा नाम 'अनेकान्तिक' है। इसके मुख्यतया दो भेद होते हैं—साधारण और असाधारण। साधारण अनेकान्तिक होता है, ऊपर के तीसरे नियम के उल्लघन होने पर। अतः यहां हेतु विपक्ष में व्यावृत्त न होकर (जैसा होना उचित है) विपक्ष में भी रहता है। जैसे पर्वत (पक्ष) वह्निमान है, (साध्य) प्रमेय होने से (हेतु)। यहां हेतु विपक्ष दृष्टान्तों जैसे जलाशय, ह्रद, समुद्र आदि में रहता है। अतः ऊपर अनुमान की सिद्धि अशुद्ध है।

असाधारण अनेकान्तिक तब होता है जब हेतु केवल पक्ष में ही रहता है। दूसरे नियम के उल्लंघन होने पर यह हेत्वाभास होता है यथा शब्द (पक्ष) होता है नित्य (साध्य), शब्दत्व के कारण (हेतु)। यहां शब्दत्व हेतु केवल पक्ष (शब्द) में ही रहता है, सपक्ष में अर्थात् नित्य-पदार्थों में नहीं रहता। जहां उसका रहना नितान्त आवश्यक है (नियम

दूसरा)।

२. **विरुद्ध**—जहा हेतु साध्य के अभाववाले स्थानो पर व्याप्त रहना है, वहा 'विरुद्ध' होता है। अभिप्राय यह है कि हेतु साध्य को सिद्ध न कर ठीक उसके उलटी वस्तु को सिद्ध करता है। जैसा शब्द (पक्ष) है नित्य (साध्य) कृतक या कार्य होने से (हेतु)। यहा कार्य होने से शब्द को नित्य सिद्ध करने का प्रयास है, परन्तु कार्यता (हेतु) अनित्य मे रहती है, नित्य में नही। फलत. यह हेतु ठीक उलटी बात को सिद्ध करने मे साधन होने से विरुद्ध है।

३. **सत् प्रतिपक्ष**—जहा साध्य के अभाव को सिद्ध करनेवाला दूसरा हेतु विद्यमान रहता है, वह कहलाता है—सत् प्रतिपक्ष (सत् = विद्यमान; प्रतिपक्ष = प्रतिस्पर्धी हेतु)। इसमे चौथे नियम का उल्लघन होता है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु सिद्ध करना हमे अभीष्ट है, उसमे नितान्त भिन्न वस्तु को सिद्ध करनेवाला दूसरा प्रबल हेतु बैठा हुआ है, तब अभीष्ट तथ्य की सिद्धि कैसे हो सकती है। यथा—

१. शब्द (पक्ष) है नित्य (साध्य) श्रावण होने से (हेतु) शब्दत्व के समान (उदाहरण)

२. शब्द (पक्ष) है अनित्य (साध्याभाव) कार्य होने से (हेतु) घट के समान (उदाहरण)

यहां साध्य के अभाव (अनित्यत्व) को सिद्ध करनेवाला हेतु वर्तमान है। फलतः प्रथम अनुमान दूषित ठहरता है।

४. **असिद्ध**—हेतु के असिद्ध होने पर यह प्रकार होता है। हेतु की असिद्धता तीन प्रकार से उत्पन्न होती है—(क) आश्रय से, (ख) स्वरूप से तथा (ग) व्याप्यत्व से। इसीलिए असिद्ध के तीन भेद होते हैं। **आश्रयासिद्धि** का यह दृष्टान्त लीजिये—आकाश कमल (पक्ष) सुगन्धित होता है (साध्य), आकाश कमल होने से (हेतु), सरसिज कमल के समान (उदाहरण)। यह अनुमान प्रकार ठीक नही है, क्योंकि आकाश कमल का अस्तित्व ही नहीं होता। इसी प्रकार स्वरूपासिद्ध तथा व्याप्यत्वासिद्ध नामक अन्य प्रभेदो के भी उदाहरण देखे जा सकते है। यह प्रथम नियम के उल्लंघन का फल है।

५. **बाधित**—जहां साध्य का अभाव अन्य प्रमाण के द्वारा निश्चित

है, वहां यह हेत्वाभास होता है। जैसे किसीने अनुमान किया—अग्नि शीतल है (साध्य), द्रव्य होने के कारण (हेतु)। इसका ठीक उलटा प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध पहले से ही है कि अग्नि उष्ण है। फलतः प्रत्यक्ष के द्वारा यह अनुमानबाधित है। यहां पांचवें नियम का उल्लंघन है।

उपमान

नैयायिकों का यह तीसरा प्रमाण है। पहले अनुभूत किसी वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहां किसी नई वस्तु का ज्ञान होता है, उस 'उपमान' कहते है। नगर के रहनेवाले किसी व्यक्ति ने 'गवय' (अर्थात् नील गाय) को कभी नही देखा था। किसी आरण्यकपुरुष ने उसे बतलाया कि **यथा गौस्तथा गवयः** (गाय के समान गवय होता है)। इस वाक्य के सुनने के बाद वह जंगल मे जाता है और गाय के समान ही एक पशु विशेष को देखता है। तब उसे 'अतिदेश' वाक्य का स्मरण हो आता है। इस प्रकार अतिदेश वाक्य के अर्थ की स्मृति के सहारे उसे गो सदृश पिण्ड का ज्ञान होता है। इसीका नाम है उपमान प्रमाण। इसका फल है उपमिति। अर्थात् संज्ञा-सज्ञी-सम्बन्ध की प्रतीति। अतिदेश वाक्य के अर्थ को स्मरण करने पर वह व्यक्ति जान लेता है कि इस गो सदृश पशु को ही 'गवय' कहते है। यहां गोसदृश पिण्ड संज्ञी है और 'गवय' सज्ञा है। इन दोनों के सम्बन्ध की प्रतीति ही उपमान प्रमाण का फल है।

शब्द

नैयायिकों का अन्तिम प्रमाण है—'शब्द'। इसका लक्षण है आप्तपुरुष का उपदेश—**आप्तोपदेशः शब्दः** (न्यायसूत्र १।१।६)। 'आप्तपुरुष' उसे कहते हैं, **जो** वस्तु के यथार्थ रूप को जानता है और हितकारक उपदेशों **के देने के कारण** जिसके वाक्य को हम प्रमाण मानते हैं। शब्द दो प्रकार का होता है—लौकिक तथा वैदिक। लौकिक शब्द लौकिक पुरुषों के वाक्य को कहते हैं। वैदिक शब्द का तात्पर्य है वेद अथवा श्रुति। वेद को हम लोग अतीन्द्रिय, इन्द्रिय के अगोचर, पदार्थों के ज्ञान के लिए प्रमाण मानते हैं। सायणाचार्य का यह प्रख्यात श्लोक वेद की प्रामाणिकता का वर्णन करता है—

प्रत्यक्षेणानुमानेन यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥

--जो उपाय न प्रत्यक्ष के द्वारा, और न अनुमान के द्वारा जाना जा सकता है, उसे वेद की सहायता से हम जानते है। यही वेद की वेदता या स्वरूप है। ईश्वर, ब्रह्म, मोक्ष, स्वर्ग आदि अतीन्द्रिय वस्तुओं को हम इसीलिए सत्य मानते है कि वेद इनका निरूपण करता है। न्याय की दृष्टि में वेद सर्वज्ञ ईश्वर की रचना है। इसीलिए वह 'पौरुषेय' माना जाता है। इस विषय में वेद को अपौरुषेय माननेवाले मीमांसकों से न्यायमत नितान्त भिन्न है। कार्य होने से वेद न्याय-दृष्टि से अनित्य है, परन्तु उसकी अनित्यता जगत् के पदार्थों की अनित्यता के समान नही है।

कार्य-कारण-सिद्धान्त

प्रमाण का लक्षण देते समय ऊपर 'करण' शब्द का प्रयोग किया गया है। असाधारण कारण को 'करण' कहते है। कारण क्या है ? कार्य के नियत पूर्ववर्ती द्रव्य को कारण कहते है। कारण के लिए यह जरूरी है कि वह कार्य से पहले विद्यमान (पूर्ववर्ती) हो ; परन्तु यह पूर्ववर्ती होना नियत चाहिए अर्थात् कार्य से पहले वह सर्वदा और सर्वथा वर्तमान होना चाहिए। कारण तीन प्रकार का होता है—समवायी कारण, असमवायी कारण और निमित्त कारण। जिस उपादान से कोई वस्तु तैयार होती है, वह 'समवायी कारण' कहलाता है, क्योंकि उसमे समवाय सम्बन्ध से रहकर कार्य उत्पन्न होता है। मिट्टी से घड़ा तैयार किया जाता है। इसलिए मिट्टी घड़े का समवायी कारण है। तन्तु (डोरों) से कपडा बनता है और इसलिए तन्तु पट का समवायी (या उपादान) कारण है। कार्य के साथ अथवा कारण के साथ एक वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहते हुए जो कारण होता है, वह असमवायी कहलाता है। तन्तुओं का सयोग पट का असमवायी कारण है। निमित्त कारण इन दोनों से भिन्न होता है, जैसे पट का निमित्त कारण है तन्तुवाय (जुलाहा) और उसके औजार। इन तीनों में से कार्य की उत्पत्ति के लिए जो असाधारण, विशिष्ट या नितान्त साधक होता है, वह 'करण' कहलाता है (**साधकतमं करणम्**)। न्याय की दृष्टि में कार्य की उत्पत्ति होती है अर्थात् उत्पन्न होनेवाला घड़ा एक नवीन वस्तु है, जो मिट्टी में प्रथमतः विद्यमान न था। कार्य-कारण-सम्बन्ध में न्याय का यह

विशिष्ट मत है।

न्याय की आचार-मीमांसा

मुख्यतः प्रमाणशास्त्र होने पर भी न्याय-दर्शन मानवों के लिए आचार की मीमांसा भी करता है। न्याय के अनुसार मानव-जीवन का वही लक्ष्य है, जो इतर दर्शनों में प्रतिपादित किया गया है। संसार मे हम प्राणियों को दुःखों के गर्त मे नाना प्रकार के क्लेशों को सहते हुए पाते है। इन दुःखों से आत्यन्तिक मुक्ति पाना ही न्याय का भी उद्देश्य है। गौतम के शब्दों में दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग या मुक्ति कहते है—

तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः

—न्यायसूत्र १।१।२२

—अर्थात् दुःखों के अत्यन्त नाश या मुक्ति पाने को अपवर्ग कहते है और यही न्याय का लक्ष्य है। इस सूत्र में 'अत्यन्त' शब्द पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है, क्योंकि यह बड़े महत्व का है। 'अत्यन्त' का अर्थ है (अति+अन्त) एकदम अन्तिम, सदा-सर्वदा के लिए मोक्ष। जन्म ग्रहण करने से ही दुःख का उदय है। इसलिए जो जन्म इस समय ग्रहण किया गया है, उसका नाश होना तो आवश्यक है ही। साथ-ही-साथ आगे जन्म नही होना चाहिए। गृहीत जन्म का नाश तो होना ही चाहिए, परन्तु भविष्य जन्म का न होना भी उतना ही आवश्यक है। यह सिद्ध होने पर ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं।

मोक्ष का उपाय तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान होने पर मिथ्या ज्ञान स्वतः निवृत्त हो जाता है, जैसे रज्जु मे ज्ञान होने पर सर्प का मिथ्या ज्ञान स्वय निवृत्त हो जाता है। मिथ्या ज्ञान के नष्ट हो जाने पर राग-द्वेष आदि रोग स्वयं निवृत्त हो जाते हैं। इन दोषों की निवृत्ति होने से इनके द्वारा जायमान 'प्रवृत्ति' का नाश हो जाता है। जब प्रवृत्ति का अभाव है, तब जन्म का भी अभाव हो जाता है, क्योंकि जन्म का कारण धर्माधर्मरूपी प्रवृत्ति ही है। जन्म के निवृत्त होते ही दुःख की निवृत्ति स्वयमेव सम्पन्न हो जाती है। इसी दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का नाम अपवर्ग या मोक्ष है। इस तथ्य का प्रतिपादन महर्षि गौतम ने इस सूत्र में किया है—

दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानाम्
उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।

—न्यायसूत्र ११।२

——सूत्र का आशय है कि दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष तथा मिथ्या ज्ञान—— इनमे उत्तर-उत्तर के नाश होने से पूर्व-पूर्व का नाश होने पर अपवर्ग होता है। तत्त्वज्ञान के उदय होने से किस प्रकार दु.ख के उत्पादक कारण का नाश क्रमशः सम्पन्न होता है। इसकी प्रक्रिया ऊपर बतला दी गई है।

मुक्ति में आनन्द का अभाव

विचारणीय प्रश्न है कि न्याय-दर्शन के अनुसार मुक्ति में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही केवल होती है अथवा उसमें आनन्द का भी उदय होता है। इस प्रश्न की मीमांसा न्याय-दर्शन मे बड़े आग्रह से की गई है और अन्य दार्शनिकों के मुक्तिवाद का खण्डन करके यही निष्कर्ष निकाला गया है कि नैयायिक मुक्ति में दुःख का आत्यन्तिक नाश होता है, उसमें आनन्द का लेशमात्र भी उदय नहीं होता। इसका कारण क्या है? यह अनुभव की बात है कि सुख के साथ राग का सम्पर्क लगा ही रहा है। सुख होने पर सुख के साधनों से प्रेम करना स्वाभाविक होता है। सुख तथा राग के इस पारस्परिक सम्बन्ध के कारण जबतक सुख रहेगा, तबतक राग का भी अस्तित्व बना ही रहेगा। ऊपर दिखलाया गया है कि राग दोष रूप है, क्योंकि यह धर्माधर्ममयी प्रवृत्ति का कारण होता है। फलतः सुख मानने से रागजन्य प्रवृत्ति तथा उससे उत्पन्न जन्म तथा दुःख से कथमपि छुटकारा नही मिल सकता। ऐसी दशा मे मुक्ति में सुख की कल्पना कथमपि युक्ति-सम्मत नहीं है। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। प्राणी निरतिशय (सबसे अधिक; जिससे बढ़कर कोई न हो।) सुख की इच्छा करता है, परन्तु क्या ऐसे सुख की प्राप्ति कभी हो सकती है। इस संसार में जितने सुख पाये जाते हैं, वे सब सातिशय (स्वल्प) है, निरतिशय नही। फलतः निरतिशय सुख की प्राप्ति की कल्पना मृगतृष्णा के समान अलीक है। सच तो यह है कि संसार से सब सुख भी हेयरूप ही हैं (**'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'**——योगसूत्र) क्योंकि उनकी सामग्री जुटाने में हमें अधिक-से-अधिक क्लेश सहना पड़ता है। फलतः समग्र सुख ही दुःख से

आक्रान्त है। विष से मिश्रित मधु के समान दुःख से मिश्रित सुख भी सर्वथा त्याज्य है। इसलिए सुख की प्राप्ति के लिए मोक्ष में किसी भी प्राणी का प्रवृत्ति नहीं हो सकती और इसी कारण दुःख की निवृत्ति को मोक्ष मानना समुचित होगा, न्याय-दर्शन का यही परिनिष्ठित मत है।

मुक्त आत्मा का स्वरूप

मुक्त आत्मा का स्वरूप कैसा होता है? न्याय के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा के इन नौ विशेष गुणो का सर्वथा नाश हो जाता है—१ बुद्धि (= ज्ञान), २. सुख, ३. दुःख, ४. इच्छा, ५. द्वेष, ६ प्रयत्न, ७. धर्म, ८. अधर्म तथा ९. सस्कार। शरीर के भोगायतन होने के कारण जीव जबतक शरीर के साथ सम्बद्ध रहता है, तबतक उसे भोगों की प्राप्ति होती है। मुक्तावस्था मे जीव विदेह स्थिति मे पहुच जाता है; उसका शरीर से सम्पर्क छूट जाता है। तब राग-द्वेष आदि गुणो के साथ उसका सम्बन्ध कथमपि नही रह सकता। उस समय न उसमें ज्ञान रहता है और न सुख-दुःखादि अन्य विशेष गुण। जयन्त भट्ट के अनुसार मुक्तात्मा छः ऊर्मियों से विमुक्त रहता है। ऊर्मि का अर्थ है क्लेश-विशेष। भूख-प्यास प्राण की ऊर्मि है; लोभ-मोह चित्त की तथा शीत-उष्ण (जाडा-गर्मी) क्लेशदायक होने से शरीर की ऊर्मि कहलाते है। जयन्त भट्ट के शब्दों में मुक्तजीव अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, समस्त गुणों से वह हीन होता है, छः ऊर्मियो से वह अतीत होता है तथा ससार के बन्धन के अधीन दुःख तथा क्लेशादि से वह अदूषित रहता है—

स्वरूपैक प्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः।
ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः।
संसारबन्धनाधीन दुःखक्लेशाद्यदूषितम्॥

—न्यायमंजरी, काशी सस्करण, पृ० ७७

यह है आदर्श न्याय-दर्शन का—जीव को अपने विशुद्ध रूप में प्रतिष्ठित कराना।

मुक्ति के साधन

'**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**'—बिना तत्त्वज्ञान के मुक्ति नही होती। यह उपनिषद् का सिद्धान्त-न्याय दर्शन को भी मान्य है। तत्त्व ज्ञान होने पर

मिथ्या ज्ञान की निवृत्त होने से दुःख का नाश कैसे सम्पन्न होता है ? इसका विवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है। यह तत्त्वज्ञान होता कैसे है ? जब मन इन्द्रियों को विषयों से हटाकर—एकाग्र होकर आत्मा से संयुक्त होता है, तब इधर-उधर ज्ञान उत्पन्न नही होते। फिर इधर-उधर की चीजों के लिए राग-द्वेष भी नहीं हो सकते। तब जाकर मोक्ष होता है। मन की एकाग्रता तथा तत्साधनों का जो वर्णन योगशास्त्र मे दिया गया है, वह न्याय को भी सम्मत है। मन की एकाग्रता उत्पन्न करने के लिए तपस्या, प्राणायाम, यम-नियम, प्रत्याहार, धारणा-ध्यान आदि की नितान्त आवश्यकता होती है।[1] इतना ही नही, आत्मविद्या का स्वयं अभ्यास करना चाहिए और उस विद्या के जानकार लोगों के साथ आलाप, मनन तथा परामर्श भी नितान्त उपादेय साधन है।[2] इन साधनो से उत्पन्न होनेवाला तत्त्वज्ञान ही वस्तु तथा अवस्तु, आत्मा तथा अनात्मा के पृथक्करण में समर्थ होता है और तभी दुःखों से सदा-सर्वदा के लिए मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

[1] न्याय दर्शन ४।२।२६

[2] तत्वज्ञान के उपायों की जानकारी के लिए देखिये 'न्यायसूत्र' चतुर्थ अध्याय।

: २ :

वैशेषिक

इस दर्शन की विपुल उपयोगिता के विषय मे विद्वानो मे यह कथन प्रसिद्ध है—**काणाद पाणिनीयं च सर्व शास्त्रोपकारकम्** अर्थात् कणाद दर्शन (वैशेषिक दर्शन) और पाणिनीय व्याकरण सब शास्त्रो मे उपकारक होते है। शब्द-साधुता (शब्द के यथार्थ-निर्णय) मे जिस प्रकार पाणिनि का व्याकरण उपकारक होता है; उसी प्रकार वैशेषिक दर्शन पदार्थो के रूप तथा लक्षण के विषय मे नितान्त उपादेय है। इस दर्शन के नामकरण का विशिष्ट कारण यह है कि इस दर्शन मे 'विशेष' नामक एक पदार्थ कल्पित किया जाता है, जिसके कारण नित्य पदार्थ जैसे एक अणु दूसरे अणु से भिन्न माना जाता है।

इतिहास

इस दर्शन के सूत्रकार महर्षि कणाद है। वैशेषिक दर्शन के मूलभूत सूत्रो की सख्या तीन सौ सत्तर है, जो दस अध्यायों मे विभक्त है और प्रत्येक अध्याय मे दो आह्निक है। इसके ऊपर 'रावण भाष्य' का उल्लेख ही ग्रन्थो मे मिलता है, परन्तु इस ग्रन्थ की प्राप्ति अभी तक नहीं हुई है। प्रशस्तपाद द्वारा रचित 'पदार्थधर्मसग्रह' इस दर्शन का एक मूल्यवान् मौलिक ग्रन्थ है। भाष्य की शैली मे निर्मित न होने पर भी यह वैशेषिक भाष्य के नाम से सर्वसाधारण में प्रसिद्ध है। इसके ऊपर अनेक प्रौढ टीकाए कालान्तर मे हुई, जिनमे प्रसिद्धि-प्राप्त ये है—१ व्योमशिवाचार्य की 'व्योमवती', २. उदयनाचार्य (११शती) की 'किरणावली', ३. श्रीधर की 'न्याय-कन्दली' (रचनाकाल ९१३ शक = ९९१ ई०), ४. श्रीवत्स की 'न्याय लीलावती', ५. वल्लभाचार्य की 'न्याय लीलावती' (१२शती का अन्तिम भाग);

६. पद्मनाभ मिश्र का 'सेतु' (१६शती का उत्तरार्द्ध), ७. शकर मिश्र का 'कणाद-रहस्य,' ८. जगदीश की 'सूक्ति' (१८ शती)।

प्रशस्तपाद एक प्राचीन ग्रन्थकार है। बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु ने इन के सिद्धान्तों का खण्डन किया है और वात्स्यायन ने न्याय-भाष्य मे उनका उपयोग किया है। अतः इन दोनों ग्रन्थों से प्राचीनतर होने के कारण इसका समय द्वितीय शती विक्रमी मानना उचित है। प्रशस्तपाद-भाष्य के आधार पर लिखित 'दशपदार्थी शास्त्र' (चन्द्र द्वारा प्रणीत) की रचना पचम शती मे सम्भवतः की गई थी। इसकी प्रसिद्धि का पता ७०५ विक्रमी (=६०८ ईस्वी) मे किये गए चीनी अनुवाद से चलता है। सस्कृत मूल के अभाव मे यही अनुवाद चन्द्र के सिद्धान्त का प्रदर्शक है। बहुत दिनो तक न्याय तथा वैशेषिक पृथक् दर्शन-प्रणाली के रूप मे वर्तमान थे, परन्तु सिद्धान्तों की विशेष समानता होने के कारण पिछले विद्वानो ने दोनो का एकीकरण सम्पन्न कर दिया। ऐसे विद्वानो मे सर्वप्राचीन है—शिवादित्य मिश्र (१०वी शती), जिनका 'सप्त पदार्थी' इस समन्वय-पद्धति का मान्य ग्रन्थ है। विश्वनाथ न्यायपंचानन (१७ शती) का 'भाषा परिच्छेद' तथा उसकी स्वोपज्ञ टीका 'मुक्तावली' नितान्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। अन्नभट्ट (१७ शती का उत्तरार्द्ध) का सुप्रसिद्ध 'तर्कसंग्रह' लोकप्रियता मे अद्वितीय है। ये आन्ध्रदेश मे उत्पन्न तैलग ब्राह्मण थे, जिनकी शिक्षा-दीक्षा काशी मे हुई थी। ग्रन्थकार ने ही 'तर्कदीपिका' नामक व्याख्या लिखकर वैशेषिक तथ्यों का सरल विवरण प्रस्तुत किया है। अन्नंभट्ट से पूर्ववर्ती मैथिल विद्वान शकर मिश्र (१५शती) ने वैशेषिक सूत्रो की व्याख्या अपने 'उपस्कार' मे की है, जो कणाद के सिद्धान्तों को समझने के लिए नितान्त उपयोगी और उपादेय ग्रन्थ माना जाता है।

तत्व-मीमांसा

वैशेषिक लोग जगत् की वस्तुओ के लिए, जिन्हे हम जान सकते है और जिन्हे हम कोई नाम दे सकते है, 'पदार्थ' शब्द का व्यवहार करते है। 'पदार्थ' का तात्पर्य है—पद का अर्थ अर्थात् वह वस्तु, जिसे कोई पद प्रकट करता है। अतः ज्ञेयत्व (ज्ञान के विषय होने की योग्यता रखना) तथा

अभिधेयत्व (नाम की योग्यता रखना) पदार्थ का सामान्य लक्षण है। नैयायिकों के पूर्व-वर्णित पदार्थ से वैशेषिक निर्दिष्ट पदार्थ भिन्न है। न्याय मूलत. एक तर्कशास्त्र है, जिसमे किसी विषय के ऊपर प्रतिपक्षी के मन्तव्य का खण्डन कर अपने मत का स्थापन किया जाता है और इस शास्त्रार्थ के लिए उपयोगी वस्तुओ का नाम 'पदार्थ' रखा गया है। वैशेषिको की दृष्टि में पदार्थ का अभिप्राय बिल्कुल भिन्न है। जगत् की समस्त वस्तुओ के लिए 'पदार्थ' शब्द का व्यवहार किया जाता है।

पदार्थ सात प्रकार के होते है, जिनमें प्रथम छः भाव पदार्थ है और अन्तिम अभाव पदार्थ। ये सात पदार्थ है— १. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, ६. समवाय, ७. अभाव। इन्हीके भीतर संसार की सब वस्तुएं आ जाती है, जो कोई नाम धारण करती है और जिनके विषय मे हमारा ज्ञान हो सकता है।

द्रव्य-विचार

कार्य के समवायी कारण और गुण-क्रिया के आश्रय भूत पदार्थ को द्रव्य कहते है। द्रव्य ही किसी कार्य का उपादान कारण होता है अर्थात् उससे नई वस्तुएं बनाई और गढी जाती है। घट का उपादान है मृत्तिका (मिट्टी) तथा पट का उपादान है तन्तु (डोरा)। अतः ये दोनों द्रव्य है। इनमे गुण और क्रिया भी रहती है। वैशेषिकों के अनुसार द्रव्य नौ प्रकार का होता है—

१. पृथ्वी, २. जल, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश, ६. काल ७. दिक्, ८. आत्मा और ९. मन। इनमे प्रथम पांच द्रव्यों को 'महाभूत' कहते है। इनमे अनेक गुणो की सत्ता सर्वदा विद्यमान रहती है। पृथ्वी रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणों से युक्त द्रव्य है। गन्ध पृथ्वी का विशेष गुण है अर्थात् गन्ध केवल पृथ्वी में ही रहता है, विशेष रूप से जिसका ग्रहण हम अपनी घ्राण इन्द्रिय के द्वारा करते हैं। जल रूप, रस तथा स्पर्श गुणों से युक्त द्रव्य है। रस उसका विशेष गुण है। तेज रूप तथा स्पर्श गुणों से युक्त द्रव्य है। रूप उसका विशेष गुण है। वायु स्पर्शवान् द्रव्य है। स्पर्श उसका विशेष गुण है। पृथ्वी, जल तथा तेज का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। वायु का स्पर्श त्वक् इन्द्रिय

के द्वारा ग्रहण किया जाता है। वृक्ष-लता के पत्तो के हिलने-डुलने से वायु का अनुमान किया जाता है।

इन चारो द्रव्यो के दो प्रकार होते है—नित्य और अनित्य। ये चारो द्रव्य परमाणु-रूप में विद्यमान है, अर्थात् इनके परमाणु होते है और इस दशा मे ये नित्य होते है। कार्य-रूप मे ये अनित्य होते है। परमाणु का विभाग नहीं होता और इस प्रकार अविभाज्य होने से यह नित्य होता है। कार्य परमाणुओं के समूह से बनता है, जो कभी उत्पन्न होता है और कभी नाश को प्राप्त करता है और इसीलिए कार्य अनित्य होता है परमाणु के रूप मे ये द्रव्य नित्य होते है और कार्य-रूप मे अनित्य होते है। पुनः इनके तीन भेद होते है—शरीर, इन्द्रिय तथा विषय। इनको सक्षेप मे समझने के लिए इस सारणी पर ध्यान दीजिये।

द्रव्य	शरीर	इन्द्रिय	विषय
पृथ्वी	मानव तथा पशु का शरीर।	पृथ्वी मे विशेष गुण 'गन्ध' को ग्रहण करनेवाली घ्राण इन्द्रिय, जो नासिका के अग्र-भाग मे रहती है।	मिट्टी, पत्थर आदि
जल	वरुण लोक मे जलीय शरीर विद्यमान होता है	जल के विशेष गुण 'रस' की ग्राहक इन्द्रिय रसना, जो जीभ के अग्रभाग पर विद्यमान रहती है।	समुद्र तालाब, नदी, आदि
तेज	आदित्य लोक-सूर्य लोक में तैजस शरीर विद्यमान	तेज के विशेष गुण 'रूप' की ग्राहक इन्द्रिय है चक्षु, जो	१. भौम अर्थात् पृथ्वी पर विद्य-मान विषय है—

	होता है।	आंख की काली पुतली के अग्रभाग में रहती है।	अग्नि। २. दिव्य विषय (आकाश में रहनेवाला)—बिजली आदि, जिसके लिए जल ही ईंधन का काम करता है। ३. उदर में होनेवाला तेज, जिसमें भोजन का पाचन होता है। (औदर्य) ४ सोना, चांदी धातुएं, जो खान में निकाली जाती है। (आकरज)
वायु	वायुलोक में	वायु के विशेष गुण 'स्पर्श' की ग्राहक इन्द्रिय है त्वक् (या चमडा) जो समग्र शरीर में व्याप्त रहता है।	१. वृक्ष, लता आदि के कम्पन का हेतुभूत जो वायु, वह विषय माना जाता है। २. प्राण।

प्राण—प्राण के विषय में दो मत दृष्टिगोचर होते है। प्रशस्तपाद ने प्राण को वायु का चतुर्थ प्रकार माना है, परन्तु न्याय वैशेषिक के अन्य ग्रन्थकार इसे वायु के विषय के भीतर ही मानते है। इसी बहुमत के आग्रह पर प्राण विषय के अन्तर्गत ऊपर दिखलाया गया है। प्राण है क्या ? शरीर के भीतर सचरण करनेवाला वायु ही प्राण कहलाता है। प्राण तो वस्तुतः एक ही है, परन्तु क्रिया तथा स्थान की भिन्नता के कारण वह पांच प्रकार

का माना जाता है। इस प्राचीन पद्य मे इनका उल्लेख है—

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥

'प्राण' की स्थिति है हृदय (छाती) मे, 'अपान' की गुदा मे, 'समान' की नाभि में, 'उदान' की कण्ठ देश मे तथा 'व्यान' की सकल शरीर मे। यह तो हुई स्थान की भिन्नता। क्रिया की भिन्नता भी इनमें रहती है। १. मुख और नासिका के बाहर जाने और भीतर प्रवेश करने के कारण 'प्राण' कहलाता है। २. मल आदि को नीचे ले जाने के कारण वही 'अपान' कहलाता है। ३. भोजन के पाचन के लिए पाचक अग्नि का ऊपर ले जाना जरूरी काम होता है और इसे करनेवाला प्राण समुन्नयन के कारण 'समान' कहलाता है। ४. उद्गार, डकार आदि को ऊपर ले जाने के कारण प्राण 'उदान' कहलाता है (**ऊर्ध्वं नयनात् उदानः**)। ५. नाड़ियों के मुख मे फैलने के कारण प्राण 'व्यान' कहलाता है (**नाडीमुखेषु वितननाद् व्यानः**)। पुराणो मे इन प्राणो के नाम तथा क्रिया का उल्लेख भिन्न प्रकार से किया गया है—

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने मतः।
कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।
न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनजयः॥

१. डकारने में प्राण का नाम है—'नाग'।
२. नेत्रों के खोलने मे प्राण का नाम है—'कूर्म'।
३. भूख उत्पन्न करनेवाला प्राण है—'कृकर'।
४. जंभाई लेने के समय प्राण का नाम है—'देवदत्त'।
५. सब शरीर मे व्याप्त रहनेवाला वायु, जो मृतक व्यक्ति को नही छोड़ता, कहलाता है—'धनजय'।

कुछ लोग पूर्व-निर्दिष्ट प्राणपंचक का यह पुराणनिर्दिष्ट अभिधान मानते है, परन्तु कतिपय आचार्य इन पाचो को पूर्व प्राणों मे भिन्न मानकर प्राणों की संख्या दस मानते है।

आकाश—शब्द गुणवाले द्रव्य को 'आकाश' कहते है। आकाश मे संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग तथा शब्द—ये छः गुण रहते

है, परन्तु शब्द ही उसका विशेष गुण है। शब्द एक ही माना जाता है और उसके आकाश के चिह्न होने के कारण आकाश भी एक ही माना जाता है। इसका परिणाम 'परममहत्' (अर्थात् सबसे बड़ा) माना जाता है। फलत. परिमाण मे आकाश से बढकर एक भी वस्तु नही है। वह उत्पत्ति तथा विनाश से रहित होने के कारण 'नित्य' है। आकाश विभु सर्वत्र व्याप्त है और इसीलिए किसी भी इन्द्रिय मे इसका प्रत्यक्ष नही होता। अनुमान से ही आकाश की सिद्धि होती है—कारण यह है कि शब्द-गुण का आधार द्रव्य कोई-न-कोई अवश्य होगा। पृथ्वी आदि ऐसे द्रव्य नहीं हो सकते। इसीलिए परिशेषात् आकाश द्रव्य की सिद्धि मानी जाती है। शब्द का ग्राहक इन्द्रिय श्रोत्र है, जो वस्तुत: कान के भीतर रहनेवाला आकाश ही है।

काल—काल छठा द्रव्य है। इसके मानने से लोक-व्यवहार के एक रूप को भली-भांति समझ सकते है और समझा सकते है। 'तुलसीदास कालिदास के बहुत पीछे हुए', 'भवभूति की अपेक्षा कालिदास पहले हुए', 'देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों एक साथ ही दीख पड़े', 'वह जल्दी आया और दूसरा बालक देर करके आया'—लोक में ऐसे ज्ञानों का जो असाधारण कारण है, उसीको वैशेषिक लोग 'काल' कहते है।[1] द्रव्यों की उत्पत्ति और नाश किसी-न-किसी काल में ही होता है और इसलिए इन उत्पत्ति विनाशों का भी कारण माना जाता है। काल वस्तुत: एक ही है, परन्तु उपाधि के भेद से वही क्षण, लव, निमेष, काष्ठा, दिन, रात, मास, ऋतु, अयन आदि भेदों से नाना प्रकार का भी माना जाता है। आकाश की तरह काल भी विभु, महत् परिणाम से युक्त तथा अमूर्त माना जाता है और इसीलिए काल की सिद्धि प्रत्यक्ष के द्वारा न होकर अनुमान के द्वारा ही होती है। 'क्षण' काल की सबसे छोटी इकाई है। हम किसी बाग में टहल रहे है। टहलते हुए हम फूलों पर अपनी दृष्टि डालते है और तब हम फूलों को देखते है। यहा फूलों पर दृष्टि डालने तथा उनके देखे जाने के बीच जो सूक्ष्म काल हुआ, यही 'क्षण' कहलाता है। दो क्षणों के मिलने से एक 'लव' होता है और दो लव का एक निमेष (अर्थात् आंख के पलक

[1] वैशेषिक सूत्र २।२।६

गिरने में जितना समय लगता है) और इसी प्रकार काल के काष्ठा, कला, मुहूर्त, अहोरात्र आदि बड़े-बड़े खण्ड होते है।

दिक्—हम प्रतिदिन व्यवहार में कहते है कि 'काशी से पटना पूरब मे है और प्रयाग पश्चिम मे', 'बम्बई से मद्रास दक्षिण में है और दिल्ली उत्तर मे'। इस ज्ञान के असाधारण कारण को 'दिक्' कहते है अर्थात् दिक् की कल्पना से ही पूर्वोक्त व्यवहार सिद्ध होता है। यदि यह कल्पना नही की जाती, तो पूरब-पश्चिम आदि का व्यवहार असम्भव होता। दिक् तथा काल में मुख्य भेद यह है कि कालिक सम्बन्ध एकसमान स्थिर रहता है, परन्तु दैशिक सम्बन्ध बदलता रहता है। ऊपर दिये गए उदाहरणों मे कालिदास की तुलसीदास से पूर्ववर्तिता सदा ही स्थिर रहेगी, बदलेगी नही, परन्तु दैशिक सम्बन्ध में यह बात नही। जो पटना काशी से पूरब में है, वही कलकत्ता की अपेक्षा पश्चिम में है; फलतः यह दैशिक सम्बन्ध बदल गया। दिक् के भी गुण है—सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग। यह भी विभु, नित्य तथा परम महान् है। यह एक ही होता है, परन्तु उपाधि के भेद से वह भिन्न होता है।

आत्मा—जिसमें ज्ञान उत्पन्न होता है, जो ज्ञान का समवायी-कारण है, वही 'आत्मा' है वैशेषिकों का आठवा द्रव्य। अमूर्त होने से आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। यद्यपि कई नैयायिक इसका प्रत्यक्ष मानते है, परन्तु वैशेषिकों की दृष्टि में आत्मा का प्रत्यक्ष नही होता; वह अनुमान का ही विषय है। किसी हथियार का व्यापार बिना किसी कर्ता के नही होता। कुल्हाड़ी को चलाने तथा उससे लकड़ी काटने के लिए किसी चेतन कर्ता की आवश्यकता सर्वदा होती है। इन्द्रियां भी एक प्रकार से हथियार है, जिनके द्वारा देखने सुनने आदि का व्यापार किया जाता है। इनका कर्ता कोई अवश्यमेव होना चाहिए और यही कर्ता आत्मा है। सुख-दुःख, श्वास-प्रश्वास, निमेष-उन्मेष आदि आत्मा के लिग माने जाते है, क्योकि इन्हे देखकर हम आत्मा के अस्तित्व को भली-भांति जान लेते है।[1] आत्मा के दो

[1] **सूत्र ३।२।४-विशेष जानकारी के लिए इस सूत्र का 'प्रशस्तपाद भाष्य' तथा बलदेव उपाध्याय-रचित 'भारतीय दर्शन' पृ० २७८-८१ देखिये**

प्रकार है—१. 'क्षेत्रज्ञ'—शरीरमात्र मे उत्पन्न ज्ञान का जाननेवाला अर्थात् जीव, २. 'सर्वज्ञ'—जगत् के भीतर समस्त विषयों तथा पदार्थों का जाननेवाला अर्थात् ईश्वर। ईश्वर की सिद्धि आगम-वेद तथा अनुमान-प्रमाणो के द्वारा निष्पन्न होती है। श्रुति शतशः ईश्वर की सिद्धि का दृष्टान्त प्रस्तुत करती है। '**एकोदेव. सर्वभूतेषु गूढ़:**' आदि, आदि। 'न्यायकन्दली' में ईश्वर-सिद्धि इस प्रकार की गई है—जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, उसका ज्ञान किसी चेतन पुरुष को अवश्यमेव रहता है। घडे का ज्ञान पहले ही कुम्हार को रहता है। तब उसकी उत्पत्ति होती है। पृथ्वी आदि चारों महाभूत कार्य है और इनकी उत्पत्ति होती है। परन्तु इनकी उत्पत्ति मे पहले इनका ज्ञान किसी आत्मा को अवश्यमेव रहना चाहिए और जिस आत्मा मे यह ज्ञान विद्यमान होगा, वही ईश्वर, परमात्मा है।

मन—सुख-दुःख आदि की उपलब्धि के साधन इन्द्रिय को 'मन' कहते है। यह बहुधा देखा जाता है कि बाहरी इन्द्रियो के व्यापार करने पर भी हमे वस्तु का ज्ञान नही होता। हमारे सामने मेज पर तुलसीदास का 'रामचरितमानस' अनेक जिल्दो मे बंधा हुआ पडा है। हम अपनी आखों उसे देखते है, परन्तु हमें उसका ज्ञान नही होता। क्यों ? बात यह है कि हमारा मन उस समय चक्षु इन्द्रिय के साथ संयुक्त न होकर किसी दूसरी इन्द्रिय के सम्पर्क में है। पूर्वोक्त घटना सूचित करती है कि बाहरी इन्द्रियों को छोड़-कर कोई भीतरी इन्द्रिय भी है, जिसका सहयोग प्रत्यक्ष के लिए नितान्त आवश्यक है और यह भीतरी इन्द्रिय; अन्तरिन्द्रिय मन ही है। प्रति शरीर मे एक-एक मन होता है— जितने शरीर, उतने मन। वैशेषिकों की दृष्टि मे मन अत्यन्त सूक्ष्म (अणु) द्रव्य है। इसका एक कारण है। प्रत्येक ज्ञान मे मन का संयोग आवश्यक होता है। यदि मन अणु न होकर विभु होता तो प्रतिक्षण में मनुष्य को अनेक ज्ञान होते; परन्तु ऐसा तो कभी होता नही। एक क्षण मे एक ही ज्ञान होता है। इससे सिद्ध होता है कि मन अत्यन्त सूक्ष्म अणु है, जिससे वह एक क्षण में एक ही इद्रिय के साथ सम्पर्क में आ सकता है। मन नित्य है। वह मूर्त है, क्योंकि बिना मूर्ति के क्रिया नही हो सकती। मन में क्रिया उत्पन्न होती है और इसीलिए उसे 'मूर्त' मानना पड़ता है।

गुण—लक्षण तथा प्रकार

वैशेषिकों के अनुसार दूसरा पदार्थ गुण है। गुण का लक्षण यह है कि वह द्रव्य में रहता है, उसका अपना कोई गुण नहीं होता और वह सयोग या विभाग का कारण नहीं हो सकता।[1] पूर्ववर्णित द्रव्य से गुण का अन्तर नितांत स्पष्ट है। द्रव्य स्वयं आश्रय हो सकता है अर्थात् वह अपनी स्थिति के लिए किसी आश्रय की अपेक्षा नही रखता, परन्तु गुणों में यह बात नही। गुण स्वय आश्रय नही हो सकता और द्रव्य के आश्रय के बिना वह रह नही सकता। मेरे हाथ मे एक काली लेखनी है। लेखनी स्वय वर्तमान है, परन्तु उसकी कालिमा, काला रग लेखनी को छोड़कर अलग स्वतन्त्र रूप से रह नही सकता। जब वह रहेगा तब किसी-न-किसी द्रव्य का आश्रय ही लेकर रहेगा। द्रव्य से गुण की यही भिन्नता है।

संख्या—वैशेषिक सूत्रों मे गुणों की सख्या सत्रह मानी गई है—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श (पाच) संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, (दस) परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, (पंद्रह) इच्छा द्वेष तथा प्रयत्न। प्रशस्तपाद मे छ गुण और अधिक जोड़े गए है—गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, सस्कार, अदृष्ट और शब्द। इनमें अदृष्ट के दो रूप विवक्षित है—धर्म और अधर्म। इस प्रकार सब गुण मिलाकर सख्या में चौबीस है और समस्त गुणों का अन्तर्भाव इन्ही गुणों के भीतर किया जाता है।

१. **रूप (रंग)**—वह गुण जो केवल चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जा सके, रूप कहलाता है। रूप के प्रत्यक्ष होने मे चार वस्तुओं की आवश्यकता रहती है— (क) जिस वस्तु का वह रूप होता है, उसका परिमाण 'महत्' होना चाहिए। ऐसा न होने पर रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे सूक्ष्म परमाणु का। (ख) रूप व्यक्त होना चाहिए। अव्यक्त रूप का ग्रहण नही होता। (ग) रूप को किसी प्रबल गुणान्तर से अभिभूत (दबा हुआ) न होना चाहिए। यदि वह अभिभूत होगा तो प्रत्यक्ष नही हो सकता। मामूली अग्नि का रंग श्वेत होता है, परन्तु पृथ्वी के अंशों के रूपान्तर से ऐसा दबा रहता है कि उसके उजले रग का प्रत्यक्ष नहीं होता। (घ) उसमें रूपत्व

[1] **वैशेषिक सत्र १।१।१६**

जाति रहनी चाहिए।

रूप सात प्रकार का होता है— शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्र। प्राचीन ग्रन्थों में ये भेद नही दिये गए है। अन्नंभट्ट ने 'तर्क-संग्रह' में दिये है। 'चित्र' को कई आचार्य स्वतन्त्र रंग नही मानते। रूप पृथ्वी, जल और तेज मे ही रहता है। पृथ्वी में ऊपर वर्णित सातों रूप पाये जाते हैं। जल में न चमकनेवाला (अभास्वर) श्वेत रूप रहना है और तेज मे चमकनेवाला श्वेत रूप (भास्वर शुक्ल)।

२. **रस**—रसनेन्द्रिय मे ग्राह्य गुण 'रस' कहलाता है। वह छः प्रकार का होता है—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय (कसैला) तथा तिक्त (तीता)। यह पृथ्वी और जल में रहता है। जल में केवल मधुर रस रहता है, परन्तु पृथ्वी मे छहों रसो की स्थिति रहती है।

३. **गन्ध**—घ्राणेन्द्रिय के द्वारा जिस गुण का ग्रहण किया जाता है, वह गन्ध है। यह पृथिवी में ही केवल रहता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध भेद मे यह दो प्रकार का होता है।

४. **स्पर्श**—केवल त्वग् इन्द्रिय से ग्राह्य गुण स्पर्श है। यह पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु में रहता है। यह तीन प्रकार का होता है—शीत (ठंडा), उष्ण (गरम), अनुष्णशीत (न ठंडा न गरम)। शीत स्पर्श जल में रहता है; उष्ण स्पर्श तेज में और पृथ्वी तथा वायु मे तीसरे प्रकार का स्पर्श रहता है जो न शीत होता है और न गरम।

५. **संख्या**—एक, दो, तीन आदि व्यवहार जिस गुण के कारण होता है उसे 'संख्या' कहते है। यह नवों द्रव्यों में रहती है। संख्या 'सामान्य' गुणों में से एक है। इसका अर्थ यह है कि रूप, रस आदि एक द्रव्य में जिस प्रकार रहते है, उसी रूप में वे दूसरे द्रव्यों में नहीं पाये जाते, परन्तु 'सख्या' ऐसा गुण नहीं है,। यह एक से लेकर परार्द्ध तक रहता है।

६. **परिमाण**—माप (मान) के व्यवहार का कारण गुण 'परिमाण' है। यह नवों द्रव्यों में पाया जाता है। यह चार प्रकार का होता है—(क) अणु—अत्यन्त छोटा; (ख) महत्—बडा; (ग) दीर्घ—लम्बा; (घ) ह्रस्व—नाटा। अत्यन्त छोटा परिमाण अणु तथा मन मे रहता है और नित्य है। यह 'पारिमाण्डल्य' भी कहा जाता है।

७. **पृथक्त्व**—इस वस्तु का स्वभाव दूसरी वस्तु के स्वभाव से भिन्न या अलग है; यह बुद्धि जिस गुण के द्वारा होती है, उसे 'पृथक्त्व' कहते है। यह सब द्रव्यों मे रहता है। 'पृथक्त्व' तथा 'अन्योन्याभाव' का अन्तर स्पष्ट है। अन्योन्याभाव का दृष्टान्त है 'घट-पट नही है'। इससे केवल निषेध का बोध होता है कि घट क्या नही है,परन्तु 'पृथक्त्व' सत्तात्मक वस्तु का प्रतीक है। वह 'अ' से पृथक् 'ख' वस्तु के स्वभाव तथा लक्षण का भी कुछ ज्ञान कराता है। अन्योन्याभाव से केवल बुद्धिगत भेद भासित होता है, परन्तु पृथक्त्व से वास्तविभ बाहरी भिन्नता का ज्ञान होता है।

८. **संयोग**—अलग-अलग रहनेवाली वस्तुए जब एक-दूसरे से मिल जाती है, तब इस मिलन को 'सयोग' कहते है। यह सब द्रव्यों मे रहनेवाला गुण है। सयोग कभी भी नित्य नही हो सकता और इसलिए दो भिन्न नित्य पदार्थों का सम्बन्ध संयोग नही हो सकता।

९. **विभाग**—सयोग के नाशक गुण को 'विभाग' कहते है। केवल संयोग के अभाव को विभाग नही कहते, प्रत्युत दो मिली हुई वस्तुओं के अलग-अलग हो जाने को विभाग कहते है। यह भी नवों द्रव्यों मे रहता है।

१०. **परत्व**, ११ **अपरत्व**—जिस गुण के द्वारा 'आगे' का ज्ञान होता है वह होता है—'परत्व' और जिस गुण के द्वारा 'पीछे' का ज्ञान होता है, वह है—अपरत्व। ये पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन मे रहते है, क्योंकि ये परिमित देश मे रहते है। नित्य विभु पदार्थों मे ऐसी बात नही होती और उनमे परत्व तथा अपरत्व गण नही रहते। ये दो प्रकार के होते है—देशकृत तथा कालकृत। दूर पर स्थित वस्तु मे दैशिक परत्व तथा समीप मे स्थित वस्तु में दैशिक अपरत्व रहता है। इसी प्रकार जेठे व्यक्ति में कालकृत परत्व तथा कनिष्ठ व्यक्ति मे कालिक अपरत्व रहना है।

१२. **बुद्धि**—बुद्धि का अर्थ है ज्ञान,जो सब व्यवहार का कारण होता है। स्मृति और अनुभव के भेद से यह दो प्रकार का होता है। संस्कारमात्र से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते है तथा इससे भिन्न ज्ञान को 'अनुभव' कहते है। अपने बगीचे मे खिले हुए गुलाब के फूल को मैं अपनी आंखों देख रहा हू। यह कहलायेगा अनुभव। परन्तु दूसरे दिन पूजा के अवसर पर मैं उस गुलाब को,जिसे मैने पहले दिन देखा था,याद करूगा, तो यह होगी 'स्मृति'।

बुद्धि का विवेचन विशेष रूप से आगे किया जायगा।

१३. **सुख**—सब किसीके अनुकूल वेदनीय गुण को सुख कहते है अर्थात् जिसकी वेदना हर किसीके अनुकूल न हो। 'न्यायबोधिनी' की व्याख्या है—**इतरेच्छाऽनधीनेच्छ विषयत्वम्** अर्थात् जिसके पाने की इच्छा स्वतन्त्र उसीके लिए होती है, वही 'सुख' है। सुख की इच्छा केवल सुख के ही लिए होती है, अन्य वस्तुओं की इच्छा के समान वह पराधीन नही होती।

१४. **दुःख**—जिसका ज्ञान हर किसीके प्रतिकूल होता है, वही 'दुःख' होता है। जिसका द्वेष स्वतन्त्र रूप से उसीके द्वारा होता है, वही 'दु ख' है।

१५. **इच्छा**—जो वस्तु अपने पास नही है, उससे मिलने की जो प्रार्थना अपने लिए या दूसरे के लिए उठती है, वह 'इच्छा' कहलाती है। काम, अभिलाषा, संकल्प आदि इसके अनेक भेद है।

१६. **द्वेष**—किसी वस्तु को देखकर या उसका स्मरण कर जो चित्त में क्रोध या जलन पैदा होती है, वह 'द्वेष' है।

१७. **प्रयत्न**—प्रयत्न का अर्थ है उत्साहित होकर किसी कार्य का आरम्भ करना।

१८. **गुरुत्व**—प्रथम पतन के असमवायी कारण को गुरुत्व कहते हे, अर्थात् जिस गुण के द्वारा जलीय तथा पार्थिव पदार्थ ऊपर से नीचे गिरते है उसे 'गुरुत्व' कहा जाता। यह पृथ्वी तथा जल में रहता है।

१९. **द्रवत्व**—जिस गुण के द्वारा वस्तुओं का स्पन्दन अर्थात् बहना होता है, उसे 'द्रवत्व'कहते है। यह पृथ्वी, जल तथा तेज में रहता है। यह दो प्रकार का होता है—सांसिद्धिक (स्वाभाविक) तथा नैमित्तिक (कारण से उत्पन्न)। सांसिद्धिक द्रवत्व रहता है जल में। घृत पृथ्वी पदार्थ है तथा सुवर्ण-चांदी तैजस पदार्थ। इनको अग्नि के साथ संयोग करने पर ये पिघलते हैं। इसलिए द्रवत्व नैमित्तिक कहलाता है।

२०. **स्नेह**—चूर्ण होनेवाले द्रव्यों को एक पिंड के रूप मे बना देनेवाला गुण 'स्नेह' है। यह जल का विशेष गुण है।

२१. **संस्कार**—यह तीन प्रकार का होता है—१. वेग, २. भावना

तथा ३. स्थिति-स्थापक। इनमे वेग पाचों मूर्त पदार्थों मे (जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन मे) निवास करता है। किसी वस्तु के अनुभव होने के बाद अनुभव का कुछ अश चित्त मे रह जाता है, जो उचित अवसर आने पर उस वस्तु का स्मरण कराता है उसे ही 'भावना' कहते है। 'वासना' शब्द से या केवल 'संस्कार' शब्द से भी इसीका द्योतन किया जाता है। स्थिति-स्थापक लचीलापन को कहते है, जिसके द्वारा मोड़ने पर भी कोई वस्तु फिर से अपने पूर्व-रूप मे आ जाती है, जैसे रबड़ का गुण। रबड़ को मोडकर छोड देने पर वह फिर अपने असली रूप को पा लेती है।

२२. धर्मः, २३. अधर्म--अच्छा काम करने से जो सस्कार उत्पन्न होता है वह 'धर्म' है और इसके विपरीत बुरे कर्मों से उत्पन्न संस्कार 'अधर्म' कहलाता है। धर्माधर्म का विचार श्रुति तथा स्मृति में किया गया है।

२४. शब्द--यह आकाश का गुण है। श्रोत्र इन्द्रिय से इसका प्रत्यक्ष होता है। यह एक क्षण के ही लिए अवस्थित रहता है और इसका नाश उसीसे उत्पन्न दूसरे शब्द से होता है। वर्ण तथा ध्वनि के भेद से यह दो प्रकार का होता है।

ऊपर कहा गया है कि गुणो का आधार द्रव्य होता है। गुण द्रव्यों में निवास करते है। एक-एक द्रव्य मे अनेक गुणों की स्थिति रहती है। विश्वनाथ ने अपनी 'कारिकावली' मे इसका बड़ा ही सुन्दर विवरण दिया है—

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः।
स्पर्शादयोऽष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः॥
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम्।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश॥
स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश।
बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादिपञ्चकं भावना तथा॥
धर्माधर्मौ गुणावेते आत्मनस्तु चतुर्दशः।
संख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे॥
संख्यादयःपञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे।
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे॥

द्रव्यों में गुण-बोधक चक्र

पृथ्वी	जल	तेज	वायु	आकाश	काल	दिक्	ईश्वर	जीवात्मा	मन
१. स्पर्श	स्पर्श	स्पर्श	स्पर्श	संख्या	संख्या	संख्या	संख्या	संख्या	संख्या
२. संख्या	संख्या	संख्या	संख्या	परिमाण	परिमाण	परिमाण	परिमाण	परिमाण	परिमाण
३. परिमाण	परिमाण	परिमाण	परिमाण	पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व
४ पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	संयोग	संयोग	संयोग	संयोग	संयोग	संयोग
५. संयोग	संयोग	संयोग	संयोग	विभाग	विभाग	विभाग	विभाग	विभाग	विभाग
६ वियोग	वियोग	वियोग	वियोग	शब्द			बुद्धि	बुद्धि	परत्व
७. परत्व	परत्व	परत्व	परत्व				इच्छा	इच्छा	अपरत्व
८. अपरत्व	अपरत्व	अपरत्व	अपरत्व				यत्न	यत्न	वेग
९. वेग	वेग	वेग	वेग					सुख	
१० गुरुत्व	गुरुत्व	द्रवत्व						दुःख	
११. द्रवत्व	द्रवत्व	रूप						द्वेष	
१२. रूप	रूप							भावना	
१३ रस	रस							धर्म	
१४ गंध	स्नेह							अधर्म	
१४ गुण	१४ गुण	११ गुण	९ गुण	६ गुण	५ गुण	५ गुण	८ गुण	१४ गुण	८ गुण

कर्म

कर्म गुण के समान ही द्रव्य मे आश्रित रहता है। कर्म गुण से भिन्न है। गुण द्रव्य का सिद्ध धर्म है अर्थात् वह अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुका है, परन्तु कर्म अभी साध्य अवस्था मे है, जिसका अन्तिम रूप अभी निश्चित नही हुआ है।

कर्म के पाच भेद है—१ उत्क्षेपण—ऊपर फेकना या ऊपर जाना, २. अवक्षेपण—नीचे जाना, ३. आकुचन—सिकोडना, ४. प्रसारण—फैलाना, ५. गमन—चलना।

कर्म के ये कारण माने गए है—१. नोदन—ढकेलना जैसे पक मे पैर डालने से पंक हिलने लगता है। २. गुरुत्व—भारीपन जैसे घड़े के नीचे कोई आधार रखने से वह अपने स्थान पर टिका हुआ है। उस आधार को हटा दीजिये, तो देखियेगा कि वह घडा नीचे गिर जाता है। इसका कारण क्या है? घड़े का भारी होना। ३. वेग—धनुष से छूटा हुआ बाण दूर तक चला जाता है। ४. प्रयत्न—प्रयत्न करने पर मैने अपना हाथ हिलाया-डुलाया या ऊपर उठाया या नीचे किया। श्वास-प्रश्वास में भी प्रयत्न के ही कारण वायु के बाहर जाने तथा भीतर आने की क्रिया होती है।

सामान्य

जिसके द्वारा अनेक वस्तुओ मे एकत्व बना रहता है, वह सामान्य है। सौ मनुष्य व्यक्ति रूप से तो भिन्न-भिन्न है; परन्तु उनमे एकत्व की भी भावना है, मनुष्य होने के नाते। यही 'मनुष्यत्व' सामान्य या जाति है। सामान्य नित्य, एक और अनेक में अनुगत। (समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध) रहता है। मनुष्य उत्पन्न हों या मर जायं, आवे या चले जाय, परन्तु मनुष्यत्व जाति सर्वदा रहती है। यही है जाति की नित्यता। जाति तीन प्रकार की होती है—

१. पर सामान्य—सबसे अधिक व्यक्तियों मे रहनेवाली जाति जैसे 'सत्ता', जिससे बढ़कर और कोई जाति नही होती।

२. **अपर सामान्य**—सबसे कम व्यक्तियों में रहनेवाली जाति।

३. **परापर सामान्य**—जो पूर्व दोनों सामान्यों के बीच में रहनेवाला

होता है। जैसे 'मनुष्यत्व' जाति जो 'सत्ता' से कम होने से अपर है, परन्तु 'ब्राह्मणत्व' से अधिक होने से पर भी है।

जाति द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीन ही पदार्थ मे होती है।

विशेष

विशेष की कल्पना सामान्य की कल्पना से ठीक विपरीत है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को एक मानने का कारण सामान्य होता है, तो एक श्रेणी के समान गुणवाले व्यक्तियो के पारस्परिक भेद को सिद्ध करनेवाला पदार्थ 'विशेष' है। एक ही समान रूप-रग आकृतिवाले दो घडे हमारे सामने पडे है। ये दोनों भिन्न है, क्योंकि एक घडे का आधा भाग दूसरे घडे के आधे भाग से भिन्न है। इसी प्रकार इनके टुकडे और इनके भी टुकडे करते जाइये, जो भिन्न होते जायगे। अन्तत हम पहुच जायगे घडो के परमाणुओ पर। 'विशेष' की यही आवश्यकता है। दोनो घडो के परमाणुओ पर 'विशेष' पदार्थ रहता है और इसीके कारण एक घडा दूसरे घडे से भिन्न है। इस प्रकार एक द्रव्य के परमाणु मे और नित्य द्रव्यों मे (जैसे आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा मे) जो गुण है, वे 'विशेष' कहलाते है। कणाद सूत्र मे विशेष का लक्षण नही पाया जाता। प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य मे इसका विशेष रूप खड़ा किया है।

समवाय

नित्य सम्बन्ध को 'समवाय' कहते है। जब दो वस्तुए कभी एक-दूसरे से अलग नही पाई जाती, तब इन दोनो के सम्बन्ध को 'अयुतसिद्धि' या 'समवाय' कहते है। सयोगवाले पदार्थ कभी-कभी अलग-अलग भी पाये जाते है। मै अपने हाथ मे लेखनी लेकर लिख रहा हू। यहा हाथ और लेखनी का **सयोग-सम्बन्ध** है। लेखनी हटा दीजिये तो सयोग टूट जाता है। परन्तु तन्तु और पट का सम्बन्ध ऐसा नही है। डोरों को हटा दीजिये तो पट ही गायब हो जायगा। कपडा तभी तक है जबतक उसके भीतर तन्तुओ का सम्बन्ध है और यही नित्य सम्बन्ध 'समवाय' है। यह सम्बन्ध रहता है—

१. अवयव-अवयवी मे—जैसे वस्त्र और तन्तु का सम्बन्ध।

२. गुण-गुणी में—जैसे जल तथा शैत्य का सम्बन्ध।

३. क्रिया-क्रियावान् मे—जैसे गति तथा वायु का सम्बन्ध।

४. जाति-व्यक्ति मे—गोत्व तथा गोव्यक्ति का सम्बन्ध।

५. विशेष तथा नित्य द्रव्य मे—परमाणु, आकाश आदि मे विशेष रहता है इसी सम्बन्ध से।

समवाय की कल्पना न्याय-वैशेषिको की एक नितान्त मौलिक और आधारभूत कल्पना है, जिसे मानना नितान्त आवश्यक है। अन्य दर्शनो ने इसका जोरदार खण्डन किया है।

अभाव

अबतक 'भाव' पदार्थो का विवरण ऊपर दिया गया है। भाव से ठीक विपरीत एक पदार्थ और भी है, जिसका सूत्रों मे सकेतमात्र है, परन्तु परवर्ती आचार्यो ने उसका विशेष विवरण प्रस्तुत किया है। वह पदार्थ है—'अभाव।' यह प्रथमतः दो प्रकार का है—१ 'ससर्गाभाव' तथा २. 'अन्योन्याभाव'। इनमे से प्रथम दो वस्तुओ मे होनेवाले संसर्ग या सम्बन्ध का निषेध प्रकट करता है। परन्तु 'अन्योन्याभाव' का अर्थ है, परस्पर अभाव अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु नही है जैसे 'घडा कपड़ा नही है', इसका तात्पर्य है कि दोनो में आपसी भेद है—'घड़ा न कपडा है और 'न कपडा घडा है'।

ससर्गाभाव के तीन प्रकार होते है—

१. **'प्रागभाव'**—उत्पत्ति से पहले कारण (तन्तु) मे कार्य (वस्त्र) का जो अभाव है, वही कहलाता है प्रागभाव (प्राग्—पहले, अभाव)। इसका आदि नही होता, परन्तु कार्य के उत्पन्न होने से नष्ट हो जाने के कारण यह सान्त (अन्त के साथ) होता है।

२ **प्रध्वंसाभाव**—'प्रध्वस' का अर्थ है विनाश। अत: घट के विनाश होने पर 'प्रध्वंसाभाव' होगा। यह आदि सहित होकर भी अनन्त है।

३. **अत्यन्ताभाव**—जब दो वस्तुओ का ससर्ग भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों मे विद्यमान नही रहता, तब यह होता है अत्यन्ताभाव। अभाव मे सम्बन्ध का विचार किया जाता है। सुगन्धित कमल मे गन्ध समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है, सयोग से नही। अतः यदि हम कहे कि कमल मे गन्ध का सयोग सम्बन्ध से अत्यन्ताभाव है तो यह कथन

बिल्कुल ठीक होगा। वैशेषिकों की दृष्टि में अभाव परम पुरुषार्थ रूप है, क्योंकि इनके मत में दुःखों का अत्यन्ताभाव ही तो मोक्ष है।

ज्ञानमीमांसा

अबतक हमने महत्त्व की दृष्टि से उपादेय होने के कारण वैशेषिकों की 'तत्त्वमीमांसा' का ऊपर विशेष विवरण प्रस्तुत किया। इनकी ज्ञान-मीमांसा नैयायिकों की तद्विषयक मीमांसा के ही अनुरूप है। अन्तर इतना है कि न्याय के चार प्रमाणों के स्थान पर वैशेषिक केवल प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण मानते हैं। ये शब्द को अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं तथा उपमान को शब्द के अन्तर्गत। इस प्रकार अनुमान के भीतर उपमान तथा शब्द प्रमाणों का अन्तर्भाव मानकर ये लोग दो ही प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक लोग 'परमाणुवाद' के समर्थक हैं अर्थात् उनकी दृष्टि में परमाणुओं से पदार्थों की सृष्टि होती है। एक-एक परमाणु के मिलने से 'द्वयणुक' की उत्पत्ति होती है और तीन द्वयणुकों के योग से **त्र्यणुक** (त्रसरेणु या त्रुटि) की उत्पत्ति होती है और इसी प्रकार सूक्ष्म से स्थूल पदार्थों का सर्जन होता है। ये लोग शब्द को अनित्य मानते हैं। ये दोनों सिद्धान्त—परमाणुवाद तथा शब्दनित्यत्ववाद—मीमांसकों और वेदान्तियों की दृष्टि में वेद-विरुद्ध होने से नास्तिकवाद के द्योतक हैं। इसीलिए कुमारिल भट्ट इन्हें बौद्धों के समान नास्तिक (वेद-निन्दक) तथा शंकराचार्य 'ऊर्ध्व वैनाशिक' (आधा-बौद्ध) कहते हैं। परन्तु प्रशस्तपाद ने महेश्वर को अपने ग्रन्थारम्भ में नमस्कार ही नहीं किया है, प्रत्युत उनकी इच्छा से सृष्टि होने के सिद्धान्त को भी माना है। फलतः ये नैयायिकों के समान ही आस्तिक प्रतीत होते हैं। नास्तिक कहना उचित नहीं प्रतीत होता।

आचार-मीमांसा

कणाद के मतानुसार वैशेषिक दर्शन का अपना एक आचारशास्त्र भी है। अपने सूत्रों के आरम्भ में ही उन्होंने धर्म की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है। धर्म का विचार इसलिए आवश्यक है कि बिना धर्म-विचार के किये तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता। धर्म का लक्षण यही है—**यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः सधर्मः**, जिससे अभ्युदय तथा मोक्ष की सिद्धि हो, वही धर्म

उदयनाचार्य की व्याख्या के अनुसार 'अभ्युदय' का अर्थ है तत्त्वज्ञान तथा निःश्रेयस है मोक्ष।

इस प्रकार धर्म वही है, जिसके द्वारा तत्त्व-ज्ञान और मोक्ष की उपलब्धि हो अथवा तत्त्व ज्ञानपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हो। इस प्रकार धर्म से उत्पन्न होता है तत्त्व-ज्ञान और उस तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष का उदय होता है। काम्य कर्मों से निवृत्ति और नित्य कर्मों का अनुष्ठान आदि वेदविहित अनुष्ठान धर्म के अन्तर्गत आते है। और तत्त्व ज्ञान क्या है? पदार्थों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य के ज्ञान से तत्व-ज्ञान की उत्पत्ति होती है। पदार्थों मे (जिनका वर्णन ऊपर किया गया है) कुछ धर्म ऐसे है जो अनेक मे समान रूप से पाये जाते है (साधर्म्य) और कुछ ऐसे है जो उनमे बिल्कुल नहीं रहते (वैधर्म्य)। इन्ही की जानकारी से तत्त्वज्ञान का उदय होता है और यह तत्व-ज्ञान उत्पन्न करता है मोक्ष को। वैशेषिको की मुक्ति नैयायिको की मुक्ति के समान ही है—दु खों की अत्यन्त निवृत्ति। मुक्त दशा में समस्त दुःखो का सदा के लिए अन्त हो जाता है। वे फिर से उदय नही लेते। ये लोग भी उस काल मे सुख या आनन्द की सत्ता नही मानते। इन्ही साम्यो के कारण वैशेषिक न्याय-दर्शन का 'समानतन्त्र' माना जाता है।

समीक्षण

न्यायवैशेषिक के सिद्धान्तो का अन्य दर्शनों ने अपने दृष्टिकोण से बहुश. समीक्षण किया है। न्याय की प्रमाण-मीमासा—प्रमाणो का विश्लेषण, विशेषतः अनुमान का निरूपण—अन्य दार्शनिको की प्रशसा का विषय है, परन्तु उसके कई सिद्धान्त उन्हे मान्य नही। असमवायी-कारण की कल्पना ऐसा ही एक विवादास्पद विषय है। वैशेषिकों के अनेक सिद्धान्त इसी प्रकार विवाद तथा सघर्ष के भाजन हे, जैसे 'सामान्य' या 'जाति' की कल्पना, 'विशेष' नामक नवीन पदार्थ का मान्यता, परमाणुओ से जगत् की सृष्टि आदि-आदि। परन्तु इन दोनों दर्शनो का 'मुक्तिवाद' तो वेदान्तियों तथा वैष्णवों की तीव्र आलोचना तथा उपहास का विषय है। अद्वैत वेदान्त और वैष्णव दर्शन की दृष्टि मे मुक्तावस्था मे चरम आनन्द की सत्ता विद्यमान रहती है। इसलिए वे लोग निषेधात्मक मुक्ति की कल्पना मात्र से,

जिसमे आनन्द का सर्वथा अभाव रहता है, एकदम घबडा उठते है। अद्वैती श्रीहर्ष की यह हास्यमयी मुक्ति दर्शन जगत् मे नितान्त प्रख्यात है। उनका कथन है कि जिस सूत्रकार ने सचेता पुरुषों के लिए ज्ञान, सुख आदि से रहित होकर पत्थर के समान स्थिति को जीवन का चरम लक्ष्य बताया है उसका 'गोतम' नाम शब्दत. ही यथार्थ नही है, अपितु अर्थतः भी है। वह साधारण गौ (बैल) न होकर पक्का बैल (**गोतम**--'**अतिशयेन गौ**' **इति गोतमः**) है और ऐसे व्यक्ति से आशा ही क्या की जा सकती है--

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव स.।

—नैषधचरित. १७ सर्ग

मुक्तावस्था मे नित्य वृन्दावन मे सरस विहार करने की व्यवस्था बतलानेवाले वैष्णव आचार्य इस नीरस मुक्ति की कल्पना से घबड़ा उठते है और उनका भावुक हृदय पुकार उठता है कि वृन्दावन के जगलो मे शृगाल बनकर जीवन बिताना हमे मजूर है, परन्तु हमे वैशेषिको की मुक्ति पाने की कथमपि इच्छा नही है--

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
वैशेषिकोक्त मोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात्॥[1]

[1] **सर्व-सिद्धान्त-संग्रह, पृ. २८, मद्रास संस्करण**

: ३ :

सांख्य

सांख्य दर्शन भारतीय दर्शन की परम्परा मे अत्यन्त प्राचीन और प्रभावशाली माना जाता है। इसके प्रवर्तक 'कपिल' माने जाते है, जो अपने पाण्डित्य के कारण 'आदि विद्वान्' की महनीय पदवी से विभूषित किये जाते है। 'सांख्य' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—'सख्या' से सम्बन्ध रखने-वाला दर्शन। परन्तु 'सख्या' का क्या अर्थ ? इस प्रश्न के उत्तर मे मतभेद है। 'संख्या' का लोक-प्रसिद्ध अर्थ है—गणना, गिनती। इस दर्शन मे तत्त्वों की गणना सबसे पहले की गई कि तत्त्व केवल पच्चीस या छब्बीस है, इससे अधिक नही। इसीसे इसका नाम 'सांख्य' पडा, ऐसी कुछ लोगो का मान्यता है, परन्तु यहां 'संख्या' से तात्पर्य विवेक-ज्ञान से है, जो इस शब्द का प्राचीन आध्यात्मिक अर्थ है। इस दर्शन के अनुसार प्रकृति (भूत) तथा पुरुष (जीव) भिन्न तथा स्वतन्त्र है, परन्तु इस ससार मे इनका अविवेक या अज्ञान सर्वदा बना रहता है। प्रकृति तथा पुरुष ऐसे घुले-मिले रहते है कि हम दोनों को पृथक् नही कर सकते। यह है संसार-दशा। पार्थक्य होने पर ही मोक्षदशा का उदय होता है। जब प्रकृति और पुरुष का अलग-अलग ज्ञान हमें प्राप्त हो जाता है तब जीव को ससार के क्लेशो से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार इस दर्शन मे 'सख्या' की, विवेक-ज्ञान की, बड़ी ही महिमा तथा महत्त्व है। फलत 'सख्या' को प्रधानता देने के कारण यह दर्शन 'सांख्य' कहलाता है। यही इसका विशिष्ट अर्थ है। सामान्य रूप से यह 'ज्ञान' या आध्यात्मिक ज्ञान के लिए भी प्रयुक्त होता है और भगवद्गीता मे (**सांख्ययोगौ पृथग् बालः प्रवदन्ति न पण्डिताः**) अनेक स्थलों पर इसका यही व्यापक अर्थ अभीष्ट है। गीता में साख्य शब्द से सांख्य दर्शन का अर्थ लगाना कथमपि उचित नही है।

सांख्य के आचार्य

सांख्य दर्शन भारतीय दर्शन की एक गौरव पूर्ण और प्राचीन विचार-धारा को प्रकट करता है। इस दर्शन के बीज अनेक उपनिषदों में—जैसे कठ, मैत्री आदि में—बहुश. उपलब्ध होते है। प्राचीन सांख्य वेदान्त के समकक्ष ही था, क्योंकि उसमें ईश्वर के लिए स्थान था। परन्तु आगे चलकर विक्रम की आरम्भिक शताब्दियों में यह निरीश्वर वादी बन गया और इस रूप का वर्णन ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' में पूर्णतया उपलब्ध है। इस दर्शन का सक्षिप्त इतिहास नीचे दिया जाता है।

कपिल—कपिल इस दर्शन के आद्य आचार्य तथा प्रवर्तक है। अपनी विद्वत्ता और तत्त्ववेदिता के कारण वे 'आदि विद्वान्' की पदवी से मण्डित किये जाते है। इनकी दो रचनाओं का पता चलता है—(क) 'तत्त्वसमास', जिसमें केवल बाईस छोटे-छोटे सूत्र है, तथा (ख) 'सांख्य-सूत्र', जिसमें छः अध्याय और पांच सौ सैंतीस सूत्र है। 'सांख्य-सूत्रों' के ऊपर अनुरुद्ध की 'वृत्ति प्रामाणिक और लोकप्रिय मानी जाती है। सांख्य-सूत्र को अर्वाचीन मानना उचित नही, क्योंकि माधवमन्त्री ने 'सूतसंहिता' की टीका में एक सूत्र इस ग्रन्थ से उद्धृत किया है, जिसमें इसका समय चौदह शतक से प्राचीन मानना ही उचित है।

आसुरि—कपिल के साक्षात् शिष्य आसुरि थे, ऐसा पुराणों में और सांख्य सम्प्रदाय में वर्णित है। आसुरि के द्वारा रचित किसी ग्रन्थ का पता नहीं चलता, सिद्धान्तों का उल्लेख यत्र-तत्र अवश्य मिलता है।

पंचशिख—आसुरि के प्रधान शिष्य थे पचशिख, जिन्होने 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ का निर्माण कर सांख्य-शास्त्र को सुप्रतिष्ठित तथा व्यवस्थित बनाया। 'षष्टितन्त्र' अनुपलब्ध ग्रन्थ है, परन्तु उस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य सिद्धान्तों का उल्लेख 'अहिर्बुध्न्य संहिता' (१२।१८-३०) तथा 'सांख्यतत्त्व कौमुदी' में किया गया मिलता है। पचशिखाचार्य के कतिपय सूत्र भी योगभाष्य तथा भागती में निर्दिष्ट किये गए है। फलत. पचशिख एक प्रभावशाली सांख्याचार्य थे, यह हम निःसन्देह कह सकते है।

ईश्वरकृष्ण—पंचशिख के अनन्तर ईश्वरकृष्ण सांख्य दर्शन के अत्यन्त लोकप्रिय आचार्य हुए, जिनका ग्रन्थ 'सांख्यकारिका' सांख्य के तत्त्वों का

वर्णन करनेवाला एक गौरवशाली ग्रन्थ है। इन दोनों आचार्यों के बीच की क्रमबद्ध शृंखला का पता नहीं चलता। इन कतिपय आचार्यों के नाम अवश्य पुराणों और सांख्य-ग्रन्थों में दिये गए हैं—भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवलवार्षगण्य आदि। 'सांख्यकारिका' का एक प्राचीन नाम 'कनक सत्तरी' भी था और इसी नाम से यह जैनग्रन्थ 'अनुयोग द्वार सूत्र' (प्रथम शती) में उल्लिखित किया गया है, सांख्य ग्रन्थों की सूची में। ५४६ ईस्वी में बौद्ध विद्वान् परमार्थ ने 'सांख्यकारिका' का अनुवाद चीनी भाषा में किया, जो आज भी उपलब्ध है। वहां इसका नाम 'सुवर्णसप्तति' है। इस ग्रन्थ में साठ ही कारिकाएं सिद्धान्त प्रतिपादन करनेवाली थीं और इसीलिए ग्रन्थ के नाम में भी 'सप्तति' पद का निर्देश मिलता है। यह बहुत ही लोकप्रिय ग्रन्थ है, जिसके आधार पर सांख्यमत का परिचय सरलता से प्राप्त किया जा सकता है।

सांख्यकारिका की टीकाएं

इसके ऊपर अनेक टीकाएं मिलती हैं, जिनमें मुख्य ये हैं—१. 'माठर वृत्ति' जो सबसे प्राचीन व्याख्या मानी जाती है। 'अनुयोगद्वार सूत्र' में 'माठर' के नाम का सांख्यग्रन्थों में उल्लेख है तथा माठर प्रसिद्ध कनिष्क (प्रथम शती) के समसामयिक माने जाते हैं। फलतः यह टीका प्रथम या द्वितीय शती विक्रम की रचना मानी जाती है। २. 'गौडपाद-भाष्य'—गौडपाद के द्वारा रचित यह भाष्य भी प्रामाणिक और प्राचीन है। आचार्य शंकर के दादा गुरु गौडपाद थे, परन्तु वह ही इस भाष्य के प्रणेता हैं या नहीं, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता? ३. 'युक्तिदीपिका' किसी अज्ञातनामा आचार्यकी रचना है। ४ वाचस्पति मिश्र (नवम शती) की 'तत्त्वकौमुदी' सांख्यसिद्धान्त के प्रतिपादन में तथा प्रकाशन में वस्तुतः कौमुदी के समान उपादेय तथा रोचक है। ५. जयमंगला—शंकराचार्य या शंकरार्य की यह व्याख्या १४ शती का ग्रन्थ है। ६ चन्द्रिका—नारायणतीर्थ की यह रचना लघुकाय होने पर भी गंभीर अर्थ की प्रतिपादिका है (१७वीं शती) ७. सांख्यतत्त्व वसन्त—नरसिंह स्वामी की रचना है, जो अभी तक प्रकाशित नहीं है। यह व्याख्या सांख्य और वेदान्त में मूलतः भेद नहीं अंगीकार करती।

विन्ध्यवासी—प्राचीन सांख्याचार्यों में विन्ध्यवासी का नाम विशेष

महत्त्वपूर्ण है। इनका व्यक्तिगत नाम 'रुद्रिल' था, जिनके मत का उल्लेख अनेक दर्शन ग्रन्थों मे मिलता है। इनके गुरु का नाम 'वार्षगण्य' बतलाया जाता है।

विज्ञान भिक्षु—पिछले युग के आचार्यों मे विज्ञानभिक्षु अत्यन्त लोकप्रिय माने जाते है। ये काशीवासी सन्यासी थे और पन्द्रहवी शती के प्रथमार्द्ध मे विद्यमान थे। इन्होंने तीन दार्शनिक सम्प्रदायों पर भाष्य ग्रन्थ लिखे है—१. 'सांख्यप्रवचन-भाष्य'—'साख्य-सूत्र' का भाष्य, २. 'योगवार्तिक'—योग-सूत्रों के व्यासभाष्य पर लिखी टीका, ३. 'विज्ञानामृत भाष्य'—ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य। विज्ञानभिक्षु ने इन ग्रन्थो में दिखलाया है कि साख्य वेदान्त मे बहुशः भिन्न सिद्धान्त नही है, प्रत्युत वेदान्त और साख्य में वस्तुत सामजस्य है।

भावागणेश—विज्ञानभिक्षु के प्रधान शिष्य भावागणेश थे। इन्होने 'तत्त्व-सग्रह' के ऊपर व्याख्या ग्रन्थ लिखा है। साख्य का पठन-पाठन बहुत दिनो से दुर्बल पड़ता जाता था और इसीलिए श्रीमद्भागवत मे यह 'कालार्कभक्षित' कहा गया है। विज्ञानभिक्षु को हम यह गौरव अवश्य प्रदान करेंगे कि उन्होने साख्य तथा योग के सिद्धान्तों का व्यवस्थित प्रतिपादन कर इन्हे पुनरुज्जीवित किया।

साख्य-दर्शन के विकास की यही एक सक्षिप्त रूपरेखा है।

सांख्य की दृष्टि

साख्य-दर्शन के दृष्टिकोण को सबसे पहले समझ लेना उपयोगी होगा। साख्य द्वैतवादी दर्शन है, क्योकि वह दो ही तत्त्वो को मौलिक या मूलभूत मानता है—एक तो है पुरुष और दूसरा है प्रकृति। जिसे हम ससार के नाम से पुकारते है वह है ही क्या? वह इसी प्रकृति-पुरुष के द्वन्द्व के सयोग मे आविर्भूत हुआ है। ये दोनो स्वतन्त्र तथा मौलिक तत्त्व है। दोनों नित्य है—एक दूसरे पर अनाश्रित है। एक बात ध्यान देने की है। सांख्य की दृष्टि न्याय-वैशेषिक की दृष्टि की अपेक्षा सूक्ष्म तथा अन्तर्वर्तिनी मानी जायगी। न्याय-वैशेषिक के अनुसार इस ससार मे अनेक मौलिक तत्त्व है। परमाणु, आत्मा, मन, काल, दिक् आदि अनेक मौलिक तत्त्वों का अस्तित्व मानने के कारण न्याय-वैशेषिक बहुत्ववादी दर्शन है। एक बात और भी,

इनकी अपेक्षा सांख्य की दृष्टि कुछ भीतर प्रवेश करनेवाली है। इसीलिए तो उसने बहुत्व का अन्तर्भाव द्वित्व के भीतर कर दिया है अथवा हम कह सकते है कि साख्य ने बहुतत्त्वों का विश्लेषण तथा अन्तःपरीक्षण कर उन दो को ही मौलिक मान लिया है और अन्यों का इन्हीके भीतर अन्तर्भाव उसे अभीष्ट है। कार्यकारण के विषय में भी सांख्य की अपनी दृष्टि है—अपना एक विशिष्ट विचार है। न्याय मानता है कि चाक, डोरी, आदि की सहायता से कुम्भकार मिट्टी के भीतर से 'घडा' नामक एक अपूर्व द्रव्य को पैदा करता है। न्याय-मत मे इसलिए घट की 'उत्पत्ति' होती है। विपरीत इसके सांख्यमत मे मिट्टी मे पूर्व-स्थित घडे की अभिव्यक्ति या प्रदुर्भाव कुम्भकार के व्यापार से होता है। व्यापार से पहले भी घडा उस मिट्टी के लोंदे मे मौजूद था, व्यापार ने केवल उसे प्रकट कर दिया। इसीका नाम है—सत्क्रियावाद।

सत्कार्यवाद

कार्यकारण के विषय मे साख्यो का एक विशिष्ट मत है जो सत्यकार्यवाद के नाम से विख्यात है। मार्मिक प्रश्न यह है, कि नाना प्रकार की सामग्री तथा प्रयत्न होने से पहले कार्य कारण मे विद्यमान रहता है या नही अर्थात् कुम्भकार दण्ड की सहायता से मिट्टी मे घड़ा बनाता है। तब क्या उत्पन्न होने से पहले घडा मिट्टी विद्यमान था या नहीं? न्याय में वैशेषिक का उत्तर है—नही। घडा मिट्टी में विद्यमान नहीं था (असत्-कार्य), बल्कि सामग्री की सहायता से घड़े की उत्पत्ति होती है अथवा घड़ा एकदम नवीन वस्तु होता है। यदि वह पूर्व से ही विद्यमान होता, तो घडा की उत्पत्ति का क्या अर्थ होता? घड़े को बनाने के लिए कुम्हार की मेहनत तथा चाक घुमाने की क्या जरूरत? यदि कार्य कारण मे पूर्व से वर्तमान है, तो कार्य तथा कारण में भेद भी क्यो कर किया जा सकता है? मिट्टी तथा घड़ा दोनों के लिए एक ही नाम प्रयोग क्यों नहीं किया जाता? मिट्टी का लोंदा घड़े का काम क्यों नही करता? घड़े में तो हम जल रख सकते हैं, तो क्या यही कार्य हम मिट्टी के लोंदे मे भी कर सकते हैं? नही कभी नहीं। इस प्रकार कार्य तथा कारण के स्वरूप तथा सम्बन्ध पर विचार करने पर यही तथ्य अलोचकों के सामने आता है कि मिट्टी से घड़ा भिन्न है—

आकार से भी तथा तात्पर्य से भी। घडा एक नई चीज है, नूतन द्रव्य है, जो मिट्टी मे कदापि विद्यमान नही था, प्रत्युत दण्ड, चक्र आदि कारण-सामग्री की सहायता से वह उत्पन्न किया गया है और एक नई वस्तु है। इस प्रकार घट मिट्टी मे कथमपि कारण व्यापार से पूर्व मे विद्यमान नही है। नैयायिकों का यह मत 'असत् कार्यवाद' के नाम से प्रख्यात है। इस शब्द का अर्थ है—अ=नहीं, सत्=विद्यमान, कार्य का सिद्धान्त अर्थात् वह सिद्धान्त कि कारण मे कार्य (कारण व्यापार से पूर्व) कथमपि विद्यमान नही रहता। इससे घडा नाम की एक नवीन वस्तु की उत्पत्ति होती है, कुम्भकार के व्यापार के द्वारा। यह द्रव्य पहले विद्यमान नही था, केवल कुम्भकार के उद्योग तथा प्रयत्न से नाना कारण-सामग्री की सहायता से घट नवीन पैदा होता है। यह है न्याय का सम्मत सिद्धान्त। परन्तु साख्य का इस विषय का विवेचन भिन्न, अन्तरग और वैज्ञानिक है।

अपने मत को सिद्ध करने के लिए साख्यकारिका मे अनेक युक्तिया दी गई है। उन्हीका यहा सक्षेप में वर्णन किया जा रहा है—

१. **असदकरणात्**—असद् द्रव्य का करण नही किया जाता। शशशृग—खरहे की सीग—लोक में कही भी विद्यमान नही होता। यह असत् पदार्थ है और इसीसे यह कथमपि उत्पन्न नही किया जा सकता। इस तर्क का तात्पर्य यह है कि मृत्तिका से घड़े की उत्पत्ति जो दीख पड़ती है वह इस बात का प्रमाण है कि घट मृत्तिका मे सत् है, विद्यमान है। यदि वह विद्यमान नही रहता तो कथमपि, लाख प्रयत्न करने पर भी, उत्पन्न नही किया जा सकता। परन्तु वह उत्पन्न होता है, फलतः वह मृत्तिका में अवश्यमेव वर्तमान है। सत्कार्यवाद की यह पहली युक्ति है।

२. **उपादान ग्रहणात्**—'उपादान' का अर्थ है द्रव्य की निष्पादक वस्तु; जैसे घड़े के लिए मिट्टी तथा वस्त्र के लिए तन्तु (सूत या डोरा) उपादान है। घडे बनाते समय कुम्भकार मिट्टी का ही ग्रहण करता है। क्या कारण है कि तेली तेल के वास्ते सरसो या तिलो को ही कोल्हू मे डालकर पेरता है, जुलाहा कपडा बनाने के लिए तन्तुओ या डोरो का ही लेकर बुनता है। किसी कार्य के वास्ते किसी विशेष उपादान या सामग्री को ग्रहण करना पड़ता है।

३. **सर्वसम्भवाभावात्**—सब चीजों से द्रव्यों की उत्पत्ति (सम्भव) नितांत असंभव है। अगर हम मिट्टी मे घड़े की अथवा तन्तु मे वस्त्र की पूर्व-स्थिति नहीं मानते, तो सबमे सब चीजे पैदा होने लगेगी। मिट्टी से कपडा भी और कम्बल भी तैयार होने लगेगा, परन्तु ऐसा तो संसार में कभी होता नही। सब कारणो से सब कार्यो की उत्पत्ति दिखलाई नही पडती। फलतः मानना पडता है कि कार्य कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है।

४. **शक्तस्य शक्य करणात्**—पदार्थ मे किसी खास चीज के पैदा करने की शक्ति रहती है और वह उसी चीज को पैदा करता है, किसी दूसरी चीज को नही। तिलो को पेरने से तेल ही पैदा होता है, घी नहीं। सो क्यों? इसका कारण क्या है? इसका अर्थ यह है कि कार्य तथा कारण के बीच एक प्रकार की शक्ति का निवास है। कार्य कारण मे पहले मे ही विद्यमान होता है और यही कारण है कि शक्त पदार्थ (अर्थात् शक्ति से युक्त द्रव्य) शक्य (शक्ति से उत्पाद्य) वस्तु को ही उत्पन्न करता है। जुलाहा कपडा तैयार करने के लिए तन्तुओ को ही लेता है। ऐसा वह क्यों करता है? क्योंकि वह जानता है कि कारण मे किसी विशेष कार्य को ही पैदा करने की शक्ति होती है, दूसरे को नही। इसलिए तिलहन से तेल ही निकलता है। लाख कोशिश करने पर भी उससे घी नही निकल सकता। मिट्टी से घड़ा ही बनता है, लोहे का पात्र नही। शक्ति की सत्ता इस तथ्य का सच्चा प्रमाण है कि कार्य तथा कारण परस्पर सम्बद्ध पदार्थ है तथा उत्पन्न होने से पूर्व भी कार्य (घट) कारण (मिट्टी) मे अवश्यमेव विद्यमान रहता है।

५. **कारण भावात्**—यहां 'भाव' का अर्थ है—स्वभाव। लोक का नियम है कि जिस स्वभाववाला कारण होता है, कार्य भी उसी स्वभाववाला होता है। स्निग्ध स्वभाववाले तिलो से स्निग्ध तेल उत्पन्न होता है। मिट्टी से उत्पन्न घट मिट्टी के स्वभाववाला होता है। इस प्रकार कार्य और कारण में स्वभाव की एकता बनी रहती है, यही सार्वत्रिक नियम है। यदि असत् स्वभाववाला कार्य होता तो वह असत् स्वभाववाले कारण से उत्पन्न होता। परन्तु कार्य तो सत् स्वभाववाला होता है, क्योकि वह तो विद्यमान ही है। फलतः वह सत् स्वाभाववाले कारण से उत्पन्न होना है। इस प्रकार सत-कार्य वाद ही युक्तियुक्त सिद्धान्त है।

इन पांचों युक्तियो का एकत्र निर्देश इस सुन्दर कारिका में किया गया है—

असद्करणाद् उपादान ग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारण भावच्च सत् कार्यम् ॥

—सांख्यकारिका, ८

सत्कार्यवाद के दो रूप होते है—१. 'परिणामवाद' और २. 'विवर्तवाद' परिणाम वहा होता है, जहा कारण से उत्पन्न कार्य वास्तव होता है। जैसे दूध से दही की उत्पत्ति। यहां दही वस्तुतः सच्ची चीज है। वह आकार मे, रूप मे तथा फल मे भिन्न होता है। दही जमा हुआ होना है तथा स्वाद मे मीठापन लिये होता है, जो दूध के मिठास से भिन्न होता है। अत. कार्यो के वास्तव, सच्चे रूप को बतलानेवाला सिद्धान्त 'परिणाम' कहलाता है और सांख्यों का यही मत है। विवर्तवाद अद्वैत वेदान्त का मत है। उसका कहना है कि जो कार्य दिखलाई पड़ता है, वह वास्तव न होकर केवल आभास मात्र है; कार्य की केवल प्रतीति होती है, उसकी वस्तु-स्थिति नही रहती। अंधेरे मे पड़ी हुई रस्सी को देखकर हम डर कर भागते है कि यह साप है। यहा रज्जु मे सर्प उत्पन्न होता है, परन्तु यह कल्पना मात्र है, सच्ची घटना नहीं, क्योकि दीपक लाने पर रज्जु के रूप को ही हम देखते है, सांप को नहीं। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म से ही यह नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न होता है, परन्तु जगत् असत्य है, कोरी कल्पना है, स्वप्न के समान अलीक है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है। जगत् की केवल प्रतीति होती है; वह सच्चा नहीं होता। इस सिद्धान्त का नाम है — 'विवर्तवाद' (अर्थात् कारण से कार्य का असत्य रूपान्तर)।

गुण

सांख्य के अनुसार दो ही प्रधान तत्त्व है—पुरुष और प्रकृति। 'प्रकृति' के रूप को निष्पन्न करनेवाले पदार्थ गुण ही होते है। ये सख्या मे तीन है—१. सत्त्व, २. रजस्, ३. तमस्। इन तीनों का सामान्य नाम है—गुण। सांख्य-दर्शन में 'गुण' की कल्पना तथा मान्यता वैशेषिको के गुण से सर्वथा भिन्न है। वैशेषिक के अनुसार द्रव्य में रहनेवाले धर्म जैसे रूप, रस, गन्ध, शब्द आदि को हम 'गुण' के नाम से पुकारते है। ये द्रव्य मे ही रहते

है। इनकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती, परन्तु सांख्य का 'गुण' वस्तुतः द्रव्य रूप है। इस प्रकार अभिधान एक होने पर भी उसकी कल्पना में पर्याप्त भिन्नता है। इन्हें 'गुण' क्यों कहते है ? विज्ञानभिक्षु के मत में 'गुण' पुरुष को बाधनेवाले होते है। इनकी क्रिया रस्सी या डोरी के समान किसी वस्तु को बाधने की होती है। 'गुण' का एक अर्थ है डोरा या रस्सी। इसी क्रिया-साम्य को लक्षित कर गुण शब्द का व्यवहार सांख्य-दर्शन में किया जाता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार इस नामकरण का कारण कुछ दूसरा ही है। 'गुण' का एक अर्थ होता है—अग और सहायक (जैसे गौण पदार्थ जो मुख्य पदार्थ से भिन्न होता है)। ये प्रकृति के स्वरूप को निष्पन्न करनेवाले अग है और पुरुष को उसके स्वार्थ की सिद्धि में सहायक है। फलतः सत्त्वादिको को गुण शब्द के द्वारा व्यवहृत करना सर्वथा न्याय्य है। इनमे सयोग-वियोग आदि क्रिया रहती है तथा गुरुत्व, लघुत्व आदि धर्मो का भी निवास है। इसलिए ये वस्तुतः 'द्रव्य' ही है; यह तथ्य विस्मरण करने योग्य नहीं है।

गुणों की सिद्धि

पूर्वोक्त गुणों को मानने मे यथेष्ट प्रमाण भी विद्यमान है। संसार के पदार्थों पर एक क्षण के लिए दृष्टि तो डालिये। पेड़ से एक मीठा फल जमीन पर गिरता है। उसे पाने के लिए दो लडके दौड़ पडते है। फल पानेवाला तो आनन्दित होता है, फल न पानेवाला दुःखी तथा उसी ओर से जानेवाले एक राही को होता है न आनन्द न दुःख; बल्कि वह उदासीन रहता है। यहा एक ही वस्तु (फल) ने तीन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों मे तीन प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न की—आनन्द की, दुःख की और उदासीनता की। एक दूसरा उदाहरण लीजिये। किसी कमरे मे वाद्य-यन्त्रों का जमघट जुटा है, जहां से संगीत की तान सुनाई पड़ती है। इस सगीत के सुनने का भी प्रतिफल एक समान न होकर त्रिविध होता है। रसिक व्यक्ति को संगीत की लहरी आनन्द मे विभोर बना डालती है। रोगी को उसे सुनकर दुःख तथा कष्ट ही होता है। अरसिक को न तो आनन्द आता है, न दुःख ही, प्रत्युत वह तो उदासीन रहता है। उस संगीत के प्रति जो रसिकों के आनन्द का कारण होती है। यहा भी एक ही वस्तु संगीत ने तीन व्यक्तियों में तीन प्रकार के प्रभाव की अभिव्यक्ति की। जगत् के किसी पदार्थ को ध्यान से

देखिये, वह तीन और केवल तीन ही प्रकार की क्रिया उत्पन्न करता दीख पडता है। सक्षेप में हम कह सकते है कि जगत् के प्रत्येक पदार्थ में तीन और केवल तीन गुणों की सत्ता वर्तमान रहती हे।

प्रकृति में तीन गुण

साख्य का मूल सिद्धान्त है कि जो धर्म कार्य में वर्तमान होते है, वे कारण मे भी विद्यमान रहते है, क्योकि इस दर्शन मे कार्य तथा कारण मे मौलिक अन्तर नही है। व्यक्त दशा मे जिसे कार्य कहते है, अव्यक्त दशा मे वही कारण है। जगत् की मूल अथवा अन्तिम कारण हे प्रकृति। अतएव सिद्धान्ततः प्रकृति मे भी तीनो गुणो की सत्ता अनिवार्य है। गुणों की सत्ता मानने का यही कारण हे। सत्त्व, रज तथा तम—इन तीनो गुणो की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। प्रकृति में ये तीनो गुण मूलतः विद्यमान रहते है और इसीलिए प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक पदार्थ मे इनकी सत्ता न्यायसगत है। 'साम्यावस्था' का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेना चाहिए। सृष्टि की दशा मे जब वस्तुओ मे गुण विद्यमान होते है, तब उनका परस्पर अनुपात समान नहीं होता। वैषम्य ही तो जगत् है। फलतः जगत् के पदार्थों में ये तीनों गुण विषम रूप से स्थिर रहते है। किसी पदार्थ मे सत्त्व आधे से अधिक है तो तम और रज अवशिष्ट भाग को पूरा करते है। अन्य पदार्थ में स्थिति भिन्न होती है। सात्त्विक द्रव्य मे सत्त्व का प्राधान्य है तो राजसिक मे रजस् का और तामसिक मे तमस् का। इन तीनों गुणो के परस्पर मिश्रण का अनुपात सर्वदा विषम ही होता है। सृष्टि का यही नियम है। परन्तु जब इन गुणो की अवस्था सम होती है अर्थात् इनका विषय मिश्रण न होकर सम मिश्रण रहता है, तब सृष्टि नही होती। उस समय एकमात्र प्रकृति का ही साम्राज्य रहता है, विकृति का नही। इसीलिए प्रकृति को सांख्यवादी तीनों गुणों की साम्यावस्था मानता है।

सत्त्वगुण—सत्त्वगुण लघु (हल्का), प्रकाशक और इष्ट (आनन्ददायक) होता है। हल्की चीज ऊपर को उठती है जैसे अग्नि की ज्वाला और भाप की गति ऊपर की ओर होती है। यह सत्त्वगुण रहने के कारण है। उपासना करने के बाद साधक का चित्त बडा ही हल्का होता है; यह सत्त्वगुण के उद्रेक के कारण ही होता है। भिन्न-भिन्न इन्द्रिया अपने विषयों

को प्रकाशित करती है सत्त्वगुण के ही कारण। आनन्द देना भी सत्त्व के ही कारण होता है। मन मे हर्ष, सन्तोष, सुख आदि मधुर भावो की अभिव्यक्ति इसीलिए होती है कि उसमें सत्त्व का निवास रहता है।

रजोगुण—रजोगुण स्वय चंचल होता है और दूसरों को भी चचल बनाता है। वह क्रिया का प्रवर्तक होता है। पवन की चचलता और गतिमत्ता रज के ही कारण होती है। रज से सम्बद्ध होने से ही इन्द्रियां अपने विषय की ओर दौड़ती है और मन मे चंचलता का उदय होता है **चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्**' गीता का यह विवेचन रजोगुण की व्याख्या है। रज मे होती है क्रिया और इसीसे यह निष्क्रिय सत्त्व तथा तम मे क्रिया का सचार करता है। यह दु खात्मक है। फलतः रज प्रधान वस्तुओं से दुःख की सन्तत उत्पत्ति होती है।

तमोगुण—तमोगुण गुरु=भारी तथा उपष्टम्भक अर्थात् रोकनेवाला होता है। रजोगुण मे क्रिया की प्रधानता है और उसे ही रोकने का काम तमोगुण करता है। यदि यह न हो, तो रजोगुण सदा चलता जायगा और आगे बढता जायगा। इस प्रकार तमोगुण निष्क्रियता और जड़ता का प्रतीक है। यह मोह या अज्ञान पैदा करता है। गति को रोकर यह आलस्य, निद्रा तथा तन्द्रा को उत्पन्न करता है। इनके स्वरूप की भिन्नता के समान इनके प्रतिनिधि रग मे भी अन्तर माना जाता है। सत्त्व है उज्ज्वल, रज है रक्तवर्ण और तम होता है कृष्णवर्ण।

गुणों का सम्बन्ध—इन तीनो गुणों का परस्पर सम्बन्ध भी विचारणीय है। है तो ये तीनों आपस मे विरोधी (जैसा ऊपर हमने वर्णन किया है), परन्तु मिलकर एक ही फल का सम्पादन करते हैं। दृष्टान्त से इसे समझिये। दीपक के अंग-प्रत्यग परस्पर विरुद्ध होते है। तेल और बत्ती आग के विरोधी अवश्यमेव होते है, परन्तु दीपक का प्रकाश इन तीनो के सहयोग से ही उत्पन्न होता है। एक के भी अभाव में दीपक अपना कार्य कथमपि सिद्ध नही कर सकता। तेल भी है और बत्ती भी है, परन्तु उसमे अग्नि का सयोग नहीं किया गया है तो क्या कभी दीपक उजाला करेगा? नहीं, कभी नहीं। दीपक का आलोक तो इन तीनो विरोधी तत्त्वों के सम्मिलन का परिणत फल है। गुणों की भी यही दशा है। ये तीनों गुण, परस्पर

विरोधी होते हुए भी, आपस मे मिलकर पुरुष के अर्थ की सिद्धि करते है। इसके अतिरिक्त ये तीनो मिलकर एक साथ रहते है और किसी दशा मे ये वियुक्त नही होते। एक की अधिकता होने पर भी अन्य गुणों का अभाव नही हो जाता। परन्तु ये तीनो एक-दूसरे का अभिभव (दबाना) किया करते है, सात्त्विक पदार्थो मे सत्त्व गुण रज तथा तम को दबाकर अपनी सत्ता रखता है, राजस पदार्थो में सत्त्व और तम को दबाकर रज की स्थिति होती है तथा तामसिक द्रव्यो मे तमोगुण सत्त्व तथा रजस् को दबाकर अपना प्रभुत्व जमाये रहता है। इस व्यापार का नाम है—'अभिभववृत्ति'। इतना ही नही, ये आश्रयवृत्ति भी होते है अर्थात् एक गुण अन्य दोनो गुणो के धर्मो का आश्रय लेकर ही अपने कार्य मे प्रवृत्त होता है। उदाहरण के लिए रजोगुण के ऊपर दृष्टिपात कीजिये। वह स्वत. अपने-आप ही अपनी विशिष्ट क्रिया-प्रवृत्ति से लाभ नही पहुचाता, बल्कि प्रकाश (सत्त्व का कार्य) तथा नियमन (तम का कार्य) का आश्रय करके ऐसा कार्य करता है। इसीलिए गुण 'आश्रयवृत्ति' भी होते है।

एक अन्य वैशिष्टय पर ध्यान दीजिये। यह है परिवर्तन, परिणाम या विकार की विशिष्टता। ये तीनों सन्तत परिणामी होते है—इनमे प्रत्येक क्षण मे विकार या परिवर्तन उत्पन्न होता ही रहता है। ऐसा कोई क्षण नही, जिसमे परिवर्तन उत्पन्न न हो। चाहे वह क्षण सृष्टि का हो या प्रलय का हो। अन्तर एक बात मे अवश्य होता है। प्रलय-काल मे सत्त्व सत्त्व मे परिणत होता है, रज रज मे तथा तम तम मे। तात्पर्य यह है कि जैसा गुण होता है, वैसा ही वह परिणाम भी उत्पन्न करता है। इसीकी दार्शनिक सज्ञा—'स्वरूप परिणाम' (=समानरूप से परिणत होना)। सृष्टि का गुण-परिणाम इससे भिन्न होता है, सृष्टि मे वैषम्य का प्राबल्य होता है। फलतः सृष्टि की दशा मे एक गुण दूसरे गुणो को अपने वश में करके प्रधानता धारण करता है। इसीका नाम है—'विरूप परिणाम'। परन्तु गुणों का गुणान्तर होता है अवश्य। वह रुक नहीं सकता। इस प्रकार सांख्य-दर्शन मे 'गुण' का सिद्धान्त बडा ही मौलिक और महत्त्वपूर्ण है।

प्रकृति की सिद्धि

साख्य मत में पुरुष के साथ-ही-साथ 'प्रकृति' भी एक मौलिक तत्त्व

मानी जाती है। परन्तु प्रश्न है कि हम प्रकृति को माने ही क्यो ? किन युक्तियो के द्वारा साख्य प्रकृति की सिद्धि मानता है ? कौन तर्क उपस्थित किये जाते है ? इन प्रश्नो का सक्षेप मे वर्णन नीचे किया जाता है।

१. यह ससार का नियम है कि कार्य मे जो गुण वर्तमान रहते है, वे कारण मे भी विद्यमान होते है। जैसे घट के गुण मृत्तिका मे भी है। सफेद डोरो से बनाया गया कपडा सफेद होता है और काले डोरो मे बनाया गया कपडा काला होता है। अन्तर इतना ही है कि कार्य होता है व्यक्त और कारण होता है अव्यक्त। ससार के पदार्थो मे तीन गुण—सत्त्व, रज तथा तम—विद्यमान रहते है, यह तो अनुभूत सत्य है। फलत इन पदार्थो की उत्पादक कोई-न-कोई त्रिगुणात्मक वस्तु अव्यक्त रूप से वर्तमान अवश्य होगी। इस प्रकार अव्यक्त या प्रकृति की सिद्धि मान्य है।

२ ससार के विभिन्न कार्य परिमित होते है। इसका तात्पर्य है कि उनमे विद्यमान रहनेवाला एक ससर्गी पदार्थ अवश्य दृष्ट होता है। जैसे मूल (जड),अंकुर, पत्ता, फूल, तुष, तण्डुलकण आदि परिमित कार्य पदार्थो मे ब्रीहि (धान) एक ससर्गी पदार्थ है। उसी प्रकार ब्रह्म से लेकर स्तव-पर्यन्त चौदह परिमित बाह्य पदार्थ है और महत्तत्त्व से लेकर भूतो तक तेईस आन्तर (आध्यात्मिक) पदार्थ है। इनमे एक ससर्गी अवश्य होना चाहिए और इनका ससर्ग जहां रहता है, वही अव्यक्त कारण है। (**भेदानां परिमाणात्**)।

३. संसार के कार्यो मे एक जाति अनुस्यूत रहती है। एक जाति से अनुस्यूत भिन्न पदार्थो का एक ही उसी प्रकार का कारण दीख पडता है। उदाहरण लीजिये, कटक, केयूर, अगूठी आदि कार्यो मे सुवर्ण अनुस्यूत रहता है, क्योकि ये सब सोने के ही बनाये गए भूषण है। इसी प्रकार बाह्य तथा आध्यात्मिक पदार्थ सुख, दु.ख और मोह से अनुगत होते है। फलत उनका कारण भी उन धर्मो से अनुस्यूत होना चाहिए और वही है अव्यक्त या प्रकृति। (**समन्वयात्**)।

४. संसार का नियम है कि प्रवृत्ति शक्तिपूर्वक होती है। जैसे कुम्भकार तभी घड़े की रचना मे प्रवृत्त होता है जब उसमें उसके बनाने की शक्ति

वर्तमान होती है। बाह्य तथा आध्यात्मिक पदार्थों में प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। फलत उस प्रवृत्ति से पूर्व ही उत्पन्न होनेवाली शक्ति अवश्यमेव वर्तमान होगी। जो यह शक्ति है, वही अव्यक्त है, वही प्रकृति है (**शक्तितः प्रवृत्तेः**)।

५. कारण तथा कार्य का विभाग दिखलाई पड़ता है। घड़ा है कार्य और मिट्टी है कारण। इनमें भिन्न अर्थक्रियाकारिता के कारण विभाग स्पष्टतः वर्तमान होता है। घड़े में हम जल लाते हैं, यह क्रिया मृत्तिका से कभी सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार मृत्पिण्ड की क्रिया घट के द्वारा सम्पन्न नहीं की जा सकती। संसार में महत्तत्त्व आदि में भी अर्थ क्रिया के कारण विभाग है। इनका कारण इनसे पृथक् या भिन्न अवश्य होगा और वही प्रकृति है (**कारण कार्य विभागात्**)।

६. प्रलयकाल में यह विश्वरूप नाना रूपवाला संसारी पदार्थ, जिसमें लीन हो जाते हैं, वही प्रकृति है। तात्पर्य यह है कि प्रलय-दशा में कार्य-द्रव्य कारण में लीन हो जाता है, जैसे घट लीन हो जाता है मृत्तिका में। इस प्रकार पीछे जाते हुए संसार के पदार्थ लीन हो जाते हैं महत्तत्त्व में और यह महत्तत्त्व भी, जिसमें लीन हो जाय, वही, अन्तिम पदार्थ प्रकृति है।

इन युक्तियों को सांख्य-कारिका में ईश्वरकृष्ण ने बड़े ही संक्षेप में एक ही कारिका में निबद्ध किया—

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च कारण-कार्य-विभागात् अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य कारणमस्त्यव्यक्तम्।

—कारिका १५

प्रकृति को ही हम 'मूल प्रकृति' के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि यह सब पदार्थों का मूल कारण होती है। इसे 'प्रधान' भी कहते हैं। कारण होने से वह 'अव्यक्त' भी कही जाती है। इससे जो कुछ भी उत्पन्न या विकसित होता है, वह 'व्यक्त' (व्यक्ति पानेवाला) कहा जाता है। कई बातों में प्रधान व्यक्त के समान ही होता है—व्यक्त के समान ही प्रकृति होती है त्रिगुणात्मिका, विवेकहीन (अचेतन होने के कारण), विषय (भोग-विषय), सामान्य, अचेतन (सुख, दुःख तथा मोह को न जाननेवाली) तथा प्रसवधर्मी

(उत्पादन धर्मवाली)। व्यक्त मे कई बातो मे वह एकदम विपरीत भी होती है। प्रकृति होती है अहेतुमती, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिग, निरवयव तथा स्वतन्त्र—कारिका १०

पुरुष

ऊपर बतलाया गया है द्वैतवादी साख्यदर्शन मे प्रकृति के अनन्तर पुरुष ही मौलिक तत्त्व है। प्रकृति जड है और पुरुष चेतन है। उसकी सत्ता को सिद्ध करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता नही होती, क्योकि वह तो स्वयसिद्ध है। 'मै लिखता हू', 'मै पढता हू', 'मै खाता हू,' 'मै जाता हू'—ये हमारे दैनन्दिन जीवन के अनुभव है। इसी प्रकार 'यह मेरी पोथी है', 'यह मेरा लडका है', 'ये मेरे छात्र है'—यह भी नित्य की हमारी अनुभूति है। इन अनुभूतियों मे 'मै' और 'मेरा' पुरुष को ही तो सकेत करते है। भला, कोई भी व्यक्ति अपने-आपके अस्तित्व का अपलाप कर सकता है ? यदि वह कहता है—'मै नही हू', तो यहा भी वह 'मै' को तो स्वीकार कर ही लेता है। फलतः 'मै' एक स्वय-सिद्ध सत्य है। वह स्वय प्रकाश्य है, अर्थात् वह ज्ञान-रूप होने के कारण अपने-आपको प्रकाशित करता है। उसे प्रकाशित करने या बतलाने के लिए किसी दूसरे की आवश्यकता नही होती।

सांख्य का 'पुरुष' वेदान्त के 'आत्मा' से भिन्न है। दोनों के स्वरूप मे अन्तर है। वेदान्त आत्मा को सच्चिदानन्द मानता है, अर्थात् वह सत् और चित् (चैतन्य) होने के अतिरिक्त आनन्दमय भी है, परन्तु यह सांख्य को सम्मत नही। साख्य पुरुष को चैतन्यमय ही मानकर ठहर जाता है। वह उसे आनन्दमय नही मानता। इसका एक विशिष्ट हेतु है। हमने ऊपर दिखलाया है कि प्रकृति ही त्रिगुणात्मिका होती है; पुरुष तो निर्गुण ही होता है, अर्थात् आनन्द या सुख सत्त्वमय होने से प्रकृति से सम्बद्ध है,पुरुष से तो उसका सम्बन्ध कथमपि नही होता। पुरुष तो प्रकृति की परिधि से बाहर ही रहता है, फलतः आनन्द की सत्ता रखने से वह प्रकृति से भिन्न है। आशय है कि वेदान्त आत्मा को आनन्दमय मानता है, परन्तु साख्य उसे आनन्दमय नहीं मानता, केवल शुद्ध चैतन्य मानता है। पुरुष का एक दूसरा स्वभाव है उदासीनता का अर्थात् वह सुख से या दु:ख से कथमपि स्पृष्ट

नही होता,क्योकि वह निष्क्रिय रहता है। उसमे किसी प्रकार की क्रिया उत्पन्न नही होती। क्रिया का उदय तो प्रकृति मे होता है। जगत् को उत्पन्न करने का व्यापार तो वही प्रकृति करती है, पुरुष तो उसकी लीला देखता रहता है और इस प्रकार वह साक्षी है। पुरुष मे किसी प्रकार का कभी भी परिणाम या परिवर्तन उत्पन्न नही होता। परिणाम तो प्रकृति का धर्म है, पुरुष का नही। इसीलिए आचार्यो का कथन है—**सर्वं हि परिणामिनो भावाः ऋते चितिशक्तेः** अर्थात् चितिशक्ति—चैतन्यमय पुरुष को छोड़कर जगत् के सब भाव या सत्ताए परिणामी होती है। जगत् का प्रत्येक कण परिणाम के चक्कर मे पड़ा हुआ प्रतिक्षण बदलता रहता है, परन्तु पुरुष ही ऐसी सत्ता है, जो इस चक्कर के बाहर रहता है। इसीलिए पुरुष कूटस्थ अर्थात् अविकारी कहलाता है। साख्य के अनुसार पुरुष का मान्य रूप तथा स्वभाव संक्षेप मे ऊपर प्रदर्शित किया गया है। ईश्वरकृष्ण ने अपनी 'साख्यकारिका' मे इसका सक्षिप्त प्रतिपादन १७-२० कारिकाओ मे किया है।

पुरुष की सिद्धि

मूल प्रश्न है पुरुष की सत्ता के विषय मे। पुरुष माना ही क्यो जाय? पुरुष न मानने से क्या हानि है? पुरुष की सिद्धि के विषय मे महत्त्वपूर्ण तर्क नीचे दिये जाते है।

१. ससार के सघातमय पदार्थ दूसरो के लिए ही होते है। वह घर, जिसमे हम रहते है और बैठकर यह लिख रहे है, नाना द्रव्यों का समूह है। वह ईट, पत्थर, चूना, लकड़ी आदि अनेक वस्तुओ के सयोग से बनाया गया है। और यह कपडा, जिसे हम पहने है आखिर क्या है? यह भी अनेक तन्तुओ या डोरो का एक समुदाय-मात्र है। सघात अपने लिए नही होता, बल्कि दूसरों के लिए होता है। घर होता है रहनेवालो के लिए और कपड़ा होता है पहननेवालों के वास्ते। इसी प्रकार त्रिगुणात्मिक प्रकृति भी परार्थ है और यह पर है कौन? उससे भिन्न 'पुरुष' (**संघात परार्थत्वात्**)।

२. जगत् के पदार्थ तो त्रिगुण, अविवेकी आदि होते है। इन पदार्थो से भिन्न पुरुष ही है, जो त्रिगुणादि का विपर्यय धारण करता है। फलतः महत् आदि प्राकृतिक द्रव्य जिस 'पर' के लिए वर्तमान रहते है, वह उनसे सर्वथा

भिन्न होता है और वही 'पुरुष' है (**त्रिगुणादिविपर्ययात्**)।

३. बिना चेतन के द्वारा अधिष्ठित हुए जड पदार्थ अपने कार्यों में कथमपि प्रवृत्त नहीं होते। रथ स्वयं एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता, जबतक वह सारथि के द्वारा संचालित नहीं किया जाय। प्रकृति स्वयं अचेतन है। फलतः उसे कार्य में संचारित करनेवाला चेतन पदार्थ कोई-न-कोई अवश्य है और वही पुरुष है (**अधिष्ठानात्**)।

४. संसार में भोग्य को देखकर उसके भोक्ता का अनुमान किया जाता है। सामने कागज, कलम और स्याही पडी हुई है। ये सब भोग्य पदार्थ हैं। इनका उपभोग करनेवाला व्यक्ति होता ही है। इसी प्रकार महत्तत्त्व-पर्यन्त सब पदार्थ भोग्य हैं। इनका भोक्ता अवश्य होगा। जो इनका भोक्ता है, वही पुरुष है (**भोक्तृभावात्**)।

५. इस जगत् में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो दुःखों से सन्तप्त होकर उनसे छुटकारा पाने के लिए हमेशा उद्योग करते हैं। भौतिक जगत् के किसी भी पदार्थ के लिए यह उद्योग चरितार्थ नहीं होता, क्योंकि वह तो स्वयं दुःखात्मक है और इसलिए वह दुःखों से निवृत्ति नहीं पा सकता। मुक्ति के लिए उद्योग करना इस बात की गवाही है कि कोई पदार्थ ऐसा अवश्य है, जो क्लेशों से निवृत्ति पा सकता है। ऐसा तत्त्व पुरुष ही है, जो त्रिगुणों के सम्पर्क से हीन होने के कारण दुःखरहित है। फलतः 'पुरुष' की सत्ता सिद्ध है (**कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च**)।

ये ही पुरुष की सिद्धि-विषयक युक्तियां हैं, जिनका एकत्र निरूपण इस कारिका में सुन्दर ढंग से किया गया है—

संघात परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययात् अधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च॥

—कारिका १७

पुरुष की अनेकता

पुरुष एक है या अनेक? इस प्रश्न का उत्तर सांख्याचार्यों ने बड़े आग्रह के साथ युक्तियों के सहारे दिया है कि पुरुष अनेक है और इस विषय में आत्मा की एकता माननेवाले वेदान्तियों से उनका मत नितान्त भिन्न है।

उनकी प्रधान युक्तियो पर ध्यान दीजिये।

१. जन्म, मरण, तथा इन्द्रियो मे विशेष नियम देखा जाता है। एक व्यक्ति जनमता है, उसी क्षण मे दूसरा मरता है। यदि एक ही पुरुष होता तो एक के जन्म लेते ही सब पुरुषों का जन्म हो जाता। ठीक उल्टा इसके, एक के मरते ही सब पुरुष मर जाते। परन्तु व्यवहार मे स्थिति ऐसी नही है। इसी प्रकार एक मे इन्द्रिय की विकलता होने पर दूसरों में वह विकलता नही दीख पडती। एक के अन्धा होने पर जगत् के समस्त प्राणी अन्धे नही हो जाते है और एक के बहिरा होने पर क्या ससार के सब पुरुष बहिरे बन बैठते है? फलत पुरुष को बहु या अनेक मानने पर ही इस व्यवहार को हम समझ सकते है और समझा सकते है।

२ प्रवृत्ति का युगपत् न होना। 'युगपत्' का अर्थ है एक साथ, एक समय मे। प्रवृत्ति पुरुषो में एक साथ नही दिखलाई पडती। विद्यालय के सन्ध्याकालीन प्रागण मे कोई छात्र गेद खेलने के लिए उतरता है, तो कोई अपने कमरे मे खर्राटे लेता हुआ सुख की नीद सोता है। ऐसा पुरुष की अनेकता के कारण होता ही है। पुरुष अनेक है, जो अपनी इच्छा के अनुसार भिन्न-भिन्न क्रियाए करता रहता है। पुरुष की किसी भी कार्य में एक साथ प्रवृत्ति नही दिखलाई देती।

३. त्रिगुण के विपर्यय होने के कारण भी यह अनेकता सिद्ध होती है। इसे उदाहरण की सहायता से समझिये। पुरुष में स्वभाव की भिन्नता कितनी आश्चर्यकारिणी है। एक छात्र को हम मननशील पाते है, वह अपने ग्रथों के अध्ययन में ही दत्तचित्त रहता है। दूसरे को दौड़-धूप का काम ही प्रिय लगता है, तो तीसरे को हम आलस्य के वशीभूत होकर निद्रादेवी की गोद में ही पड़ा पाते है। यह भिन्नता सिद्ध करती है कि पुरुष एक न होकर अनेक ही है। इन तीनों युक्तियो को सांख्यकारिका में इस प्रकार संक्षेप मे निबद्ध किया गया है—

जन्म मरण करणानां प्रति नियमात् अयुगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुष बहुत्वं सिद्धम् त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥

—कारिका १८

यहां ध्यान देने की बात है कि सांख्य मे 'पुरुष' शब्द का प्रयोग देहधारी

जीव के लिए किया गया है। देहधारी जीव मे ही कारिका मे वर्णित विशिष्टताए पाई जाती है। जिस पदार्थ को सूचित करने के लिए वेदान्त 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करता है, उसका सकेत 'पुरुष' शब्द के द्वारा नही किया जाता। यह भेद जान लेने पर साख्य के द्वारा प्रतिपादित मन्तव्य की सत्यता स्वय सिद्ध हो जाती है।

पुरुष का स्वरूप

साख्य के अनुसार तीन मुख्य पदार्थ है—व्यक्त—प्रकट होनेवाला जगत्, अव्यक्त—प्रकृति, ज्ञ—ज्ञाता पुरुष। इन्ही तीनो के यथार्थ रूप को जानने मे पुरुष को दु खों से छुटकारा मिलता है—**व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्**। 'ज्ञ' अर्थात् पुरुष किन्ही बातो मे 'व्यक्त' के साथ विभिन्नता रखता है और किन्ही बातो मे वह 'अव्यक्त' की विषमता रखता है। इस वैषम्य के द्वारा पुरुष का यथार्थ रूप समझ मे आ सकता है।

व्यक्त और अव्यक्त मे अनेक गुणो मे विभिन्नता वर्तमान रहती है—

१. व्यक्त पदार्थ हेतुमान् होता है अर्थात् अपने कारण से उत्पन्न होता है, जैसे प्रधान से महान् तथा महान् से अहकार आदि। अव्यक्त अहेतुक होता है, क्योंकि वह कही से भी उत्पन्न नही होता। कारण यह है कि मूल प्रकृति सबका कारण होती है। वह स्वय कही से उत्पन्न नही होती। पुरुष भी अहेतुमान् है, क्योंकि वह कही से उत्पन्न नही होता।

२ व्यक्त अनित्य होता है कारणों से उत्पन्न होने के हेतु। अव्यक्त इससे विपरीत होता है, अर्थात् कही से उत्पन्न न होने के कारण वह नित्य होता है। पुरुष भी नित्य होता है।

३ व्यक्त किसी प्रदेश मे ही रहने के हेतु अव्यापक होता है, परन्तु अव्यक्त सर्वगत होने के कारण व्यापक होता है। पुरुष दोनो रूप मे होता है। प्रकृति से मुक्त होने पर वह व्यापक होता है (अव्यक्त के समान) और प्रकृति से युक्त होने पर वह अव्यापक होता है (व्यक्त के समान)।

४. व्यक्त मे क्रिया अर्थात् ससरण विद्यमान रहता है, परन्तु अव्यक्त में संसरणात्मक क्रिया नही होती; क्योकि वह तीनों लोकों में स्थित होने के कारण ससरण नही करता। पुरुष भी निष्क्रिय होता है, क्योकि उसमें

कर्तृत्व का अभाव होता है।

५ व्यक्त अनेक होता है, क्योकि महत्तत्व से आरम्भ कर भूत-पर्यन्त वह तेईस प्रकार का होता है। अव्यक्त एक ही होता है, क्योकि तीनों लोको का कारण वह एक रूप में ही होता है। पुरुष भी व्यक्त के समान ही अनेक होता है।

६. व्यक्त आश्रित होता है। जो जहां से उत्पन्न होता है, वह उसपर आश्रित होकर रहता है। अव्यक्त कारणरहित होने के कारण अनाश्रित रहता है। पुरुष भी कारणहीन होने से अनाश्रित होता है।

७ व्यक्त लिंग होता है। 'लिंग' का अर्थ है लय जानेवाला पदार्थ (**लयं गच्छतीति लिंगम्---जयमंगला**)। प्रलय दशा मे कार्य-पदार्थ अपने कारण-पदार्थ मे लय प्राप्त कर लेता है और इसीलिए वह 'लिंग' शब्द के द्वारा व्यवहृत होता है। अव्यक्त तथा पुरुष दोनो ही कही से उत्पन्न न होने के कारण 'अलिंग' है।

८ व्यक्त 'सावयव' होता है। 'अवयव' से तात्पर्य है शब्दादिकों से। आध्यात्मिक तथा बाह्य दोनो व्यक्त शब्दादिकों से युक्त होने के कारण सावयव कहलाते है। अव्यक्त तथा पुरुष दोनों निरवयव है।

९. व्यक्त 'परतन्त्र' होता है। जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, उसके अनुरोध से ही वह अपना कार्य सम्पादन करती है, उसे छोड़कर नहीं। ऐसी दशा मे व्यक्त स्वतन्त्र नही है। इससे विपरीत अव्यक्त तथा पुरुष दोनों ही स्वतन्त्र होते है; कही से वे उत्पन्न तो नहीं होते, जिसके अनुरोध से वे अपने कार्य मे प्रवृत्त हो। यही उनका स्वातन्त्र्य है।

अबतक व्यक्त और अव्यक्त की भिन्नता तथा पुरुष के स्वरूप का वर्णन किया गया है। कतिपय गुणो मे व्यक्त और अव्यक्त की समानता होती है और किन्ही बातो मे पुरुष उनसे विपरीत होता है। व्यक्त और अव्यक्त दोनो ही होते है—१. सत्त्वादिक गुणों से युक्त (त्रिगुण), २. विवेक-हीन, चेतनरहित होने के कारण (अविवेकी), ३. विषय, ४. सामान्य, सब पुरुषों के द्वारा उपभोग्य होने के कारण, ५. अचेतन अर्थात् सुख, दुःख तथा मोह को नहीं जानते, ६. प्रसवधर्मी अर्थात् अपने कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता रखते है। पुरुष का स्वभाव इनके विपरीत होता है। इस-

लिए पुरुष निर्गुण, विवेक्ता, विषयी (भोक्ता होने के कारण), असामान्य (विषय न होने से), चेतन (सुख, दुःख और मोह का ज्ञाता) और अप्रसव-धर्मी (अकर्ता होने से) होता है। इस साम्य-वैषम्य की सूचक तालिका नीचे दे रहे है।

संख्या	व्यक्त	अव्यक्त	पुरुष	वैशिष्ट्य
१.	हेतुमान	अहेतुमान	अहेतुमान	
२.	अनित्य	नित्य	नित्य	
३	अव्यापी	व्यापी	(i) अव्यापी	(i) प्रकृति से युक्त होने पर
			(ii) व्यापी	(ii) प्रकृति से मुक्त होने पर
४.	सक्रिय	निष्क्रिय	निष्क्रिय	
५.	अनेक	एक	अनेक	व्यक्त के समान है और अव्यक्त से भिन्न है
६.	आश्रित	अनाश्रित	अनाश्रित	
७.	लिंग	अलिंग	अलिंग	
८.	सावयव	निरवयव	निरवयव	
९.	परतंत्र	स्वतंत्र	स्वतंत्र	
१०.	त्रिगुण	अविवेकी	निर्गुण	इन पाच विषयो में पुरुष व्यक्त और अव्यक्त दोनों से विपरीत होता है
११		विषय	विवेकी	
१२		सामान्य	निर्विषय	
१३.		अचेतन	असामान्य	
१४.		प्रसवधर्मी	चेतन	
१५			अप्रसवधर्मी	

सांख्य की तत्त्व-मीमासा

सांख्य के अनुसार तत्त्व पच्चीस होते है, जिनका विभाजन चार प्रकार से किया जाता है। ससार का एक पदार्थ ऐसा है कि १. वह सबका कारण

तो बन जाता है, परन्तु वह किसीसे भी स्वयं उत्पन्न नहीं होता अर्थात् वह किसीका कार्य नहीं होता, २. कुछ पदार्थ कारण तो होते है और साथ-ही-साथ कार्य भी होते है, अर्थात् वे स्वयं उत्पन्न तथा उत्पादक दोनों एक साथ होते है, ३ कुछ पदार्थ केवल कार्य होते है, क्योंकि उनमे किसी पदार्थ के उत्पादन की क्षमता नही होती, ४. एक ऐसा भी पदार्थ है, जो न कार्य है, न कारण है; न उत्पन्न है और न उत्पादक; न किसीसे पैदा हुआ और न किसी को पैदा करता है। क्रमशः इनके पारिभाषिक नाम नीचे दिये जाते है।

स्वरूप	संज्ञा	संख्या
१ कारण ही केवल, कार्य नही	प्रकृति	एक
२. कार्य-कारण दोनों समान रूप से	प्रकृति-विकृति	सात
३. केवल कार्य ही	विकृति	सोलह
४. न कार्य, न कारण	न प्रकृति, न विकृति	एक
	—पुरुष	
		पच्चीस तत्त्व

(क) **मूल प्रकृति**—प्रकृति एक ही है। वह किसीसे उत्पन्न नही होती, प्रत्युत सब द्रव्यों की उत्पादिका है। इसीलिए इसका नाम है—'मूल-प्रकृति'।

(ख) **प्रकृति-विकृति**—इसके अन्तर्गत सात पदार्थ माने जाते है—महतत्त्व, अहकार, तन्मात्र (शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र तथा स्पर्श तन्मात्र।)

(ग) **विकृति**—केवल कार्य ही होती है, वह स्वयं किसी पदार्थ को पैदा करने की योग्यता नहीं रखती—

पंचभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश।

पंचज्ञानेन्द्रिय—चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् तथा श्रोत्र।

पंचकर्मेन्द्रिय—वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ,

मन

(घ) **पुरुष**—वह पदार्थ जो किसीसे उत्पन्न नहीं होता और न किसीका उत्पादक होता है। न स्वयं उत्पन्न है और न किसीका उत्पादक है। इसका कारण स्पष्ट है। पुरुष नित्य तत्त्व है। वह सदा विद्यमान रहता

है और इसीलिए वह प्रकृति के क्षेत्र से बाहर ही विद्यमान रहता है। ऊपर के तीनो प्रकार तो प्रकृति और उससे उत्पन्न तत्त्वों को समाविष्ट करते है, परन्तु पुरुष ही अकेला ऐसा है, जो प्रकृति के राज्य से बहिर्भूत है। इस प्रकार ऊपर का तत्त्व-विभाजन संक्षेप में प्रकृति तथा पुरुष--इस द्विविध तत्त्व का ही बाहरी विकास है। इसे निम्नांकित रेखा-चित्र से ठीक-ठीक समझा जा सकता है।

तत्त्व-विभाजन

प्रकृति	पुरुष
१. मूल प्रकृति (एक)	
२. प्रकृति-विकृति (सात)	
३ विकृति (सोलह)	(एक)
(चौबीस)	(एक)
=पच्चीस	

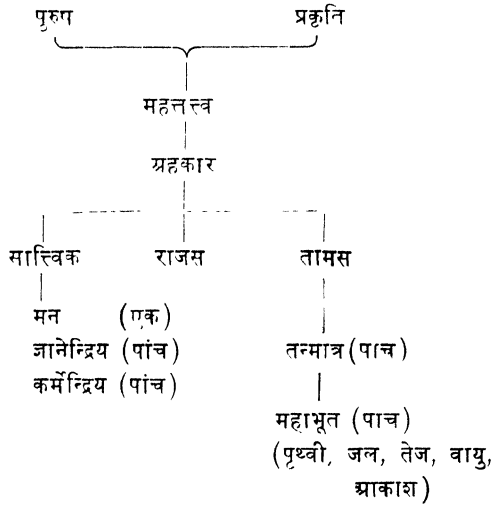
इसका तात्पर्य यह है कि सांख्यदर्शन मे मूलतः दो ही तत्त्व है—प्रकृति और पुरुष। प्रकृति के विकास के तीन स्तर या श्रेणिया है। एक तो है स्वय मूल प्रकृति। दूसरा है उससे उत्पन्न तत्त्व, जो उत्पन्न और उत्पादक दोनो है। तीसरी श्रेणी है उन तत्त्वों की जो विकृति ही होते है, (कार्यरूप ही धारण करते है) प्रकृति कभी नहीं बनते। तीन स्तरों में विभक्त ये चौबीस तत्त्व प्रकृतिजन्य होने से प्राकृतिक कहे जायंगे। इस क्षेत्र से बाहरी तत्त्व है पुरुष, जो कार्य न होने से विकृति नहीं है, न कारण होने से प्रकृति। यही पच्चीस तत्त्वों का विश्लेषण सांख्य की विशिष्टता है।

सांख्यीय सृष्टि-क्रम

सांख्य के अनुसार सृष्टि किस प्रकार होती है? इस प्रश्न का उत्तर यहां अब संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है। एक बात ध्यान देने की है कि सांख्य के अनुसार वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत परिणाम होता है। इसे समझने के लिए सांख्य-मत में कार्य-कारण की महनीय कल्पना को

ध्यान में रखना होगा। ऊपर हमने सांख्य-सिद्धान्त मे अभीष्ट सत्कार्यवाद की चर्चा की है। साख्य-मत में कारण में कार्य सर्वदा ही, अव्यक्त रूप मे ही सही, विद्यमान रहता है। मृत्तिका मे घट की स्थिति सदा से है। कुम्भकार अपने साधनो के द्वारा मिट्टी से घडे को जब उत्पन्न करता है, तब किसी नई वस्तु का प्राकट्य नही होता, प्रत्युत मृत्तिका में अव्यक्त रूप से विद्यमान होनेवाले घट का व्यक्त रूप मे केवल आविर्भाव होता है। सृष्टि के लिए भी यह सिद्धान्त जागरूक है।

सृष्टि का विकासक्रम



सृष्टि का उदय प्रकृति और पुरुष दोनों के सयोग का फल है। न प्रकृति अकेले विश्व की सृष्टि कर सकती है और न पुरुष ही अकेले इस महनीय कार्य को कर सकता है। प्रकृति क्रियाशील होने पर भी जड़ है और पुरुष चेतन होने पर भी निष्क्रिय है। फलत इस जड़-चेतन के समन्वित संयोग से ही विश्व का आविर्भाव होता है। इस प्रसंग में सांख्य ग्रन्थों में अन्धे और लंगड़े की प्रसिद्ध कहानी का उपयोग दृष्टान्त रूप में बहुश:

किया गया है। अन्धे में चलने की शक्ति है, परन्तु वह मार्ग-दर्शन नही करा सकता। लंगड़ा राह दिखला सकता है, परन्तु वह चल नही सकता। दोनो के सयोग मे ही कार्य की सिद्धि देखी जाती है, इस कहानी मे। इसी प्रकार चेतन पुरुष सक्रिय प्रकृति के साथ मिलकर विश्व की सृष्टि में समर्थ और सफल होता है।

महत्—साख्यमत के अनुसार सृष्टि के विकास का यही क्रम है। पुरुष तथा प्रकृति के सयोग से आविर्भाव पानेवाला पहला पदार्थ है—महत् या महत्तत्त्व। इसे ही 'बुद्धि' कहते है। यह जगत् की उत्पत्ति का बीजरूप होने से बडा ही महत्त्व रखता है और इसीलिए यह 'महत्' कहलाता है। बुद्धि का विशेष कार्य है निश्चय (अथवा अध्यवसाय)। प्रकृति का कार्य होने से बुद्धि जड है, परन्तु पुरुष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब उसके ऊपर पडता है और इससे वह चेतन के समान प्रतीत होती है। ससार मे हम नित्य प्रति देखते है कि प्रत्येक पुरुष अपने अधिकार का विचार कर कहता है—'यह मेरा कर्तव्य है', 'यह मुझे करना है'। यही निश्चय का रूप है और यह बुद्धि के द्वारा सम्पन्न होता है।

अहंकार—महत् के बाद दूसरा परिणाम है—'अहकार'। 'मै हू', 'यह मेरा घर है'—इस प्रकार मै और मेरा ऐसा अभिमान करना ही अहकार का रूप है। इस अहंकार के कारण पुरुष नाना प्रकार के भ्रमों मे पड़ा रहता है और समझने लगता है कि 'मै ही कर्ता हू', 'मै ही भोक्ता हू', 'मै ही स्वामी हू', आदि। गुणों की विभिन्नता के कारण यह अहकार तीन प्रकार का होता है—

(क) **सात्त्विक**—जिसमे सत्त्व की प्रधानता होती है। इसीका पारिभाषिक नाम है—'वैकृत'।

(ख) **राजस**—जिसमे रजोगुण की प्रधानता होती है। इसका पारिभाषिक नाम है—'तैजस'।

(ग) **तामस**—जिसमे तमोगुण की प्रधानता होती है। इसकी पारिभाषिकी संज्ञा है—'भूतादि'।

इन्द्रियां—अब इनके विकास पर ध्यान दीजिये। ईश्वरकृष्ण और वाचस्पति मिश्र के अनुसार राजस अहकार से सृष्टि नही होती, प्रत्युत वह

अन्य दोनों प्रकार के अहंकार से परिणाम उत्पन्न होने में सहायक ही होता है। राजस होने से वह क्रियाशील जो ठहरा। सात्त्विक अहकार के परिणाम है—मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय अर्थात् ग्यारह इन्द्रियां। ज्ञान की साधक इन्द्रिया पांच है—नेत्र, श्रवण, घ्राण, रसना (जीभ) तथा त्वक् (चमड़ा)। कर्मेन्द्रियां भी पांच होती है, जो मुख, हाथ, पैर, मलद्वार तथा जननेन्द्रिय मे निवास करती है।

मन—मन भी इन्द्रिय है, परन्तु उसका इन्द्रियत्व दोनों प्रकार का है। यह कर्मेन्द्रिय भी है और ज्ञानेन्द्रिय भी है। मन का अपना रूप है—'संकल्पात्मक'। 'सकल्प' का अर्थ है—सम्, सम्यक् (ठीक-ठीक) कल्प—कल्पना करना। इन्द्रिया अपने विशिष्ट विषयो को ग्रहणकर मन के सामने लाकर प्रस्तुत करती है। मन उस ज्ञान को सकल्पात्मक बनाता है, अर्थात् वह बतलाता है कि कोई सामान्य वस्तु सामान्य न होकर विशिष्ट होती है। मन ही बतलाता है कि सामने हिलने-डुलनेवाली, चलने-फिरनेवाली, सास्ना-वाली उजली चीज घोड़ा न होकर गाय है। मन उस वस्तु को जब प्रस्तुत करता है, तब अहकार उसके ऊपर अपना व्यापार करता है 'यह गाय मेरी है'। इसके बाद बुद्धि का निश्चय रूप व्यापार होता है और तब पुरुष को निश्चित ज्ञान होता है कि यह अमुक वस्तु है। मन, अहंकार और बुद्धि—इन तीनो का नाम है—'अन्तःकरण' (ज्ञान के भीतरी साधन)। दसो इन्द्रिया है ज्ञान के बाहरी साधन। इस प्रकार वे है 'बाह्यकरण'। दोनों को मिलाकर 'करण' तेरह प्रकार के होते है। यह तो हुई इन्द्रियों की सृष्टि, जो सात्त्विक अहकार से प्रवृत्त होती है।

तन्मात्र तथा महाभूत—तामस अहंकार का परिणाम है—'तन्मात्र'। तन्मात्र का अर्थ है सूक्ष्म तत्त्व। तन्मात्र बहुत ही सूक्ष्म होते है। योगी लोगो को ही उनका प्रत्यक्ष होता है, साधारण जनो को नहीं। ये पांच प्रकार के होते है—शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र तथा गन्ध तन्मात्र। इन्ही तन्मात्रो का अधिक विकास होने पर भूत या महाभूत का उदय होता है—

१. शब्द तन्मात्र से अकाश का उदय।

२. शब्द तन्मात्र+स्पर्श तन्मात्र=वायु (शब्द तथा स्पर्श गुणो से

युक्त)

३. शब्द तन्मात्र + स्पर्श तन्मात्र + रूप तन्मात्र = तेज (शब्द, स्पर्श तथा रूप से युक्त),

४ शब्द तन्मात्र + स्पर्श तन्मात्र + रूप तन्मात्र + रस तन्मात्र = जल (शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस से युक्त)

५. शब्द तन्मात्र + स्पर्श तन्मात्र + रूप तन्मात्र + रस तन्मात्र + गन्ध तन्मात्र = पृथ्वी (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध से विशिष्ट)।

इन पंच महाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—ये पाच विषय क्रमशः होते है, पर साथ-ही-साथ पूर्व भूतों के गुण भी इनमें समाविष्ट होते है।

साधन-मार्ग

सांख्यदर्शन मे विवेक-ज्ञान की दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए बड़ी उपादेयता है। 'विवेक' का अर्थ है दो वस्तुओं में अलग-अलग होने का ज्ञान। ये दो वस्तुएं कौन-सी है, जिनके विवेक-ज्ञान की साधक को बड़ी आवश्यकता बनी रहती है। इनमे से एक है प्रकृति और दूसरा है पुरुष। ये दोनो वास्तव में भिन्न-भिन्न है, परन्तु संसार-दशा मे दोनो घुले-मिले से है। पुरुष शुद्ध चैतन्य रूप, निर्गुण तथा निष्क्रिय, साक्षी और असंग है, परन्तु ससार-दशा मे वह अपनेको प्रकृति से तथा उससे उत्पन्न द्रव्यों से एकाकार स्थापित कर व्यवहार करता है। 'मै सुखी हू', 'मै दुःखी हू', 'मै मोटा हू', 'मै दुबला हूं'—यहां सुखी या दुःखी होना, मोटा या दुबला होना पुरुष के साथ सम्बद्ध न होकर प्राकृतिक धर्म है। मोटा और दुबला होना देह का धर्म है, देही का नही। सुख तथा दुःख मन की अनुभूति है, पुरुष की नही। परन्तु व्यवहार में यह उलटी अनुभूति हुआ करती है। क्यों? इसका कारण क्या है कि पुरुष अपनेको दुःखी या सुखी समझता है और अपने-आपको मोटा या दुबला मानता है। यह सब अज्ञान का विजृम्भण नही है, तो क्या है? अज्ञान के ही कारण पुरुष अपनेको बुद्धि या मन से अलग नहीं समझता और वह इनके समग्र धर्मों को अपने ऊपर आरोपित करता रहता है। इस प्रकार सब दुःखों का मूल कारण है यही 'अविवेक'—पुरुष का प्रकृति से अपार्थक्य (अलग न होने

का भाव)।

सच पूछिये तो बुद्धि ही सुख-दु:ख को भोगती है, परन्तु पुरुष उसकी सन्निधि में रहने पर अपने को सुखो का तथा दु:खो का भोक्ता मानता है। पुरुष समझता है कि मै ही दु:खो को भोग रहा हू अथवा सुखो को भोग रहा हू। यह आरोपित अनुभूति है। दूसरे की अनुभूति पुरुष अपने ऊपर ले लेता है और दु:ख का यही वास्तव कारण है। लौकिक दृष्टान्त से पुरुष की यह स्थिति समझ मे आ सकती है। किसी सेठजी का कोई नौकर था। वह था बडा चचल और धूर्त। किसी मेले पर वह सेठजी के साथ तमाशा देखने के लिए गया। किसी तमाशबीन से वह उलझ पडा और पुलिस ने उसे पकड़कर हिरासत मे डाल दिया। फलत नौकर का ही यह अपमान था, परन्तु सेठजी ने इसे अपना ही अपमान समझा और पुलिस के इस दुर्व्यवहार पर वह क्रुद्ध होकर अधिकारियों के पास शिकायत करने गये। यह तो हुआ अपमान का दृष्टान्त सत्कार का भी उदाहरण दिया जा सकता है। देवदत्त का पुत्र परीक्षा मे प्रथम श्रेणी मे प्रथम पास होता है और वह सुवर्ण पदक पाता है। पुत्र की प्रसन्नता का कारण समझ मे आता है, परन्तु पुत्र के इस सत्कार से पिता देवदत्त अपनेको सत्कृत मानता है और वह आनन्द से विभोर हो जाता है। ठीक यही दशा है प्रकृति-पुरुष के परस्पर-सम्बन्ध की। प्रकृति के सुख से पुरुष अपनेको सुखी मानता है। प्रकृति के दु:ख से यह अपनेको दु:खी मानता है। यही है ससार का प्रपच। यही है दु:ख का कारण। इसी आरोप से पुरुष अपनेको दु:खी मानता है। इस आरोप का जब अन्त हो जाता है तभी दु खों का अन्त हो जाता है। इसीका शास्त्रीय नाम है—'विवेक-ख्याति' (विवेक ज्ञान-प्रकृति से पुरुष को अलग समझना) सांख्य-दर्शन के अनुसार 'बन्ध' तथा 'मोक्ष' की यह सक्षिप्त विचारणा है।

मोक्ष क्या है ?—अब इस विषय को विस्तार से समझाया जाता है। प्रश्न यह है कि मनुष्य कृतकृत्य कब होता है ? अर्थात् मोक्ष कब होता है ? उत्तर है, सूत्रकार कपिल के शब्दो मे—**अत्यन्त दु:खनिवृत्या कृतकृत्यता** (सांख्य सूत्र ६।५), अर्थात् दु:खो के अत्यन्त निवृत्त हो जाने पर ही मोक्ष होता है। इस सूत्र में 'अत्यन्त' शब्द बड़े महत्त्व का है। 'अत्यन्त' का अर्थ

है (अति + अन्त) बिल्कुल अन्त हो जाना या दूर हो जाना। दुःख एक बार निवृत्त होकर फिर लौट भी आ सकता है। परन्तु दुःखो का हमेशा के लिए दूर हट जाना ही मनुष्य को कृतकृत्य बनाता है।

प्रश्न उठता है कि मनुष्य दुःखो की ही निवृत्ति क्यो चाहता है? वह सुख की अभिलाषा क्यों नही रखता? कारण यह है कि दुःखों से जितना क्लेश मनुष्य को होता है, उतनी सुख मे अभिलाषा की प्राप्ति नही होती। ससार का सुख क्या सच्चा, अमिश्रित, विशुद्ध सुख माना जा सकता है? नही, कदापि नही। इसलिए तो ससार मे कोई भी सुखी नही होता। यही कारण है कि सुखो की चाह मनुष्यो मे उतनी नही होती, जितनी होती है दुःखो की निवृत्ति की इच्छा। इसीलिए सांख्य का मन्तव्य है कि दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही मोक्ष है। हा, कही-कही सुख अवश्य दीख पडता है, परन्तु वह भी दुःखो से अमिश्रित नही रहता। इसलिए विवेचक उस सुख को दुःख की कोटि मे ही गिनते है और उसे छोडने का ही उपदेश देते है—

न कुत्रापि कोऽपि सुखी। तदपि दुःख शबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचका. —सांख्य-सूत्र ६।७, ८

विवेक-ज्ञान—इस मोक्ष की प्राप्ति का मुख्य साधन है—विवेक-ज्ञान अर्थात् पुरुष तथा प्रकृति के पृथक् होने का ज्ञान। इस विषय मे कपिल ने अपने सांख्यदर्शन मे एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है—**पितापुत्रवद् उभयोर्दृष्टत्वात्** (६।६)। विवेक के द्वारा प्रकृति और पुरुष दोनों ही दीखते है, पिता पुत्र के समान। कोई मनुष्य अपनी गर्भिणी स्त्री को छोडकर परदेश गया था। जब वह लौटकर आया तो देखता क्या है कि पुत्र उत्पन्न होकर पूरा जवान हो गया है। परन्तु न तो पिता पुत्र को जानता है और न पुत्र ही पिता को जानता है कि यह मेरा पिता है। तब उस स्त्री ने दोनो को प्रबोध कराया कि यह तुम्हारा पिता है और तुम इसके पुत्र हो। इसी प्रकार विवेक भी प्रकृति और पुरुष दोनो को जाननेवाला होता है।

इसके लिए तत्त्वो का उपदेश आवश्यक है। तत्त्व कितने है और इनमे परस्पर सम्बन्ध, साम्य तथा वैषम्य क्या है? तत्त्वों के उपदेश से विवेक-ज्ञान का उदय होता है, जिस प्रकार शबरों के द्वारा पाला गया राजकुमार किसी आप्तव्यक्ति के उपदेश से समझ लेता है कि वह शबर नही

है, प्रत्युत राजकुमार ही है। इसी प्रकार गुरु के द्वारा उपदेश दिये जाने पर मनुष्य को विवेक-ज्ञान होता है, जिससे आगे चलकर दुःखो से अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है, अर्थात् उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जीवन्मुक्ति—यही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। इस दशा मे आत्म-ज्ञान की प्राप्ति साधक को हो जाती है। आत्मज्ञान से कैवल्य-प्राप्ति तो हो जाती है, परन्तु शरीर निवृत्त नहीं होना। कैसे ? कुम्भकार के चक्के के समान। कुम्भकार घडा बनाने के लिए चक्के पर मिट्टी का लौंदा रखता है। कुम्भकार का व्यापार समाप्त होने पर भी चक्का पूर्व वेग के कारण चलता ही जाता है, रुक नही जाता। यही दशा होती है जीवन्मुक्त आत्म-ज्ञानी की भी। वह जन्मान्तर के सस्कारों के कारण शरीर धारण करता ही है, परन्तु उसके धर्म और ज्ञान अग्नि से भूजे गए बीज के समान शक्तिहीन होते है। अग्निदग्ध बीज कभी जमता नही। उसी प्रकार जीवन्मुक्त के धर्म और ज्ञानादिकों की अवस्था होती है—शक्तिहीन, निर्वीर्य तथा क्षमतारहित। ईश्वरकृष्ण ने जीवन्मुक्त की दशा का यह सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है—

सम्यग् ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारण प्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः॥

—साख्यकारिका, कारिका ६७

विदेहमुक्ति—शरीर-भेद प्राप्त होने पर अर्थात् विदेह-दशा में प्रकृति चरितार्थ होकर सर्वथा निवृत्त हो जाती है। तब पुरुष ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक उभय कैवल्य को प्राप्त करता है। यहा कैवल्य के लिए दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है। आत्म-ज्ञान होने पर कैवल्य अवश्यं-भावी होता है। इसलिए वह 'ऐकान्तिक' है। प्रकृति पुरुष के पुनः संयोग होने पर भी प्रयोजन न रहने के कारण सर्ग उत्पन्न नहीं होता। ऐसी दशा मे कैवल्य 'आत्यन्तिक' कहा गया है। विदेहमुक्ति का यही सुन्दर रूप है—आत्यन्तिक और ऐकान्तिक कैवल्य की उपलब्धि। इस प्रकार सांख्य-दर्शन दोनो प्रकार की मुक्ति स्वीकार करता है—जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति।

: ४ :

योग

योग हिन्दू-जाति की सबसे श्रेष्ठ आध्यात्मिक निधि है। सब दर्शनों का यह अभिमत मन्तव्य है कि योग की प्रक्रिया मोक्ष का मुख्य साधन है। इसलिए इसके विषय मे वाद-विवाद के लिए स्थान नही है। हमारे ऋषि-मुनियों के प्रातिभ ज्ञान के उदय में योग ही सर्वाधिक उपयोगी हेतु माना जाता है। इसीलिए धर्म-प्रचारकों ने तथा दार्शनिकों ने इसके महत्त्व को शतशः स्वीकृत किया है। हिन्दूधर्म से भिन्न मतों के उन्नायकों को भी योग का ज्ञान था, तथा उन्हे योगजन्य कई सिद्धिया प्राप्त थी, परन्तु भारतवर्ष मे योग का सिद्धान्त और व्यवहार की उभय दृष्टियों के द्वारा जो वैज्ञानिक अध्ययन किया गया, वह अन्यत्र नितान्त दुर्लभ है। योग एक विज्ञान है और विज्ञान के समान ही इसके तथ्यो की प्रयोग के द्वारा सत्यता निर्धारित की गई है। योग के भी अनेक भेद है। हठयोग का वर्णन तान्त्रिक ग्रन्थों मे विशेष किया गया है। योग को दर्शन का रूप देनेवाले महर्षि पतञ्जलि का योगमार्ग 'राजयोग' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी योग के मुख्य सिद्धान्तो का संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जाता है।

साहित्य

योग का वर्णन तो वैदिक सहिताओ मे ही सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। उपनिषदो मे भी योग की प्रक्रिया का वर्णन यत्र-तत्र मिलता है, परन्तु कुछ उपनिषदो में तो योग का लक्षण, उसके अंग-प्रत्यंग तथा उसकी प्रक्रिया का विवरण समग्ररूप से उपलब्ध होता है। इनके नाम ये है—अद्वय तारक, अमृतनाद, अमृत बिन्दु, नाद बिन्दु आदि। इस प्रकार के योग प्रतिपादक उपनिषदों की सख्या इक्कीस है, जिनके अध्ययन से योग के समस्त अंग,

आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि का पूर्ण विवरण ही नही मिलता, प्रत्युत पिछले युग में योग के विकास का भी पूरा सकेत मिल जाता है। योग का विषय है प्राण-विद्या का विवरण और इस विद्या की महनीयता का प्रतिपादन आरण्यक तथा उपनिषद् मे ही नही, प्रत्युत संहिता के मन्त्रों में भी यह सूक्ष्मरूप मे तथा अतरग दृष्टि से पाया जाता है, परन्तु यह विवरण दर्शन नही कहा जा सकता।

तथ्य यह है कि वर्तमान समय मे 'योग दर्शन' का आरम्भ महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्रो से होता है। ये ही पातञ्जल महाभाष्य के भी रचयिता माने जाते है। इनका समय है विक्रमपूर्व द्वितीय शती। योगसूत्र मे चार पाद है—समाधि पाद, साधन पाद, विभूति पाद तथा कैवल्य पाद। पतञ्जलि अपने ग्रन्थ को 'योगानुशासन' के नाम से अभिहित करते हे। इस 'अनुशासन' से क्या तात्पर्य है? याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार हिरण्यगर्भ योग के वक्ता है, पतञ्जलि ने तो प्राचीनकाल मे प्रतिपादित शास्त्र का उपदेशमात्र किया। योगसूत्र के समाधि पाद मे योग का लक्षण; चित्त की वृत्तिया, समाधि का भेद आदि विषयो का वर्णन है। साधन पाद में क्रियायोग, क्लेश तथा उसके भेद, क्लेशो को दूर करने के साधन, योग के यम, नियम आदि आठ अगो का विशद विवरण किया गया है। विभूति पाद मे समाधि तथा योग के अनुष्ठान से उत्पन्न होनेवाली सिद्धियों का प्रतिपादन है। अन्तिम कैवल्य-पाद मे निर्माण चित्त का वर्णन, विज्ञानवाद का निराकरण तथा कैवल्य का निर्णय किया गया है। इस प्रकार एकसौ पिच्चानवें सूत्रों के स्वल्प परिमाण के भीतर योगशास्त्र के सिद्धान्त तथा व्यवहार का सक्षिप्त, परन्तु प्रामाणिक विवरण पतञ्जलि ने दिया है। योगसूत्रों के ऊपर 'व्यासभाष्य' अत्यन्त प्रामाणिक भाष्य है, जिसके गूढ अर्थ को सरल रीति से समझाने के लिए वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्व वैशारदी' तथा विज्ञानभिक्षु ने 'योग वार्तिक' की रचना की। योग-दर्शन के मर्म समझने के लिए ये तीनों ग्रन्थ नितान्त उपयोगी और उपादेय है। कालान्तर मे योग-सूत्रों के ऊपर छोटी-मोटी अनेक व्याख्याए निर्मित हुई, जिनमे भोज (११शती) रचित 'भोजवृत्ति' (वास्तव नाम 'राज मार्तण्ड') अपने सुबोध व्याख्यान के कारण बहुत ही लोकप्रिय बनी हुई है। इसके अतिरिक्त भावागणेश (१७ शत

की वृत्ति, रामानन्द यति की 'मणिप्रभा', अनन्त पण्डित की 'योगचन्द्रिका', सदाशिवेन्द्र सरस्वती का 'योग-रत्नाकर' तथा नागेश भट्ट (१८ शती) की दो वृत्तिया (लघ्वी और बृहती) भी प्रकाशित है, परन्तु पठन पाठन मे भोजवृत्ति के समान प्रचलित नही है।

योग का लक्षण

योग का लक्षण पतञ्जलि ने अपने एक प्रख्यात सूत्र मे इस प्रकार दिया है—**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**, चित्त की वृत्तियों के निरोध (रोकने) को 'योग' कहते है। चित्त मे वृत्तियो का उदय सर्वदा होता रहता है, जिसके कारण वह चचल बना रहता है और किसी विषय पर वह जमकर नही टिकता। इन वृत्तियो को जब रोक दिया जाता है, योग के द्वारा निर्दिष्ट उपायो के द्वारा, तब यह 'योग' कहलाता है। वृत्तियो के लिए सूत्रकार ने किसी संख्या का निर्देश नही किया है कि एक वृत्ति का या सब वृत्तियों का निरोध अभीप्सित है। इसके उत्तर मे योग के आचार्यो का कथन है कि क्लेश, कर्म तथा वासना का समूलनाशक जो वृत्ति-निरोध है, उसे ही योग कहते है। अविद्या आदि क्लेश, पुण्य और पाप-रूपी कर्म तथा शुभ-अशुभ-वासना— ये ही पुरुषो के लिए बन्धन करनेवाली है। इन्हीके नाश के लिए पुरुष योग मे प्रवृत्त होता है। इन सबका नाश दोनों प्रकार के योगों—सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात—मे होता है। इसलिए इन दोनो ही दशा मे योगपद वाच्य है।

इतने से ही योग का स्वरूप निष्पन्न नही होता। सुषुप्ति की दशा पर विचार कीजिये। इसमे भी तो वृत्तियों का निरोध होता है, परन्तु सुषुप्ति को योग कोई भी नही कहता। इसका क्या कारण है? पतञ्जलि ने अगले सूत्र मे इसका कारण प्रकट किया है—**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**, अर्थात् उस समय द्रष्टा—पुरुष—अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित होता है। द्रष्टा का अपना स्वरूप है, निर्लेप और अमग तथा चैतन्य। जिस वृत्ति-निरोध के द्वारा यह स्थिति उत्पन्न होगी, वही योगपद वाच्य माना जायगा। वृत्तियो का निरोध आत्यन्तिक होना चाहिए, अर्थात् निरोध के बाद फिर वृत्तियों का उदय नही होना चाहिए। परन्तु सुषुप्ति में क्या ऐसा होता है?

बिल्कुल नही। सुषुप्ति से उठने पर सब वृत्तिया पहले के समान जागरित हो जाती है। सुषुप्ति में वृत्तियो का निरोध कुछ काल के ही लिए होता है, सर्वदा के लिए नही। इसीलिए सुषुप्ति को योग नही कहा जाता। एक बात और ध्यान देने की है कि वृत्ति-निरोध प्रज्ञा या ज्ञानमूलक होना चाहिए (उपाय प्रत्यय)। प्रज्ञा के उदय होने पर ही जो वृत्ति-निरोध होता है, वही वस्तुत योग है। सुषुप्ति मे यह निरोध ज्ञान के द्वारा नही होता। यदि ऐसा होता ता पुन जागरण में वृत्तियों का उदय नही होता। परन्तु ऐसा कभी नही होता। इसलिए पतञ्जलि के मत मे योग का परिनिष्ठित लक्षण 'योगश्चित्तवृत्ति-निरोध' के साथ-साथ **'तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम्'** को जोड देने पर ही निष्पन्न होता है।

चित्त और उसकी भूमियां

चित्त से अभिप्राय अन्त.करण—भीतरी इन्द्रिय—से है अर्थात् मन, बुद्धि और अहकार इन तीनों को 'चित्त' नाम से पुकारा जाता है। चित्त मे नाना वृत्तिया उत्पन्न हुआ करती है। चित्त कभी वृत्तियों से रहित नही होता। भगवद्गीता के पढते समय हमारे चित्त में ज्ञान और भक्ति की बाते आती है। किसी उपन्यास को पढने पर चित्त मे अनेक वासनाएं, कामजनित इच्छाए उत्पन्न होती है। किसी दुष्ट के चरित्र पर विचार करने पर चित्त में अनेक दुर्भावनाए उत्पन्न होती है। ये अनेक प्रकार की वस्तुओं का उदय चित्त की वृत्तियां कहलाती है। यह चित्त प्रकृति का सत्त्व-प्रधान परिणाम है अर्थात् प्रकृति के परिणामों में सबसे अधिक सत्त्व का उदय चित्त में होता है, तथापि त्रिगुणात्मक होने के कारण चित्त मे सत्त्व, रज तथा तम की अधिकता और न्यूनता समय-समय पर बनी रहती है। इस कारण चित्त तीन प्रकार का होना है—१. प्रख्याशील, २. प्रवृत्ति-शील, ३. स्थितिशील।

१. प्रख्याशील—प्रख्या का अर्थ है ज्ञान। जब चित्त सात्त्विक होता है, तब उसमें तत्त्वज्ञान, प्रसन्नता, अभिरुचि, उत्साह, दया, क्षमा धैर्य आदि सात्त्विक गुणों का उदय होता है।

२. प्रवृत्तिशील—रजोगुण की प्रबलता होने पर चित्त में कर्मों के करने

मे उद्योगशीलता दीख पडती है। वह परिताप, शोक, लाभ, ईर्ष्या आदि गुणो (राजस) मे युक्त होता है। तब वह 'प्रवृत्तिशील' कहा जाता है।

३. **स्थितिशील**—यह तामस चित्त की दशा है। जब वह स्थिति (अर्थात् प्रवृत्ति का विरोधी स्तब्धी भाव), विह्वलता, आवरण, गारव (भारीपन), आलस्य, दैन्य, निद्रा आदि तामस धर्मों को ग्रहण करता है।

सत्त्व, रज तथा तम के न्यूनाधिक भाव मे रहने पर चित्त की पांच भूमिया होती है। इनके नाम है--१. क्षिप्त, २. मूढ, ३. विक्षिप्त, ४. एकाग्र, ५. निरुद्ध।

१. **क्षिप्त**—'क्षिप्त' का अर्थ फेका गया, अर्थात् विषयों मे फेका गया चित्त। चित्त मे जब सत्त्व गुण की कमी होती है और रजोगुण तथा तमोगुण समान रूप से विद्यमान रहते है तब चित्त रूप, रस, गन्ध आदि विषयों मे लगता है और अणिमा, लघिमा आदि ऐश्वयो को प्रिय मानकर उन्हीमे आसक्त होता है। यही है चित्त की क्षिप्त भूमि।

२. **मूढ**—जब सत्त्व तथा रजोगुणों को दबाकर तमोगुण की प्रबलता होती है, तब चित्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य (सर्वत्र इच्छा का प्रतिघात) की ओर आसक्त होकर उन्हीमे लग जाता है। यह चित्त की मूढ दशा है। 'मूढ' का अर्थ है मोहयुक्त।

३. **विक्षिप्त**—इस दशा में सत्त्व की अधिकता होती है। इस दशा मे चित्त दुःखों के साधनो को छोडकर प्रकृति, बुद्धि आदि सूक्ष्म तत्त्वों की विवेचना मे निपुण होता है और रजोगुण मे लेशतः सम्मिलित होने के कारण चित्त धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि की ओर भी उन्मुख होता है। विक्षिप्त का अर्थ है 'क्षिप्त से विशिष्ट'। यह विशिष्टता क्या है? क्षिप्त भूमि मे चित्त कभी भी समाहित नही हो सकता, क्योकि वह सर्वदा चचल बना रहता है। परन्तु विक्षिप्त दशा मे वह कभी-कभी समाहित हो जाता है, सत्त्व के आधिक्य के कारण। दोनों दशाओं का यही अन्तर है।

४. **एकाग्र**—'एकाग्र' का शाब्दिक अर्थ है वह चित्त, जिसका अग्रभाग एक ही ओर लगा हुआ है। यदि चित्त कभी फूल को, कभी फुटबाल को, कभी आम को और कभी वृक्ष को सोचता है, तब उसका अग्रभाग एक ओर न होकर अनेक ओर है। जब वह सतत एक ही ध्येय की ओर लगा रहता

है तब वह 'एकाग्र' कहलाता है।

५. **निरुद्ध**—'निरुद्ध' का अर्थ है रोका गया चित्त, अर्थात् जो अपनी वृत्तियों से हटाकर पृथक् कर दिया गया हो। एकाग्र भूमि मे अन्य वृत्तियों के हटाने से चित्त मे एक ही ध्येय की वृत्ति रहती है, परन्तु निरुद्ध भूमि में वह वृत्ति भी तथा सस्कार भी लय कर दिये जाते है। इसलिए एकाग्र और निरुद्ध इन दो ही भूमियो मे समाधि हो सकती है, आरम्भ की तीन भूमियों मे नही।

क्रियायोग

पतञ्जलि ने 'क्रियायोग' के द्वारा योग के तीन साधनो का निर्देश किया है (योगसूत्र २।१)। ये तीन साधन है—तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान। तप से अभिप्राय चान्द्रायण आदि व्रतो के अनुष्ठान से है, जिससे साधक के मानस तथा शारीरिक मल सन्तप्त होकर नष्ट हो जाते है। तप अग्नि-रूप है और इसलिए तप का काम है जलाना, जो मलों—दैहिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के मलों को जलाकर भस्म कर देता है। तप की महिमा का वर्णन पुराणादि ग्रन्थो मे भी विशेष बतलाया गया है। 'स्वाध्याय' का अर्थ है मोक्ष-शास्त्र का अध्ययन, चिन्तन अथवा मन्त्र का जप। मन्त्र भी मुख्यतः दो प्रकार के होते है—वैदिक और तान्त्रिक। समग्र वेद ही मन्त्रात्मक है, इनके भी स्वाभीष्ट देवता से सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्रो का जपना साधक का मुख्य कर्तव्य होता है। तन्त्र-शास्त्र में भी मन्त्रों के अनेक प्रकार बतलाये गए है। किसी योग्य गुरु की शिक्षा से मन्त्रो का जप करना लाभदायक होता है। गीता के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ने 'जप-यज्ञ' को वैदिक यज्ञों मे अपनी विभूति बतलाकर उसकी महत्ता का स्पष्ट प्रतिपादन किया है **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** वाक्य के द्वारा। 'स्वाध्याय' के इस मुख्य अर्थ के अनन्तर व्यासभाष्य मे एक दूसरा अर्थ भी दिया गया है—मोक्ष-शास्त्र का अध्ययन। क्रियायोग का तृतीय प्रकार है—'ईश्वर-प्रणिधान'। **'प्रणिधान'** शब्द का अर्थ है—**प्रकर्षेण निधानं स्थापनं समर्पणम्,** अर्थात् सब क्रियाओं का ईश्वर के प्रति समर्पण करना। साधक जो कुछ व्यापार करता है, उसे वह ईश्वर को समर्पण कर दे। अथवा इस शब्द का एक दूसरा भी

तात्पर्य है—**कर्मफल संन्यास**', अर्थात् कर्मों के फलों का त्याग। फल की आकांक्षा से किये गए कर्म सर्वथा बन्धन-कारक होते है और इसलिए कर्मो के फल का त्याग बन्धन से हटाकर साधक को मुक्ति की ओर ले जाता है। गीता के **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** इस उपदेशामृत का यही स्वारस्य है।

इन्हे 'क्रियायोग' कहने का क्या तात्पर्य है ? यहा 'योग' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है, अर्थात् ये स्वय योग न होकर योग के साधन है। 'क्रिया-योग' का अर्थ है—**क्रियैव योगः योगसाधनम्** अर्थात तपःकर्म, स्वाध्याय-कर्म तथा प्रणिधान-कर्म ये तीनो कर्म ही योग (या योग साधन) हैं अर्थात इनके ज्ञान से लाभ नही होता, प्रत्युत क्रिया से, करने से ही योग की सिद्धि मे साधक को सहायता मिलती है। क्रियायोग से दो लाभ पतञ्जलि ने बताये है—१. समाधि की भावना तथा २. क्लेशो का तनूकरण (क्लेशों को पतला या दुर्बल बनाना)—**समाधिभावनार्थः क्लेश तनूकरणार्थश्च** (योगसूत्र २।२)। 'भावना'का अर्थ है अनुचिन्तन। इनके बारम्बार चिन्तन करने से साधन का चित्त समाधि की ओर लगता है। क्रियायोग क्लेशो को दुर्बलमात्र बना डालता है, उन्हे दग्धबीज की दशा प्राप्त कराना विवेक-ज्ञान का काम है। ज्ञान तो अग्नि ठहरा और इसलिए उसके लिए क्लेशो का जलाकर उन्हे ऐसी स्थिति मे पहुचा देना, जिससे उनमे अकुर उत्पन्न न हो स्वाभाविक ही है। क्रियायोग मे क्लेशो का तनूकरण होता है। तब क्लेश क्या है ?

क्लेश-विचार

पुरुष को पीड़ा पहुचानेवाली वस्तुए ही 'क्लेश' नाम से अभिहित की जाती है। योग-शास्त्र मे ये पाच प्रकार के माने जाते है—१. अविद्या, २. अस्मिता, ३ राग, ४. द्वेष तथा ५. अभिनिवेश। ये परस्पर मिलकर कर्म के फलो का निष्पादन करते है।

१ **अविद्या**—'अविद्या' का सामान्य लक्षण है—**अतस्मिन् तद् बुद्धिः** अर्थात् जो वस्तु जैसी नही है, उसमे उसकी भावना करना या जानना। पतञ्जलि ने एक सूत्र मे इसका विशेषस्वरूप भी बताया है—**अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या** (योगसूत्र २।५)। अनित्य कार्य

को नित्य मानना जैसे पृथ्वी, आकाश आदि कार्य होने से वस्तुतः अनित्य ही है, परन्तु इन्हें नित्य मानना अविद्या का प्रथम रूप है। अपवित्र शरीर को पवित्र मानना, दुःख को सुख जानना तथा आत्मभिन्न शरीर, मन तथा इन्द्रियों को आत्मा समझना अविद्या के अन्य रूप है। सच तो यह है कि अविद्या ही मुख्य क्लेश है, क्योंकि अन्य चारो क्लेशो की यही जननी है। जबतक ज्ञान या विद्या के द्वारा अविद्या का मूल से उच्छेद नही होता, तबतक पुरुष क्लेशों के द्वारा सन्तत प्रताडित तथा सन्तापित किया जाता है।

२. **अस्मिता**—पुरुष बुद्धि से वस्तुतः भिन्न है, पृथक् है। परन्तु पुरुष तथा बुद्धि को एकाकार मानना, वस्तुत पृथक् होने पर भी एक रूप के समान जानना 'अस्मिता' कहलाता है। इसीके कारण असग पुरुषों को भी भोग उत्पन्न होता।

३ **राग**—साधारण अर्थ है तृष्णा या लोभ। यह लोभ होता है कब और कहां? जब सुख का पूर्व-अनुभव करनेवाला व्यक्ति सुख के साधन उपस्थित होने पर अनुभूत सुख का स्मरण कर उनमे लोभ करता है या पाने की अभिलाषा करता है—यही है राग। **सुखानुशयी रागः** (योग-सत्र २।७)

४. **द्वेष**—राग से ठीक प्रतिकूल क्लेश है द्वेष। दु.ख का अनुभव करने-वाला व्यक्ति जब द ख या उसके साधन उपस्थित होने पर पूर्व-दु ख की स्मृति करता हुआ उससे क्रोध करता है, यही कहलाता है—**दुःखानुशयी द्वेषः** (योगसूत्र २।८)

५. **अभिनिवेश**—इसका सीधा अर्थ है मृत्यु से डरना। छोटे-छोटे कीडों से लेकर बडे-बडे विद्वानो तक के हृदय मे यह नित्य इच्छा रहती है कि मैं मरू नही, आगे भी जीता रहूं। मृत्यु की कल्पना से ही हम कांप उठते है, भय के मारे शरीर के रोगटे खडे हो जाते है जब हम सोचते है कि इस विशाल वभव, सुख तथा ऐश्वर्य को हमे छोड देना है और मृत्यु सब किसीको ध्वस्त कर देगी। पतञ्जलि ने 'अभिनिवेश' के लिए 'स्वरसवाही' विशेषण दिया है, इसके लक्षण में—**स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढ़ोऽभिनिवेशः** (योग-सूत्र २।९)। वाचस्पति मिश्र की व्याख्या के अनुसार इसका तात्पर्य यह

है कि अभिनिवेश स्वभाव से, वासनारूप से, वहनेवाला होता है, वह कोई आगन्तुक नही होता, जो समय पाकर उत्पन्न हो और कभी गायब हो जाय (**स्वभावेन वासनारूपेण वहनशीलो न पुनरागन्तुक**)। मरण का त्रास पूर्व-जन्म का पक्का प्रमाण है। यदि मरण के दु ख को पुरुष ने कभी जाना ही नही, तो उससे भय क्यो ? डर ही किस बात का ?

इन पाचों क्लेशो को विना दुर्बल और दग्ध बनाये साधक को योग की सिद्धि कथमपि प्राप्त नही होती।

चित्त के निरोध के साधनों का अब प्रसंगानुसार वर्णन किया जाता है।

वैराग्य--अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा निरोध होता है। योग कोई खेल नही है कि यह विना परिश्रम सिद्ध हो जाय। इसके लिए वैराग्य की आवश्यकता होती है। जबतक साधक विषयो से विरक्त नही होता, वह आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर नही हो सकता। वैराग्य क्या है ? लौकिक तथा वैदिक विषयो से तृष्णा न रखनेवाले व्यक्ति का इन्हें वश में कर लेने का नाम 'वैराग्य' है। ससार मे कामिनी और काञ्चन पुरुष को सर्वदा अपने चगुल मे फसाये रहते है तथा वैदिक कर्म के फल जैसे स्वर्ग तथा अमृत पान आदि भी आकर्षण के विषय है। जब पुरुष इनमे तनिक भी तृष्णा नही रखता, इन्हे विरस समझता है, तब वह 'विरक्त' कहलाता है। इस प्रकार वैराग्य से युक्त होने पर अभ्यास के द्वारा योग सम्पन्न किया जाता है।

योगांग

मनुष्य तबतक आध्यात्मिक सत्यों का अनुभव नही कर सकता जब-तक उसका चित्त कलुषित है और उसकी बुद्धि दूषित विचारों से युक्त है। शुद्ध हृदय तथा तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा ही आत्मा की सत्यता का अनुभव होता है। योग दर्शन इस बात को स्वीकार करता है कि मोक्ष की प्राप्ति आत्मा की सत्यता के ज्ञान से ही हो सकती है। परन्तु यह ज्ञान अथवा प्रज्ञा तभी हो सकती है जबकि मन से सब दूषित विचार नष्ट हो जाय तथा मन पूर्ण शान्त और गम्भीर बना रहे। चित्त अथवा मन की इसी शुद्धता तथा आत्म-प्रकाश की प्राप्ति के लिए योग ने आठ प्रकार के साधनो का निर्देश किया है, जिन्हें योगांग कहते हैं। ये अष्टविध साधन निम्नाकित

है, जिनका सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. समाधि।

इनमें से पहले पाच बहिरंग साधन है और शेष तीन अतरग साधन कहलाते है।

१. यम—यम का अर्थ सयम होता है। इसके अन्तर्गत (क) अहिसा—अर्थात् समस्त जीवो की किसी प्रकार की हिसा न करना, (ख) सत्य—अर्थात् मन और वचन से सत्य का पालन करना, (ग) अस्तेय—अर्थात् किसीकी कोई वस्तु न चुराना, (घ) ब्रह्मचर्य—अपने इन्द्रियो को वश मे रखकर भोगविलास न करना, और (च) अपरिग्रह—अनावश्यक वस्तुओ का सग्रह न करना आदि है। इन नियमो का पालन करना योग ने अत्यावश्यक बतलाया है। किसी वस्तु का सम्यक् ध्यान करने के लिए मन की शुद्धि आवश्यक है तथा मन की शुद्धि शरीर-शुद्धि पर अवलम्बित है। शरीर और मन तभी शुद्ध रहेंगे जब उपर्युक्त नियमों का पालन किया जाय। अतएव योगशास्त्र के अनुसार यम का पालन ध्यान के लिए अत्यावश्यक है।

२ नियम—सदाचरण रखने को ही नियम कहते है। निम्नाकित आचरणों का पालन करना ही नियम कहलाता है—(क) शौच—अर्थात् शारीरिक शुद्धि। यह स्नान करने तथा शुद्ध आहार करने से होती है। मानसिक शुद्धि भी इसीके अन्तर्गत है, जो मित्रता, दया, प्रसन्नता तथा प्रेम आदि सद्गुणों के कारण उत्पन्न होती है। (ख) सन्तोष—बिना विशेष आयास के जो कुछ मिल जाय, उसीसे सतुष्ट रहना। (ग) तप—सुख, दुःख, आतप, शीत आदि द्वन्द्वो के निराकरण और कठिन नियमो के पालन को तपस्या कहते है। (घ) स्वाध्याय—धार्मिक ग्रथो के अनवरत अध्ययन के अभ्यास को स्वाध्याय कहते है। (च) ईश्वर-प्रणिधान—भगवान् का ध्यान तथा ईश्वर के प्रति आत्मनिवेदन ही ईश्वर-प्रणिधान है।

३. आसन—शरीर के नियमन को ही आसन कहते है। इसके अन्तर्गत शरीर को सुख देनेवाले तथा ध्यान के लिए उचित आसन है। व्यायाम तथा ध्यान की आवश्यकता के अनुसार पद्मासन, वीरासन, भद्रासन तथा

शीर्षासन आदि अनेक आसन होते है। इन विभिन्न आसनो का ज्ञान एक कुशल गुरु की कृपा से ही हो सकता है। ध्यान के लिए शरीर की शुद्धि तथा नियमन भी उतना ही आवश्यक है जितना मन की। यदि शरीर नीरोग तथा स्वस्थ नही है तो ध्यान करना अत्यन्त दुष्कर होता है। इसलिए योगशास्त्र शरीर को स्वस्थ रखने के उपायो को बतलाता है, जिससे वह सम्यक् प्रकार से ध्यान करने मे समर्थ हो सके। योग मे शरीर को स्वस्थ तथा बलशाली बनाने के अनेक नियमो का वर्णन किया गया है। योगशास्त्र में जो विभिन्न आसन बतलाये गए है, उनके अभ्यास से शरीर तथा मन स्वस्थ रहता है और इन दोनो के स्वस्थ रहने से ध्यान करने मे बडी सुविधा मिलती है। पद्मासन आदि आसनों के अभ्यास से मन स्वतः ही ध्यान की ओर अग्रसर होता है। अतएव मन को एकाग्र रखने के लिए इन आसनो का करना अत्यन्त आवश्यक है।

४. **प्राणायाम**—श्वास के सयम तथा नियमन को प्राणायाम कहते है। श्वास का नियमन तीन प्रकार से होता है, जिसे पूरक, कुम्भक और रेचक कहते है। नासा के द्वारा श्वास को भीतर ले जाने की क्रिया को पूरक, भीतर लाये गए श्वास को फुस-फुस मे रोक रखने को कुम्भक और रोके गए श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकालने को रेचक कहते है। प्रात और साय सन्ध्या करनेवाले लोग इस क्रिया से भली-भाति परिचित है। इस क्रिया का अभ्यास किसी चतुर गुरु से सीखना चाहिए। श्वासों के नियमन की यह प्रक्रिया हृदय को स्वस्थ तथा फेफडो को मजबूत बनाती है। आधुनिक डाक्टर भी इस प्रक्रिया के उपयोग को स्वीकार करते है, क्योकि कमजोर हृदयवाले रोगियों को वे खुली हवा मे घूमकर श्वास लेने का आदेश देते है। परन्तु योगशास्त्री इससे भी आगे बढकर श्वास के सयम को चित्त की एकाग्रता का सहायक बतलाता है। जबतक श्वास लेने की प्रक्रिया जारी रहती है तब-तक मन एकाग्र नही रहता है। परन्तु ज्योंही श्वास का निरोध हो जाता है त्योंही मन पूर्णतया एकाग्र हो जाता है। इस प्रकार से श्वास के सयम का अभ्यास कर योगी चिरकाल तक श्वास-निरोध कर सकता है और इस प्रकार ध्यान की अवस्था को अधिक काल तक जारी रख सकता है।

५. **प्रत्याहार**—विभिन्न इन्द्रियों को उनके बाह्य विषयो से हटाकर

मन के द्वारा सयमित करने को प्रत्याहार कहते है। जब इन्द्रिया मन के वश में होती है तब वे अपने वाह्य व्यापार को छोडकर, मन के अनुसार ही कार्य करती है। परन्तु इस अवस्था को प्राप्त करना बडा कठिन है। यह तभी हो सकता है जब इन्द्रियो पर पूरा अधिकार हो जाय।

६ धारणा---धारणा उस मानसिक नियमन को कहते है, जिसमे चित्त किसी इष्ट वस्तु का ध्यान करता रहता है। यह ध्येय वस्तु या तो अन्तः-शरीर-सम्बन्धी जैसे नाभि या भौ होती है अथवा वाह्य शरीर-सम्बन्धी जैसे चन्द्रमा या मूर्ति आदि रहती है। किसी एक निश्चित वस्तु पर स्थिर रूप से ध्यान लगाने की योग्यता प्राप्त कर लेने पर ही मनुष्य योग की अन्य उच्चतर सीढियो पर चढने मे समर्थ हो सकता है।

७. ध्यान —ध्येय वस्तु के विषय मे विचार की बहती हुई सतत धारा को ही ध्यान कहते है। अथवा दूसरे शब्दों मे यो कह सकते है कि इष्ट वस्तु का सतत् चिन्तन ही ध्यान है। ध्यान में किसी वस्तु का चिन्तन अविराम तथा स्थिर रूप से होता है। ध्यान के द्वारा हम किसी वस्तु के स्वरूप की स्वच्छ तथा प्रकाशमान प्रतिमूर्ति को अशत ग्रहण करते है, परन्तु चिर-कालीन ध्यान के बाद इसी प्रति-मूर्ति का आभास पूर्णत. प्रस्फुटित होने लगता है। इसी प्रकार से ध्यान के द्वारा योगी ध्येय वस्तु के वस्तुत. स्वरूप को ठीक-ठीक पहचानने मे समर्थ हो जाता है।

८. समाधि—योगाभ्यास की अन्तिम सीढी समाधि है। इसमे चित्त ध्येय वस्तु मे इतना विलीन या मग्न हो जाता है कि यह अपनी ही सुध-बुध खो बैठता है। चित्त को स्वय अपना ही ज्ञान नही रहता। ध्यान की अवस्था मे ध्यान की प्रक्रिया या व्यापार और ध्येय वस्तु दोनों ही अलग-अलग रहते है और इनकी चैतन्यावस्था भी पृथक् रहती है, परन्तु समाधि मे ध्यान के व्यापार का पृथक् पता नही चलता, यह ध्येय वस्तु मे मिलकर मानो अपनेको विलीन कर देता है। इसलिए केवल ध्येय वस्तु ही शेष रह जाती है और हमे यह भी नही मालूम पड़ता कि ध्यान की प्रक्रिया जारी भी है या नही। यहापर यह ध्यान रखना चाहिए कि यह समाधि पूर्व-कथित समाधि या योग से, जिसका अर्थ चित्त-वृत्तियों का निरोध है, सर्वथा भिन्न है। पूर्व-कथित समाधि साधनमात्र है तथा यह समाधि साध्य है। पहली समाधि

दूसरी की सिद्ध में सहायक का कार्य करती है।

संयम—योगाभ्यास मे ये अन्तिम तीन सोपान अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरग साधन के नाम से प्रसिद्ध है। प्रथमतः किसी वस्तु की धारणा होती है, फिर ध्यान किया जाता है तथा अन्त में इसीमे समाधि होती है। इन तीनों के सम्मिश्रण को संयम कहते है, जो समाधि-योग की प्रप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

'सयम' का साधारण अर्थ है अपनी इन्द्रियों के ऊपर प्रभुत्व स्थापित करना, जितेन्द्रिय बनना। योगशास्त्र मे 'सयम' शब्द का विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ भी है।

सयम के जय का सद्यः फल होता है प्रज्ञा का आलोक—**तज्जयात् प्रज्ञालोकः** (योगसूत्र ३।५)। जब साधक किसी अन्य प्रत्यय के द्वारा अभिभूत न होकर ज्ञान के निर्मल प्रवाह में अवस्थित होता है, तब इसे प्रज्ञालोक के नाम से पुकारते हैं। इस शब्द की व्याख्या मे वाचस्पति मिश्र का महत्त्वपूर्ण कथन है—

प्रत्ययान्तरानभिभूतस्य निर्मलप्रवाहेऽवस्थापनम् आलोकः प्रज्ञायः।

इसका तात्पर्य है कि आदर्श संयमी पुरुष वही होता है, जो समाधि की ऊंची अवस्था पर प्रतिष्ठित हो, जो किसी एक विषय के चिन्तन में इतना आसक्त होता है कि उसके चित्त मे अन्य प्रकार का चिन्तन उत्पन्न ही नहीं होता और जो आलोक मे—ज्ञान के प्रकाश से—उद्भासित होता है। आदर्श संयमी का यह लक्ष्य है।

परानुभूति को स्वानुभूति के रूप मे परिवर्तन करना प्रत्येक साधक का कर्तव्य होना चाहिए। इसीलिए सयमी पुरुष परानभूति से सन्तोष नही करता, प्रत्युत उसे स्वानुभूति की नितान्त आवश्यकता बनी रहती है।

योगाभ्यास के कारण मनुष्य में अलौकिक शक्तियों का आविर्भाव होने लगता है। योगी अनेक दैवी शक्तियों से सम्पन्न समझा जाने लगता है। इस प्रकार से यह कहा जाता है कि योगी हिंस्र जीवों को भी पालतू बनाकर रख सकता है, स्वेच्छा के द्वारा किसी भी वस्तु को प्राप्त कर सकता है; भूत, भविष्य और वर्तमान की सब बातों को जानता है; वह अलौकिक दृष्टि, गन्ध तथा शब्द को पैदा करता है तथा भूत, प्रेत और देवता जैसे

सूक्ष्म पदार्थों को भी दृष्टिगोचर करना है। वह हवा में उड सकता है, पत्थर की दीवारों को पार कर सकता है, तथा एक समय मे अनेक स्थानो मे विद्यमान दिखाई पडता है। यद्यपि सच्चे योगी के लिए ये सब सिद्धिया केवल बाए हाथ का खेल है, परन्तु योगदर्शन ने स्पष्ट ही यह निर्देश कर दिया है कि प्रत्येक धर्म के जिज्ञासु को चाहिए कि इन सिद्धियों को साध्य रूप समझकर वह कभी योग का अभ्यास न करे। ये तो केवल साधनमात्र है। वास्तविक साध्य तो मोक्ष की प्राप्ति है, जो योग का परम लक्ष्य है। इसलिए योगी को चाहिए कि वह इन अलौकिक शक्तियो के दलदल मे कदापि न फसे। वह इन आकर्षणो को छोडकर योग के मार्ग पर सदा बढता चला जाय, जबतक वह अपनी यात्रा के अन्तिम पद—मोक्ष— की प्राप्ति न कर ले।

समाधि के प्रकार

समाधि दो प्रकार की होती है—१. सप्रज्ञात तथा २. असप्रज्ञात। यहां 'समाधि' का अर्थ है भावना अर्थात् बाह्य विषयों से चित्त को हटाकर किसी एक विषय की ओर लगाना। 'संप्रज्ञात' चित्त की एकाग्र दशा मे होती है जब चित्त की भावना के लिए कोई-न-कोई आलम्बन विद्यमान रहता है, परन्तु जब यह आलम्बन भी समाप्त हो जाता है और सब वृत्तियों का विरोध हो जाता है तब 'असप्रज्ञात' समाधि होती है। इसलिए यह समाधि चित्त की विरुद्ध दशा में उत्पन्न होती है।

संप्रज्ञात समाधि के चार भेद माने जाते है—१. सवितर्क, २. सविचार, ३. सानन्द तथा ४. सास्मिता। यह तो सामान्य बात है कि चिन्तन स्थूल विषयों से आरम्भ कर क्रमशः सूक्ष्म विषय की ओर बढता है और इसी बढाव पर ध्यान देने से चार प्रकार की संप्रज्ञात समाधि का उदय होता है।

१. सवितर्क समाधि—स्थूल विषय के साक्षात्कार का नाम है वितर्क। वितर्क की व्युत्पत्ति है **'विशेषेण तर्कणम् शब्दार्थज्ञानविकल्परूपं यत्र'**। आशय है कि जहां शब्द, अर्थ तथा ज्ञान इन तीनों का भान अभेदेन होता है उसे 'वितर्क' कहेगे। 'यह गाय है'—यहा शब्द (गो), उसका अर्थ अर्थात् गो व्यक्ति तथा दोनों का ज्ञान एक साथ ही एकाकार रूप मे प्रकट होता है।

अतः इसका साक्षात्कार 'वितर्क' कहलायेगा। इस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन स्थूल पंच भूतों की भावना जब शब्दार्थोल्लेख-पूर्वक की जाती है, तब 'सवितर्क' समाधि होती है।

२. **सविचार समाधि**—साधक स्थूल भूतों को अनित्य जानकर अपनी दृष्टि वहां से हटा लेता है और इनके कारणभूत पंच तन्मात्रा सूक्ष्म विषयों पर अपनी भावना जमाता है, तो इस साक्षात्कार को 'विचार' कहते हैं। 'विचार' की व्युत्पत्ति है—**विशेषेण चार सूक्ष्मवस्तुपर्यन्तः सञ्चारो यत्र**, अर्थात जिस समाधि में चित्त सूक्ष्म वस्तुओं तक संचरण करता है, वही सविचार समाधि कहलाती है।

३. **सानन्द समाधि**—सात्विक अहंकार से उत्पन्न होनेवाली दस इन्द्रियों-विषयक जो भावना होती है, उसे ही सानन्द समाधि कहते हैं। इस दशा में रज तथा तम के सम्पर्क से हीन सत्त्व की प्रतिष्ठा होने से सुख की ही भावना प्रबल रूप से विद्यमान रहती है। इसीलिए इन्द्रियां भी सुखरूप है। इस नामकरण का यही कारण है।

४. **सास्मिता समाधि**—इन इन्द्रियों के कारण अहंकार या बुद्धि, प्रकृति या पुरुष के विषय में जो भावना की जाती है, वह इस नाम से पुकारी जाती है। यह अस्मिता से अनुगत होती है। बुद्धि में चित् या पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने पर हमें 'अस्मि' (= मैं हूं) का भान होता है। इसलिए अहंकारोपाधिक पुरुष की भावना यहां होने पर इस समाधि का यह नामकरण है।

समाधि के इस चतुर्विध भेद का विवरण योगसूत्र के १।१७ सूत्र '**वितर्क-विचारानन्दास्मिता स्वरूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः**' के आधार पर ऊपर किया गया है। योगसूत्र १।४१ के अनुसार इन्हींका भेद तीन प्रकार से भी दिखलाया जा सकता है। ग्राह्य या भाव्य पदार्थ (जिनकी भावना, ध्यान किया जाता है) दो प्रकार के होते हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म, जिनमें पंचमहाभूत स्थूल रूप है तथा इनके उत्पादक पंच तन्मात्रा सूक्ष्म रूप है। इसीलिए पूर्व-वर्णित सवितर्क तथा सविचार समाधि को कहते हैं 'ग्राह्य समापत्ति'। इन्द्रियों का काम विषयों को ग्रहण करना है और इसलिए इन्द्रिय-विषयक तृतीय समाधि 'ग्रहण समापत्ति' भी कहलाती है। पुरुष के ग्रहीता होने के कारण तद्विषयक समाधि 'ग्रहीतृसमापत्ति' कहलाती है। ध्यान देने

की बात है कि संप्रज्ञात का ही दूसरा नाम समापत्ति है, क्योंकि इस समाधि मे वृत्तियों के क्षीण हो जाने पर सात्त्विक चित्त विषय, इन्द्रिय तथा पुरुष के साथ एकाग्र होकर उनके तत्तत् रूप को प्राप्त कर लेता है। उदाहरण के लिए यदि कोई साधक भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान कर रहा है तो उसका चित्त उसी ध्येय वस्तु में एकाग्र होकर प्रथमत स्थित होता है और तदनन्तर वह उसी कृष्ण के आकार को धारण कर तद्रूप बन जाता है, स्फटिक मणि के समान। स्फटिक मणि इतना विशुद्ध तथा शुद्ध होता है कि उसके सामने पीला, नीला तथा लाल रग का फूल रखने पर वह मणि भी उसी रग मे रग जाता है और उसी रग का प्रतीत होता है। क्षीण वृत्तिवाले चित्त की भी यही दशा होती है। पतञ्जलि ने इस सूत्र मे समापत्ति का यही लक्षण दिया—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थ तदञ्जनता समापत्तिः।

—योगसूत्र १।४१

समाधि के इस प्रकार को इस चक्र के द्वारा हम अधिक स्पष्टता मे समझ सकते है।

क. विषय		समाधि	समापत्ति
१. स्थूल	पचमहाभूत— पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश	सविनर्क	ग्राह्य-समापत्ति
२. सूक्ष्म	पृथ्वी तन्मात्र, जल तन्मात्र, तेज तन्मात्र, वायु तन्मात्र, आकाश तन्मात्र	सविचार	
ख. इन्द्रिय	पच ज्ञानेन्द्रिय पच कर्मेन्द्रिय	सानन्द	ग्रहण-समापत्ति
ग. इन्द्रियो से भी सूक्ष्म तत्त्व	अहंकार, बुद्धि, प्रकृति, पुरुष	सास्मिता	ग्रहीतृ-समापत्ति

मोटे तौर पर सप्रज्ञात समाधि के ये चार प्रकार होते है। इनमे प्रथम दो के और भी दो भेद होते है, जिन्हे विस्तार-भय से यहा नही दिया गया है।[1]

'समापत्ति' को समाधि शब्द से व्यवहृत करते है। फलत. ग्राह्य समापत्ति या ग्राह्य समाधि एक ही वस्तु के द्योतक दो नाम है।

असंप्रज्ञात समाधि

सप्रज्ञात को 'सबीज समाधि' भी कहते है, क्योकि इसमे ससार के उत्पन्न करनेवाले बीजों की सत्ता विद्यमान रहती है। यह सालम्बन समाधि भी है, क्योकि यहा चित्त का कोई-न-कोई आलम्बन—स्थूल अथवा सूक्ष्म—विद्यमान रहता ही है। परन्तु इससे भी बढकर एक समाधि है, जो 'असप्रज्ञात' नाम से अभिहित की जाती है। इस समाधि मे ससार को उत्पन्न करनेवाले बीजो का नितान्त अभाव रहता है और इसलिए यह 'निर्बीज' समाधि कहलाती है। यहा चित्त का कोई आलम्बन नही रहता। इसके लक्षण तथा कारण का निर्देश पतञ्जलि ने इस सूत्र मे किया है—

विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः

—योगसूत्र १।१७

ऊपर बतलाया गया है कि चित्त की अन्तिम दशा का नाम 'निरुद्ध' है। इस दशा मे सब निवृत्तियो का निरोध हो जाता है। निरुद्ध दशा की तुलना भूजे गए बीज से योग-ग्रन्थो मे की गई है। भूजा गया बीज अकुर के उत्पन्न करने मे कथमपि समर्थ नही होता, वह केवल स्वरूपत शेष रहता है, परन्तु उसकी शक्ति एकदम गायब हो जाती है। निरुद्ध दशा मे चित्त की भी यही दशा होती है। वह वृत्तिरूप कार्य के उत्पादन मे कथमपि समर्थ नही रहता। वह संस्कारमात्र शेष रहता है और यही 'असप्रज्ञात' का लक्षण है। परन्तु यह समाधि अनायास सिद्ध नही होती। इसके लिए 'पर वैराग्य' का अभ्यास नितान्त आवश्यक होता है। 'पर वैराग्य' वह उच्चकोटि का वैराग्य है, जिसमे प्रकृति-पुरुष-विषयक विवेक-ज्ञान के उत्पन्न

[1] देखिये योगसूत्र प्रथमपाद के सूत्र ४२, ४३ तथा ४४ तथा उनपर व्यासभाष्य।

होने पर साधक गुण के कार्यरूप विवेक-ज्ञान में भी तृष्णा नहीं रखता, वह उसमें वैरस्य का अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येयाकार चित्तवृत्ति विद्यमान रहती है। इसके निरोध के लिए आवश्यक है कि समाधि का फल जो विवेक-ज्ञान होता है, उसे भी साधक नहीं चाहता; उसमें भी वह विरक्त हो जाता है। इस 'पर वैराग्य' का अभ्यास निरन्तर होने पर ही असम्प्रज्ञात समाधि उत्पन्न हो जाती है।

कैवल्य

योग का यही लक्ष्य है और इसकी प्राप्ति होती है असम्प्रज्ञात समाधि के ठीक समनन्तर ही। 'कैवल्य' का अर्थ है **केवलस्य भावः कैवल्यम्**, केवल होने का भाव कहलाता है—कैवल्य। 'केवल' का अर्थ एकाकी होना, अकेला होना। इसका स्थूल अर्थ है कि जबतक संसारी दशा में पुरुष प्रकृति के संग में विचरण करता रहता है, अपने-आपको प्रकृति के साथ सम्बद्ध मानता है, तबतक वह अकेला (केवल) नहीं रहता। प्रकृति के साथ क्रीड़ा करने के कारण वह संयुक्त दशा में रहता है। परन्तु ऊपर वर्णित योग की प्रक्रिया के सन्तत अभ्यास से जब वह 'असम्प्रज्ञात समाधि' तक पहुंच जाता है, तब वह प्रकृति के प्रत्येक सम्बन्ध से विरहित होकर अपने विशुद्ध रूप में, स्वरूप में, प्रतिष्ठित हो जाता है। पुरुष स्वभावतः ठहरा असंग, निर्लेप तथा वियुक्त। **असंगो ह्ययं पुरुषः**। इस स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही 'कैवल्य' की दशा है और योगी लोगों के लिए यही 'मुक्ति' है। महर्षि पतञ्जलि ने मुक्ति के आपाततः दो रूप बतलाये हैं, जो वस्तुतः एक ही है। 'कैवल्य' का लक्षण योगसूत्र में है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति

—योगसूत्र ४।३४

इस महत्त्वपूर्ण सूत्र का अर्थ यह है कि महत्तत्त्व से लेकर सूक्ष्म भूतपर्यन्त जो कुछ भी लिंग शरीर आदि गुण हैं, वे अब पुरुष के किसी भी प्रयोजन को सिद्ध नहीं करते। अतएव पुरुषार्थशून्य होने से वे अपने-अपने कारण में लय होकर अन्ततः प्रकृति में लीन हो जाते हैं। 'प्रतिप्रसव' का तात्पर्य है कार्य

का अपने कारण मे लय प्राप्त करना, प्रसव के ठीक विपरीत रूप से। 'प्रसव' मे कारण कार्य के रूप मे आविर्भूत होता है, परन्तु 'प्रतिप्रसव' मे विपरीत क्रम से कार्य-कारण में तिरोहित होता है। प्रथमतः लय होता है व्युत्थान-समाधि-निरोध इन तीनो के सस्कारों का मन मे, मन का लय होता है अहंकार मे, अहंकार का लय होता है लिङ्गरूप बुद्धि मे और बुद्धि का लय होता है प्रधान मे। यही पुरुष का कैवल्य है। अथवा चितिशक्ति — पुरुष — की अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठा ही कैवल्य है। पुरुष का अपना रूप है चैतन्य। अब उसका बुद्धि के साथ कथमपि सम्बन्ध नही होता। फलतः वह अपने निर्लेप तथा अमगरूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है। इसके अनन्तर पुरुष का पुनर्जन्म नही होता।

ईश्वर

योगदर्शन मे ईश्वर को छब्बीसवा तत्त्व माना गया है। साख्य के द्वारा स्वीकृत पच्चीस तत्त्व योग को अभीष्ट है,परन्तु वह ईश्वर को उनसे अतिरिक्त तत्त्व के रूप मे मानता है और इसीलिए योग 'सेश्वर साख्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। योग ईश्वर का क्या स्वरूप मानता है और उसकी कौन-सी आवश्यकता बतलाता है? इस समस्या का समाधान यहा प्रस्तुत किया जाता है।

पतञ्जलि ने ईश्वर का लक्षण किया है—

क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः

—अर्थात् क्लेश, कर्म,विपाक (कर्म का फल), तथा आशय (वासना) से मुक्त होनेवाला पुरुष-विशेष ही ईश्वर है। क्लेश पांच प्रकार के होते है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। शुभ तथा अशुभ, विहित और निषिद्ध-भेद से कर्म दो प्रकार का होता है। कर्म करने का फल भी अवश्य ही होता है, जो तीन रूप धारण करता है, जाति, आयु तथा भोग, और इसे ही 'विपाक' कहते है। 'आशय' योगशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है,जिसका अर्थ है—कर्म करने से चित्त मे उत्पन्न होनेवाला संस्कार। जो पुरुष क्लेश, कर्म, विपाक तथा सस्कार इन चारों से मुक्त होता है, वही योगशास्त्र में 'ईश्वर' कहलाता है। जीव और ईश्वर मे क्या अन्तर

है ? ईश्वर तो इन चारो से उन्मुक्त रहता है, परन्तु जीव (या पुरुष) अविद्या के वश मे होकर चित्त मे रहनेवाले पूर्वोक्त क्लेशो के प्रभाव के वश मे रहता है। अर्थात् जीव कर्म करता है, उसके फलो को भोगता है, तज्जन्य सस्कारो को धारण करता है तथा क्लेशो के बन्धन मे पडा रहता है ; तो जीव का यही स्वभाव है क्या ? उत्तर है नही। जीव भी नित्य, असङ्ग तथा निर्लेप माना जाता है, परन्तु चित्तानुकारी होने से उसमें क्लेशादिको ता औपाधिक भान होता है, परन्तु ईश्वर मे औपाधिक क्लेशों की भी सम्भावना नही रहती। ईश्वर की जीव से यही विशिष्टता है।

ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से नाना प्रकार के शरीरो को धारण कर सकता है। इच्छा मात्र से निर्मित शरीर को कहते है 'निर्माण काय'। इस निर्माण काय मे स्थित होकर वह जीवों पर अनुग्रह कर लौकिक तथा वैदिक सम्प्रदायो का प्रवर्तन करता है, जिनका अनुसरण कर विवेकी पुरुष त्रिविध तापो से मुक्ति पाता है और कृतार्थ बनता है। बिना गुरु के ज्ञान का उपदेश कौन कर सकता है ? और ईश्वर ही वास्तव मे हमारे पूर्व-पुरुषों, ऋषियो तथा गुरुजनो का भी गुरु है, क्योकि वह काल के द्वारा अवच्छिन्न (सीमित) नही है। पतञ्जलि का सूत्र है—**स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्** (योगसूत्र १।२६)। तात्पर्य यह है कि ज्ञान की धारा का मूल स्रोत कोई होना ही चाहिए जहां से प्रवृत्त होकर वह धारा जगत् में प्रवाहित होती है और जिज्ञासु जनों का मगल साधन करती है। और ज्ञान का वह मूल स्रोत ईश्वर ही है। इतना ही नही, 'ईश्वर का प्रणिधान' क्रियायोग में अत्यन्त उत्तम माना जाता है। 'ईश्वर प्रणिधान' से तात्पर्य है ईश्वर का चिन्तन और सब कर्मों का उसमें समर्पण। जो साधक इस क्रियायोग का अभ्यास करता है, परमेश्वर का चिन्तन करता है तथा अपने कर्मो को उन्हे निष्काम भाव से समर्पण कर देता है, उसे समाधिलाभ शीघ्रता से होता है। इसलिए ईश्वर की उपादेयता योगदर्शन मे मौलिक है।

उसके वाचक शब्दों मे पतञ्जलि ओंकार को मुख्य मानते है—**तस्य वाचकःप्रणवः** (योगसूत्र १।२७)। चित्त की एकाग्रता के लिए प्रणव का जप तथा उसके अर्थ का भावन या चिन्तन नितान्त उपयोगी माना गया है—**तज्जपः तदर्थ भावनम्** (योगसूत्र १।२८)। यह सूत्र भली-भांति हमें सिखलाता है

कि ईश्वर के नाम का केवल जप ही नही करना चाहिए, प्रत्युत साथ-ही-साथ उस नाम के द्वारा प्रकाश्य अर्थ का भी चिन्तन करना चाहिए। जप तथा अर्थ भावन के सयोग से ही चित्त एकाग्र भूमि को पा लेता है, जो उसे समाधि की ओर अग्रसर करती है। भगवद्गीता मे ओम् को एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है। जो व्यक्ति इसका उच्चारण करता हुआ ईश्वर का अनुस्मरण या चिन्तन करता हुआ देह का त्याग करता है, वह भगवान् को ही प्राप्त करता है

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

——गीता ८।१३

इस प्रकार पतजलि का पूर्वोक्त उपदेश गीता के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करता है।

सक्षेप मे हम कह सकते है कि योगदर्शन के अनुसार ईश्वर सर्वश्रेष्ठ आत्मा है, जो समस्त सासारिक जीवो के ऊपर है तथा समस्त दोषों से रहित है। वह सर्वगुणसम्पन्न है, नित्य है, सर्वव्यापी है, सर्वद्रष्टा है तथा सर्वशक्तिमान् है। ससार के समस्त जीव अज्ञान, अहकार, इच्छा, द्वेष तथा मृत्यु के भाजन है। उनको अच्छे या बुरे कर्मों को करना पड़ता है तथा फलस्वरूप इसके परिणाम को भोगना पडता है। परन्तु केवल ईश्वर ही एक ऐसा है जो सर्वदा समस्त दोषो से रहित है। ईश्वर संसार के सुख, दुःख, कर्म-फल आदि वस्तुओं से सर्वथा अस्पृष्ट है, उसका स्वरूप महान् तथा पूर्ण है। वह सर्वज्ञाता है। अतएव अपनी स्वेच्छा से जगत् की सत्ता को धारण करता है। वह प्रभु है, अतिशय ज्ञानवान् है तथा अपरिमित शक्तिमान् है। इन गुणो के कारण वह अपनी अलौकिक विशिष्टता को बनाये हुए है।

ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध मे प्रमाण

१. श्रुति-प्रमाण——योग-दर्शन ने ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में अनेक प्रमाण दिये है, जिनमे सबसे प्रधान प्रमाण श्रुति का है। वेद, उपनिषद् तथा अन्य श्रौत ग्रन्थ ईश्वर की सत्ता को स्पष्ट रूप में प्रतिपादित करते है तथा

वे ईश्वर को सर्वश्रेष्ठ आत्मा और जगत् का अन्तिम ध्येय मानते है। इस प्रकार श्रुति के अनुसार ईश्वर की सत्ता माननी पडती है।

२. **क्रमिक विकास का सिद्धान्त**—विकास-सिद्धान्त के अनुसार जिस वस्तु मे परिमाण होता है, उसकी सबसे छोटी तथा सबसे बडी सीमा भी होती है। उदाहरण के लिए इस ससार मे ऐसे बहुत-से परिमाण है, जिनमे से कुछ छोटे है तथा कुछ बडे। परमाणु का परिमाण सबसे छोटा होता है तथा आकाश का परिमाण सबसे बडा होता है। इसी प्रकार से ज्ञान और शक्ति की भी विभिन्न श्रेणिया होती है। अन्त मे एक ऐसा भी पुरुष होगा, जो सर्वज्ञानी तथा सर्वशक्तिमान् होगा। यही सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ईश्वर है। ससार मे ऐसा कोई भी व्यक्ति नही है, जो शक्ति तथा ज्ञान मे ईश्वर की समानता कर सके, क्योकि उस दशा मे दो शक्तियो मे सघर्ष होने लगेगा तथा ससार मे अशान्ति मच जायगी। अत योगशास्त्र के अनुसार सर्वज्ञानी तथा सर्व शक्तिमान् पुरुष ही ईश्वर है।

३. **पुरुष-प्रकृति सम्बन्ध**—इस ससार की सृष्टि पुरुष और प्रकृति के सयोग से होती है तथा इसका नाश इन दोनो के वियोग के कारण से होता है। पुरुष और प्रकृति ये दोनों स्वतन्त्र तत्त्व है। अतएव इनका सम्बन्ध स्वाभाविक है, यह कहना कठिन है। प्रकृति और पुरुष दोनो स्वाभाविक रूप से पृथक् है, यह कहना भी अत्यन्त दुष्कर है, क्योकि यदि ऐसी बात होती तो इनका सयोग होना असम्भव होता। अतएव कोई एक अवश्य ऐसी शक्ति है, जो जीवो के अदृष्ट के अनुसार इनका सयोग और वियोग कराती है। कोई भी मनुष्य अपने अदृष्ट अथवा भाग्य का नियन्त्रण नही कर सकता, क्योंकि वह इसके विषय मे कुछ भी नहीं जनता है। अतएव एक ऐसा पूर्ण तथा सर्वज्ञानी पुरुष अवश्य है, जो प्रकृति और पुरुष के सयोग और वियोग का कर्ता है। यही पुरुष ईश्वर है, जिसकी प्रथप्रदर्शकता के बिना प्रकृति ससार की ऐसी सृष्टि नही कर सकती, जो जीवों की मुक्ति के लिए उपयुक्त हो।

ध्यान के लिए ईश्वर-भक्ति साधन रूप है—महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा समाधि मे सहायता मिलती है तथा इसी समाधि के द्वारा अन्त मे मोक्ष की प्राप्ति होती है। बाद के योगशास्त्र

के टीकाकारो ने यहांतक लिखा है कि ईश्वर-भक्ति ही मोक्ष-प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसका कारण यह है ईश्वर केवल ध्यान का विषय ही नही है, बल्कि वह सर्वश्रेष्ठ पुरुष है, जो अपनी दया के द्वारा अपने भक्तों के समस्त पापो को दूर करता है तथा उनके लिए योगप्राप्ति का उपाय सुगम बना देता है। अपने सच्चे भक्तों के ऊपर भगवान् शुद्ध हृदय तथा विवेक बुद्धि देने की दया करता है। ईश्वर-भक्तो के मार्ग मे सांसारिक क्लेशादि कटकों को हटाकर उनकी योगप्राप्ति को सुगम बना देता है। इस प्रकार जब ईश्वर की दया से हमारा योगमार्ग प्रशस्त बन जाता है तब हमारा भी यह कर्तव्य हो जाता है कि हम प्रेम, दया, सत्य, शौच तथा सतत ईश्वराराधन के द्वारा उसकी दया का पात्र बनने की क्षमता प्राप्त करे।

समीक्षा

योगशास्त्र से सहानुभूति न रखनेवाले आलोचको को यह दर्शन के एक सम्प्रदाय होने की अपेक्षा अध्यात्मवाद तथा तन्त्र की शाखा ज्ञात हो सकता है। योगदर्शन की आत्मा की कल्पना, जो शरीर, मन तथा अहंकार से वियुक्त है, सहज बोधगम्य नही है। इसीलिए आत्मा की यह कल्पना कुछ अबोध-गम्य तथा रहस्यमय ज्ञात हो सकती है। इसी प्रकार से योगाभ्यास की विभिन्न अवस्थाओं में प्राप्त होनेवाली अलौकिक शक्तियां भी आधुनिक भौतिक विज्ञान के लिए रहस्यमय पहेली-सी है, क्योंकि आधुनिक विज्ञान के द्वारा ऐसी शक्तियों को प्राप्त करना असम्भव-सा है। इस प्रकार इन अलौकिक शक्तियों से समन्वित योग-दर्शन मूल या आदिम निवासियों के तान्त्रिक धर्म की तरह मालूम हो सकता है। परन्तु यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि योग कोई तन्त्र-मन्त्र-सम्बन्धी धर्म नही है। योगदर्शन की आत्म-साक्षात्कार की कल्पना सांख्य की तत्वमीमांसा की दृढ नीव पर अव-लम्बित है। जो जीव की सत्ता को मानते हैं, उन्हे उसकी चेतनता को भी मानना पड़ेगा। मनुष्य-जीवन की अन्त सत्ता का आभास हमारे देश के प्राचीन ऋषि-महर्षियो को ही केवल नही हुआ था, बल्कि पाश्चात्य देश के प्लेटो, कैण्ट तथा हेगेल जैसे सुप्रसिद्ध दार्शनिकों को भी हुआ है। आधुनिक समय की मनोविज्ञान-परिषदों तथा अनुसन्धानों के द्वारा योगशास्त्र के अनेक रहस्यों की पुष्टि हुई है, जो इस नवीन युग के लिए विश्वसनीय नहीं

थे। परन्तु योगशास्त्र इससे भी आगे बढ़कर संयम तथा शौच के उन नियमों को,जो आत्म-प्रत्यक्ष में सहायक हैं, बतलाता है। सिद्धान्त-पक्ष और व्यवहार-पक्ष इन दोनों ही दृष्टियों से विचार करने पर योगदर्शन का स्थान सांख्य-दर्शन से अधिक महत्त्वपूर्ण दिखलाई पड़ता है, क्योंकि यह दर्शन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है तथा वास्तविक व्यावहारिक अनुभवों के द्वारा अपने अनुयायियों में विश्वास उत्पन्न करता है। आवश्यकता इस बात की है कि इस दर्शन को भली-भांति समझने के लिए सहानुभूति से युक्त हृदय से काम लिया जाय तथा इसके सत्यों का अनुभव करने के लिए सच्चा प्रयत्न हो।

योग के सैद्धान्तिक पक्ष के अतिरिक्त इसकी सबसे बड़ी विशेषता व्यावहारिक पक्ष की है। जहां अन्य दर्शन अपने वाक् जंजाल में फंसाकर ईश्वर की सत्ता का आभास मात्र देते हैं, वहां योग-दर्शन हमें ईश्वर-प्राप्ति का व्यावहारिक मार्ग बतलाता है। यह केवल ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग ही नहीं बतलाता, बल्कि आसन, प्राणायाम, यम, नियम और ध्यान की विधियों को बतलाकर हमारे शरीर को बली, मन को पवित्र तथा चित्त को एकाग्र बनाता है। यदि संसार में शरीर तथा मस्तिष्क दोनों को स्वस्थ बनानेवाला तथा साथ-ही-साथ मोक्ष की प्राप्ति करनेवाला कोई दर्शन है तो वह योग-दर्शन ही है। इसीलिए यह भारतीय दर्शनों में इतना प्रसिद्ध तथा लोक-प्रिय है।

: ५ :

मीमांसा

'मीमांसा' शब्द का अर्थ है किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ निर्णय। वेद के दो भाग है—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। यज्ञ-यागों की विधि तथा अनुष्ठान का वर्णन कर्मकाण्ड का विषय है तथा जगत्, जीव और ईश्वर के रूप तथा सम्बन्ध का निरूपण ज्ञानकाण्ड का विषय है। इनमें दिखाई पड़नेवाले आपाततः विरोधों को दूर करने के प्रधान लक्ष्य से इस दर्शन की प्रवृत्ति होती है। कर्मकाण्ड की मीमांसा होने से इस दर्शन का पूरा नाम है—कर्म-मीमांसा, परन्तु साधारण रीति से यही 'मीमांसा' शब्द से अभिहित किया जाता है। ज्ञानकाण्ड के यथार्थ निरूपण करनेवाले दर्शन का नाम 'ज्ञान-मीमांसा' है, जो साधारणतया 'वेदान्त' के नाम से अभिहित होता है। कर्मकाण्ड वेद का पूर्वखण्ड है और ज्ञानकाण्ड उत्तरखण्ड। इसीलिए यह दर्शन 'पूर्वमीमांसा' तथा वेदान्त 'उत्तरमीमांसा' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। 'मीमांसा' का तत्त्व बड़ा प्राचीन है। मन्त्रों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में ऐसे वर्णन मिलते हैं कि किसी संदिग्ध विषय पर ऋषियों ने अपनी युक्तियों के सहारे किसी निश्चित तथ्य का निर्णय किया। अतः कर्ममीमांसा की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीनकाल में ही सिद्ध हो गई थी।

मीमांसा-दर्शन के दो प्रधान विषय है—(क) कर्मकाण्ड की विधियों में जो परस्पर विरोध दिखलाई पड़ते हैं, उनके परिहार के लिए व्याख्या-पद्धति का आविष्कार करना। (ख) कर्मकाण्ड के आधारभूत सिद्धान्तों को युक्ति तथा तर्क के द्वारा व्यवस्थित तथा प्रतिष्ठित करना। पहले विषय का वर्णन यहां नही किया जा रहा है। दूसरा विषय ही दार्शनिक विचार की कोटि में आता है। अतएव उसीका वर्णन यहां किया जा रहा है।

कर्मकाण्ड के सिद्धान्त

धर्म दर्शन के ऊपर प्रतिष्ठित रहता है। वैदिक कर्मकाण्ड अपनी सत्ता तथा स्थिति की पूर्णता के लिए कतिपय सिद्धान्तों को मान्यता देता है। आत्मा के अमरत्व की भावना ऐसी ही है। मृत्यु के अनन्तर भी आत्मा विद्यमान रहता है तथा अपने किये गए शुभ कर्मों का फल स्वर्ग में भोगता है। कर्मों के फलों को सुरक्षित रखनेवाली शक्ति में विश्वास दूसरा मान्य सिद्धान्त है। वेद में अटूट श्रद्धा कि वेद अभ्रान्त है और किसी व्यक्ति के द्वारा विरचित न होने से अपौरुषेय है। जगत् की सत्यता मे पूर्ण विश्वास और यह मानना कि हमारा जीवन स्वप्नवत् मायिक नहीं है, प्रत्युत नितान्त सत्य तथा यथार्थ है—कतिपय ऐसे सिद्धान्त हैं, जिनके ऊपर कर्मकाण्ड का पूरा प्रासाद खड़ा हुआ है। चार्वाक, जैन तथा बौद्ध वेदों को प्रामाण्य नहीं मानते तथा कहीं उपनिषदों में भी कर्मकाण्ड की निन्दा की गई है। मीमांसा-दर्शन इन विरुद्ध सिद्धान्तों का खण्डन कर कर्मकाण्ड के मौलिक तथ्यों को प्रमाणों तथा तर्कों के द्वारा सिद्ध करता है। इस प्रकार वेद को विरोधियों के प्रबल प्रहारों से बचाने के लिए मीमासा सदा कटिबद्ध रहा है और अपने सिद्धान्तों की रक्षा करने तथा प्रामाणिकता सिद्ध करने में इसने अपने लिए प्रमाणशास्त्र का भी निर्माण किया है, जो न्याय के प्रमाणशास्त्र से अनेक बातों में विलक्षण तथा स्वतन्त्र है। इसके प्रतिष्ठापक तथा व्याख्याता आचार्यों की एक दीर्घ परम्परा है, जिन्होंने इस विषय के तार्किक ग्रन्थो का निर्माण कर मीमांसा को अवैदिकों के प्रबल विरोधों से बचाया है।

मीमांसा की दृष्टि

मीमांसा की दार्शनिक दृष्टि यथार्थवादी है। वह जगत् को सत्य मानता है तथा उसके पदार्थों को उसी प्रकार का मानता है, जिस प्रकार वे हमारी इन्द्रियों के द्वारा प्रतीत होते हैं। मेरी दृष्टि में यथार्थवादी दर्शन (रीयलिस्ट फिलॉसफी) की यही मुख्य पहचान है कि वह परमाणुवाद को मानता है और जगत् की उत्पत्ति के लिए परमाणुओं को मुख्य साधन अंगी-

कार करता है। न्याय-वैशेषिक जिस प्रकार परमाणुवाद के समर्थक है, मीमांसा भी उसी प्रकार उसका समर्थन करती है। मीमांसा के दोनों अवान्तर मत अणुवाद को स्वीकार करते है। गुरुमत अर्थात् प्रभाकर भट्ट के अनुयायी परमाणुओ से जगत् की उत्पत्ति मानते है।[1] भाट्ट मत के आचार्य भी ऐसा ही मानते हैं। इन परमाणुओं के संयोग से ही जगत् उत्पन्न हुआ है। परन्तु जगत् की नित्यता धारा-प्रवाह के समान है। नदी की धारा मे एक ही जल नहीं होता, प्रतिक्षण पुराना जल बहा चला जाता है और नया जल उसका स्थान ग्रहण करता है। परन्तु धारा एक ही होती है, इसी प्रकार जगत् की स्थिति है। तथापि मीमांसा की गणना उत्पत्तिवादी, परमाणुवाद के समर्थक न्याय-वैशेषिक दर्शनों के साथ की जाती है। यह आत्मवाद को अंगीकार करता है, परन्तु वह जीवों को अनेक मानता है। वह कर्म के ऊपर विशेष आग्रह रखता है, यहातक कि कर्म की प्रधानता का पक्षपात उसे ईश्वर की सत्ता न मानने के लिए विवश करता है। इस वास्तववादी दृष्टि को ध्यान में रखकर ही उसके सिद्धातों का मनन किया जा सकता है।

मीमासा-साहित्य

मीमासा दर्शन के अनेक आचार्य हुए, जिन्होने अपनी रचनाओं के द्वारा इसके साहित्य को समृद्ध बनाया है। मीमांसा-दर्शन के सूत्रकार है महर्षि जैमिनि। इन्होंने सोलह अध्यायों में इस दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों की रचना की, जिनमें से आरम्भ के बारह अध्याय 'द्वादशलक्षणी' के नाम से और अन्तिम चार—'संकर्षण काण्ड' या 'देवता काण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है। इस दर्शन के सूत्र अन्य दर्शनों के सूत्रों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं। ये सूत्र अढाई हजार से ऊपर है (२६४४ सूत्र) और अधिकरणो की संख्या नौ सौ से थोड़ी अधिक है (९०९)। इन सूत्रों में धर्म तथा उससे सम्बद्ध विषयो का बड़ा ही विस्तृत तथा व्यापक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस दर्शन के भाष्यकार हैं शबरस्वामी (समय द्वितीय शती विक्रमी), जिन्होंने

[1] **'प्रभाकर विजय'—पृ० ४३-४६ देखिये**

पूरे सूत्रों के ऊपर बडा तथा प्रामाणिक भाष्य लिखा है। इस भाष्य पर जिन तीन आचार्यों ने अपने वार्तिक तथा व्याख्याए प्रस्तुत की है, उनके सम्बन्ध में नीचे लिखा जा रहा है।

(क) **कुमारिल भट्ट** (सप्तम शती विक्रमी)— अपने युग के बड़े ही प्रौढ व्याख्याकार मीमासक है, जिनके ग्रन्थ मीमांसा-शास्त्र के विश्व कोश माने जाते है। ये ग्रन्थ है—'श्लोकवार्तिक' (प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का कारिकाबद्ध व्याख्यान); 'तन्त्रवार्तिक' (प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर समस्त तृतीय अध्याय तक की गद्यमयी प्रौढ व्याख्या) तथा टुप्-टीका—अन्तिम नौ अध्यायों की संक्षिप्त विवृति। कुमारिल का मीमासा के विषय मे अपना एक विशिष्ट मत है, जिसके अनुयायी मण्डन मिश्र (सप्तम शती), पार्थ सारथि मिश्र (बारहवी शती), माधवाचार्य (चौदहवी शती) तथा खण्डदेव (सत्रहवी शती) जैसे मीमासक मूर्धन्य है। यह मत भाट्ट मत या भाट्ट सम्प्रदाय के नाम से विद्वानो में विख्यात है।

(ख) **प्रभाकर भट्ट**—अपनी विद्वत्ता के कारण ये 'गुरु' के उपनाम से मण्डित है। इनका भी एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय है, जो मीमासा के तथ्यों के विषय मे कुमारिल की अपेक्षा भिन्न मत रखता है। इन्होंने शाबर-भाष्य पर दो टीकाए लिखी, जिनमें 'बृहती' (या निबन्धन) प्रकाशित है, परन्तु 'लघ्वी' (या विवरण) अभी तक प्रकाश में नही आया है। इनका मत 'गुरु मत' के नाम से प्रख्यात है। इस मत के आचार्यों मे शालिकनाथ, भवनाथ, नन्दीश्वर तथा रामानुजाचार्य मुख्य है। इस मत मे शालिकनाथ प्रभाकर के पट्ट शिष्य तथा मुख्य व्याख्याता माने जाते है। इन्होंने 'प्रकरण पचिका' जैसे उदात्त प्रौढ ग्रन्थ का प्रणयन कर गुरु के सिद्धान्तों को अपनी शेमुषी से नितान्त उद्भासित किया है।

(ग) **मुरारि मिश्र**—इनके विषय मे हमारा ज्ञान बहुत ही कम है। '**मुरारेस्तृतीयः पन्थाः**'—इस लोकोक्ति के आश्रय ये ही आचार्य है। इस लोकोक्ति का आशय है कि मीमासा-जगत में भट्ट तथा गुरु के मतों के रहते भी मुरारि ने अपने लिए एक तीसरा मार्ग खोज निकाला। इनका समय बारहवीं शती के आस-पास माना जाता है। इन्होंने मीमांसा-दर्शन के मुख्य तत्त्वों के विषय में अपनी एक स्वतन्त्र सम्मति बना रखी है, जो कुमारिल

तथा प्रभाकर के मत के समान ही प्रौढ़ तथा विद्वत्तापूर्ण है।

इन्हीं आचार्यों के ग्रन्थों में मीमांसा का दर्शन अपने पूर्ण वैभव के साथ परिष्कृत रूप में अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है।

ज्ञान-मीमासा

प्रमाणों के विषय मे भाट्ट तथा गुरु-मत मे तनिक अन्तर है। भाट्टों के मत में छः प्रमाण होते है, जो अद्वैत वेदान्त को भी मान्य है। ये प्रमाण हैं—

१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. शब्द, ५. अर्थापत्ति तथा ६. अनुपलब्धि।

प्रभाकर अन्तिम प्रमाण को नही मानते। फलतः उनकी सम्मति मे पूर्वोक्त आदि के पांच ही प्रमाण होते है।

१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान—मीमांसा न्याय के समान ही यथार्थवादी तत्त्वज्ञान है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान की कल्पना न्याय के समान ही यहां स्वीकृत की गई है। इन्हें प्रत्यक्ष के दोनों भेद—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक—मान्य है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ये लोग 'आलोचन ज्ञान' के नाम से अभिहित करते हैं। यह ज्ञातव्य है कि निर्विकल्पक को वैयाकरण नहीं मानते और सविकल्पक को बौद्ध। छः प्रकार के सन्निकर्षों में भाट्ट लोग दो ही सन्निकर्ष मानते है—संयोग और संयुक्त तादात्म्य।

अनुमान की प्रक्रिया न्याय तथा मीमांसा में अधिकांश में समानता रखती है। हेत्वभास तथा पञ्चावयव वाक्य में कुछ अन्तर अवश्य विद्यमान है।

३. उपमान—मीमांसा के मत में उपमान एक स्वतन्त्र प्रमाण है। न्याय भी ऐसा मानता है, परन्तु दोनों के सिद्धान्तों में महान् अन्तर है। मीमांसा के अनुसार उपमानजन्य ज्ञान तब होता है जब किसी पहले देखी गई वस्तु के सदृश कोई पदार्थ देखने पर स्मृत पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान होता है। 'मानमेयोदय' के शब्दों में दिखाई पड़नेवाली वस्तु के सादृश्य से स्मरण की गई वस्तु के सादृश्य का ज्ञान 'उपमिति' कहलाता है। उदाहरण से इसे समझिये। गाय को देखनेवाला व्यक्ति जंगल में जाता है और उसीके समान नीलगाय को देखता है। तब सादृश्य के कारण उसे गाय की स्मृति

होती है और उसे यह ज्ञान होता है कि 'गाय नीलगाय के समान है।' यही ज्ञान उपमिति कहलाता है।

यह ज्ञान एक स्वतन्त्र ज्ञान है, जिसका अन्तर अन्य प्रमाणो से स्पष्ट-तया प्रतीत होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न है, क्योकि सादृश्य को धारण करनेवाली वस्तु (गाय) उस समय दृष्टिगोचर नही होती, तब प्रत्यक्ष ही क्योकर हो सकता ह? जिस समय हमें गाय का ज्ञान पहले हुआ, उस समय नीलगाय के साथ उसका सादृश्य कथमपि ज्ञात नही था। फलत अन्य वस्तु के साथ सादृश्य का अनुभव न होने से यह 'स्मृति' भी नही कहा जा सकता। व्याप्ति के दूषित होने के कारण न यह अनुमान के अन्तर्गत आ सकता है और न शब्द के। इसीलिए उपमान सब प्रमाणों से अलग एक स्वतन्त्र प्रमाण माना जाता है।

४. **शब्द**—ज्ञात पदो के द्वारा पदार्थ के स्मरण होने पर असन्निकृष्ट वाक्य के अर्थ का ज्ञान होना 'शाब्दी प्रमा' कहलाता है। वाक्य दो प्रकार के होते है—पौरुषेय और अपौरुषेय। पौरुषेय वाक्य का अर्थ है किसी पुरुष के द्वारा कहा गया वाक्य। यह तभी प्रमाण है जब वह पुरुष आप्त माना जाता है। 'अपौरुषेय' का अर्थ है बिना किसी पुरुष के प्रयत्न के विरचित वाक्य। यह स्वय श्रुति या वेद है। वेद के वाक्य दो प्रकार के है—एक वे जिनमे किसी अनुष्ठान का विधान हो। इसे 'विधि वाक्य' कहते है, जैसे **'स्वर्गकामो यजेत्'** (स्वर्ग की चाह रखनेवाला व्यक्ति यज्ञ करे)। यहा यज्ञ करने की विधि है। दूसरे प्रकार के वाक्यो मे विधि न होकर किसी पदार्थ का वर्णन रहता ह, जैसे उपनिषदो के ब्रह्म के वर्णन करनेवाले वाक्य। इसे 'अर्थवाद' कहते है। इनका उपयोग विधि वाक्यो के द्वारा ही होता है अर्थात् अर्थवाद वाक्य प्रशसा या निन्दा मे प्रयुक्त किया जाता है, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रशसित विधि का अनुष्ठान अवश्यमेव करना चाहिए तथा इसी प्रकार निन्दित अनुष्ठान का निषेध अवश्यमेव करना चाहिए।

मीमांसा के मत मे 'शब्द' नित्य है और वेद शब्द की राशि होने से नित्य' है। वह किसीके द्वारा प्रणीत नही होता। फलतः वह पुरुष के प्रयत्न से बहिर्भूत होने के कारण 'अपौरुषेय' कहलाता है। इसके विपरीत न्याय-दर्शन वेद को पुरुष अर्थात् ईश्वर के द्वारा विरचित मानकर उसे

'पौरुषेय' मानता है। इस विषय को लेकर न्याय तथा मीमासा मे गहरा मतभेद है। जैमिनि, शबर तथा कुमारिल ने बड़ी प्रौढ युक्तियां देकर वेद के 'अपौरुषेयत्व' को सिद्ध किया है।

मीमांसा के मत में वेद का कार्य तथा तात्पर्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर कुमारिल ने श्लोक वार्तिक (श्लोक ११०-१४३, सूत्र २ की व्याख्या) में तथा शान्तरक्षित ने तत्त्व-संग्रह (कारिका ३१२४-३२४६ पूर्वपक्ष) मे बड़े अभिनिवेश के साथ दिया है। यागादि के प्रतिपादन और उसके द्वारा धर्म-अधर्म का, पुरुष विशेष की अपेक्षा रखे बिना ही, स्वतन्त्र विधान करना वेद का कार्य है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में कुमारिल का कथन है—

"धर्म-अधर्म से भिन्न अन्य सब वस्तुओं का ज्ञान कोई भी व्यक्ति साक्षात् भले ही कर ले, परन्तु धर्माधर्म का साक्षात् वेद-निरपेक्ष होकर कोई भी नही कर सकता। चाहे वह जाननेवाला बुद्ध, जिन जैसा मनुष्य योगी हो अथवा वह ब्रह्मा, विष्णु जैसा देव हो, चाहे वह कपिल, प्रजापति जैसा ऋषि या अवतारी हो। धर्म-मर्यादा सर्वत्र-सर्वदा एक समान है, जो सदा सर्वदा एकरूप वेद द्वारा विहित मानने पर ही सगत हो सकती है। बुद्ध आदि व्यक्तियो को धर्म के साक्षात् प्रतिपादक मानने पर यह मर्यादा सिद्ध नही हो सकती, क्योकि वे उपदेशक निर्वाण पा लेने पर रहते भी नही। जीवित दशा में वे सब क्षेत्रों मे पहुच भी नही सकते। सब धर्मोपदेशकों की एक-वाक्यता भी असम्भव प्रतीत होती है। बुद्ध, महावीर, कपिल आदि आचार्य परस्पर विरुद्ध बाते बतलाते है। ऐसी दशा मे किसको सर्वज्ञ माना जाय।" इस प्रकार मीमासा का तात्पर्य यह है कि किसी विशिष्ट पुरुष को धर्माधर्म का उपदेशक तथा सर्वज्ञ मानना सर्वथा असगत है। वेद ही सर्वज्ञ है और वही धर्माधर्म का विशिष्ट उपदेशक है। इसीलिए तो जैमिनी धर्म को वेद विहित विधि (चोदना) के द्वारा लक्षित तथा प्रतिपादित मानते है। (**चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः**)।

५. **अर्थापत्ति**—दृष्ट अर्थ की व्याख्या के लिए किसी अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना, जिसके बिना उस वस्तु की उपपत्ति ही नहीं हो सकती, 'अर्थापत्ति' कहलाती है।

अर्थापत्ति एक स्वतन्त्र प्रमाण है, क्योंकि इसके द्वारा उपलब्ध ज्ञान को

न हम प्रत्यक्ष से, न शब्द से और न अनुमान से जान सकते है। मोटे होने-वाले व्यक्ति को रात में भोजन करते हमने नही देखा, तब उसे प्रत्यक्ष हम नहीं कह सकते। उसके रात के समय भोजन करने की बात किसी आप्त पुरुष के वचनो के द्वारा हमें ज्ञात नही हुई। अतः शब्द भी यहां ठीक नही। अनुमान के लिए ठीक व्याप्ति ही नहीं जमती। इसलिए इससे उत्पन्न ज्ञान इन तीनों प्रमाणों के भीतर अन्तर्भूत नही हो सकता। अत. मीमांसकों ने 'अर्थापत्ति' को स्वतन्त्र प्रमाण माना है।

दैनिक जीवन में इसकी उपयोगिता बहुत ही अधिक है। वाक्यों के अर्थ समझने मे भी 'अर्थापत्ति' सहायता करती है। जैसे किसीने कहा, 'काशी नगरी गगाजी पर है,' इस वाक्य का अर्थ ठीक नही जमता, इस-लिए अर्थापत्ति के द्वारा हमे यह ज्ञान होता है कि 'काशी नगरी गंगा के तट पर है।' यहां 'गंगा पर' का अर्थ होता है 'गंगा के तट पर' और यह अर्था-पत्ति के द्वारा होता है। प्रतिदिन के जीवन में अर्थापत्ति हमारी विशेष सहा-यता करती है। हम अपने मित्र से मिलने को शाम को उनके घर जाते हैं। सवेरे उनसे भेट हो चुकी है। वे भले-चगे है। इसका ज्ञात हमें पहले से है, परन्तु वे घर पर उस समय नही मिलते। फलतः हम अर्थापत्ति के द्वारा जानते है कि वे कहीं बाहर गये होगे। अतः जीवित व्यक्ति का घर पर न मिलना तभी उपपन्न हो सकता है जब उसके बाहर जाने की घटना की कल्पना की जाय। इसी प्रकार इसका बहुल उपयोग हमारे लिए है।

६. **अनुपलब्धि**—'अनुपलब्धि' का अर्थ है किसी पदार्थ की उपलब्धि या प्राप्ति न होना। अभाव की सिद्धि में यही प्रमाण है। इस समय मेरे हाथ में लेखनी नही है। यदि होती, तो अवश्य उपलब्ध होती। अतः वस्तु की अनुपलब्धि उसके अभाव को सूचित करती है। इस प्रमाण को स्वतन्त्र रूप से मानने के लिए भाट्ट मीमासकों का बड़ा आग्रह है। वे इसे समस्त ज्ञात प्रमाणों से भिन्न मानते है। अनुपलब्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है, क्योंकि हम नेत्रो से घट को देख सकते है, घटाभाव को तो नहीं। घट के अभाव से हमारे नेत्र इन्द्रिय का कभी संयोग नही होता। इसलिए यह प्रत्यक्ष नहीं है, प्रत्युत अनुपलब्धि (अदर्शन) के द्वारा ही अभाव का ज्ञान हमें होता है। यह अनु-मान भी नही है। अनुमान के लिए जिस उचित व्याप्ति की सत्ता होनी

चाहिए, वह यहा नही है। इसलिए अनुपलब्धि को अनुमान से भिन्न मानना पडता है। आप्तवाक्य के न होने से यह शब्द भी नही है और सादृश्य ज्ञान न होने से उपमान भी नही है। फलतः यह है एक स्वतन्त्र प्रमाण। कुमारिल भट्ट के अनुयायी (भाट्ट मीमांसक) तथा अद्वैती वेदान्ती इसे प्रमाण मानते है, परन्तु प्रभाकर इसे नहीं मानते। उनका मत है कि अभाव जिस स्थान मे रहता है, तद्रूप ही होता है। घट का अभाव जिस स्थान पर, जिस अधिकरण में (जैसे घर में) रहेगा, वह अधिकरण रूप ही होता है। अत. प्रभाकर की दृष्टि में अभाव की सिद्धि के लिए एक नवीन प्रमाण मानने की आवश्यकता तनिक भी नही है।

तत्त्व-मीमासा

यह तो हुई प्रमाण मीमासा की चर्चा। अब प्रमेय की चर्चा अवसर-प्राप्त है। एक बात ध्यान देने की है कि मीमांसा प्रपच की नित्यता स्वीकार करती है। बाहरी वस्तुओ की उपलब्धि के साधन तो हमारी इन्द्रिया ही है। इनके द्वारा जगत् के पदार्थो की उपलब्धि जिस रूप में होती है, उसी रूप मे जगत् की सत्यता है। इसलिए 'श्लोकवार्तिक' (काशी सं०, पृ० ४०४) मे कुमारिल भट्ट का यह कथन है—

तस्माद् यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा।
तत् तथैवाभ्युपेतव्यं सामान्यमथवेतरत्॥

मीमांसा का एकदेश अणुवाद को मानता है। न्याय-वैशेषिक भी अणुवाद को स्वीकार करता है, परन्तु दोनों के मत मे अन्तर है। न्याय परमाणुओं को प्रत्यक्ष नही मानता; वह उसे अनुमेय (अनुमान का विषय) मानता है। पाठकों ने देखा होगा कि जब हमारे कमरे की छत के किसी छेद से सूर्य के किरण आते है, तब उनमें अनेक छोटे-छोटे कण नाचते हुए प्रतीत होते है। ये नतरेणु है और इन्हीका छठा भाग परमाणु कहलाता है; ऐसी न्याय की मान्यता है। इसका द्योतक यह प्राचीन श्लोक है—

जालान्तरगतेभानौ यत् सूक्ष्मं दश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुरिति स्मृतः॥

मीमांसा को यह अभीष्ट नही। वह इधर-उधर नाचनेवाले कणों को ही परमाणु मानता है और इससे भी सूक्ष्म कण की कल्पना को अमान्य

ठहराता है। न्याय परमाणुओं को योगियों के प्रत्यक्ष का विषय मानता है, परन्तु मीमांसा उन्हे सामान्य प्रत्यक्ष का विषय मानती है। उसकी दृष्टि में साधारण प्रत्यक्ष से योगज प्रत्यक्ष कोई विलक्षण अनुभूति नही होती। अतः वह उसकी सत्यता में विश्वास नही करता। 'मानमेयोदय' में नारायण भट्ट ने स्पष्ट लिखा है—

जालरन्ध्र विसरद् रवितेजो जालभासुर पदार्थ विशेषान्।
अल्पकानिह पुनः परमाणून् कल्पयन्ति हि कुमारिलशिष्याः॥

तत्त्वो के विषय मे मीमासा के सम्प्रदायो मे पार्थक्य लक्षित होता है—

(क) कुमारिल मत मे पाच पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा अभाव।

(ख) गुरु मत मे आठ पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और सख्या।

(ग) मुरारि मत मे पाच पदार्थ —ब्रह्म तथा लौकिक पदार्थ चार— १. धर्मि विशेष, २. धर्म विशेष, ३ आधार विशेष तथा ४. प्रदेश विशेष।

इनमे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य का रूप प्राय वैसा ही है जैसा न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थों मे प्रतिपादित किया गया है। 'परतन्त्रता' वैशेषिकों का समवाय पदार्थ है, जो नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का है। नित्य पदार्थो मे रहनेवाली परतन्त्रता नित्य है और अनित्य पदार्थोवाली अनित्य। प्रभाकर 'शक्ति' को स्वतन्त्र पदार्थ इस हेतु मानते है कि केवल द्रव्य, गुण तथा कर्म से कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते, जबतक वे शक्ति से सम्पन्न न हों। अतएव 'शक्ति' एक स्वतन्त्र पदार्थ है। परन्तु न्याय इस मत से सहमत नहीं है। उसकी सम्मति मे शक्ति 'प्रतिबन्धकाभाव' रूप है। शक्ति का अर्थ है प्रतिबन्धक या रोकनेवाले कारण का न होना। जैसे अग्नि में दाहिका शक्ति है, पर इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है जलाने से अग्नि को रोकनेवाली जो चीजें है, वे यहां उपस्थित नही है। इसलिए आग जलती है। न्याय की भाषा मे प्रतिबन्ध का भाव विशिष्ट अग्नि ही जलता है, अन्य अग्नि ही नहीं। फलतः 'शक्ति' एक नूतन स्वतन्त्र पदार्थ नही है। सादृश्य तथा संख्या गुण के अन्तर्गत है। फलतः इन्हें स्वतन्त्र पदार्थ मानना ठीक नहीं

जान पड़ता।[1]

द्रव्य के भीतर कुमारिल 'अन्धकार' को भी एक प्रकार का द्रव्य ही मानते है, जिसका वैशेषिकों ने बड़े आग्रह के साथ खण्डन किया है। इनका कहना है कि द्रव्य नव ही है। तम तो प्रकाश का अभाव मात्र ठहरा। उसे स्वतन्त्र द्रव्य मानना बड़ी भूल है। इसी संघर्ष की ओर वेदान्ती श्री हर्ष ने 'नैषध चरित' के इस प्रख्यात पद्य मे सकेत किया है—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां
वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलुदर्शनं तत्
क्षमं तमस्तत्त्व निरूपणाय॥

'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' के अनुसार मुरारि की पदार्थ-कल्पना दोनों से विलक्षण है। इनकी दृष्टि में ब्रह्म ही एक परमार्थभूत पदार्थ है, परन्तु लौकिक व्यवहार की उपपत्ति के लिए उससे भिन्न चार पदार्थों को स्वीकार करना पडता है—

१. **धर्मि विशेष**—नियत आश्रय, सदा रहनेवाला आश्रय या आधार। जैसे घटत्व का आश्रय घट है। वही इस नाम से व्यवहृत किया जायगा।

२. **धर्मविशेष**—नियत रूप मे आधार में रहनेवाला धर्म या आधेय जैसे घट में नियत रहनेवाला धर्म है घटत्व।

३ **आधार विशेष**—अनियत आधार। जैसे हमने कहा—'इदानीं घटः' तथा 'तदानीं घटः' (इस समय का घडा तथा उस समय का घडा)। यहां इदानी और तदानी काल-बोधक पद घट के अनियत आधार हैं, काल के भिन्न-भिन्न होने के कारण।

४. **प्रदेश-विशेष**—दैशिक आधार, देश-सम्बन्धी आधार जैसे 'गृहे घटः', 'भूतले घटः।' यहां गृह और भूतल अनियत दैशिक आधार है, क्योंकि घडे का स्थान बदलता रहता है। वह एक ही स्थान पर हमेशा के लिए

---

[1] **गुरु-मत के लिए द्रष्टव्य तन्त्र-रहस्य पृ० २०-२४ तथा भाट्ट मत के लिए द्रष्टव्य मानमेयोदय पृ० १५६ (प्रकाशक अड्यार, थियासोफिकल सोसाइटी)**

स्थित तो नही रहता।

अपूर्व की कल्पना

मीमांसा-मत में 'अपूर्व' नामक एक नवीन पदार्थ की कल्पना मानी जाती है। 'अपूर्व' का शाब्दिक अर्थ है—जो पहले विद्यमान न था। (अ+पूर्व) अर्थात् कर्मों से नवीन उत्पन्न होनेवाला फल, पाप तथा पुण्य रूप फल। मीमांसक कर्मवादी है। वे क्रिया को, वेद के द्वारा विहित कर्म को, समधिक महत्त्व देते है, यह तो उनके 'कर्म-मीमांसा' नामकरण से ही नितान्त स्पष्ट है। परन्तु यज्ञ के अनुष्ठान में एक विप्रपत्ति दृष्टिगोचर होती है। वेद कहता है—**स्वर्ग कामो यजेत** (स्वर्ग की कामनावाला व्यक्ति यज्ञ करे)। अर्थात् यज्ञ के अनुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है; इसलिए यज्ञ करना चाहिए। परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि यज्ञ तो यजमान आज कर रहा है और उसे फल मिलेगा किसी भविष्य काल मे। जरा असंगति तो देखिये, कर्म का फल अभी नही मिलता। फल जब मिलता है तब कर्म का सम्पादन नहीं होता, प्रत्युत वह अतीत की कोटि में जा मिलता है। यह स्पष्ट विरोध है—स्पष्ट विप्रतिपत्ति है। इसी विरोध के परिहार के निमित्त मीमांसा ने 'अपूर्व' की कल्पना की है। यज्ञ से उत्पन्न होता है—अपूर्व (पुण्य) और अपूर्व से उत्पन्न होता है स्वर्ग (फल)। इस प्रकार क्रिया तथा फल के बीच में अपूर्व माध्यम का काम करता है।

वेदान्त के मत में यह फल देने का काम ईश्वर का है, परन्तु मीमांसा तो ईश्वर की सत्ता मानती ही नही। फलतः वह कर्म को ही यह उत्तरदायी पद प्रदान करता है। और भी स्वतः फल के उत्पादन मे समर्थ नहीं होगा, प्रत्युत अपूर्व के द्वारा ही यह कार्य करता है। 'अपूर्व' की यह कल्पना मीमांसा का मुख्य तत्त्व है। शंकराचार्य का यह कथन इस तत्त्व को स्पष्ट कर रहा है—

न चापि अनुत्पाद्य किमपि अपूर्वं, कर्म विनश्यत् कालान्तरितं फलं दातुं प्रभवति। अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिद् उत्तरावस्था। फलस्य वा पूर्वावस्था अपूर्वं नामास्तीति तर्क्यते।

—शांकर-भाष्य ३।२।४०

आचार्य के वचनो का तात्पर्य यही है कि बिना किसी अपूर्व को पैदा किये इस समय नष्ट होनेवाला कर्म कालान्तर में फल देनेवाला कथमपि नहीं हो सकता। अतः जो कर्म की सूक्ष्म उत्तरावस्था है या फल की पूर्वावस्था है, वही 'अपूर्व' कहलाती है। कहना न होगा कि वेदान्त को यह नवीन कल्पना मान्य नही है। कर्म के फलदाता के रूप मे वह ईश्वर को ही मानता है, किसी जड पदार्थ को नही। आखिर 'अपूर्व' तो जड़ पदार्थ ठहरा, उसमे फल देने की शक्ति कहां से आई? इसलिए 'अपूर्व' की कल्पना वेदान्त आदि दर्शनों को मान्य नही है।

कर्म-तत्त्व

मीमांसा का प्रधान उद्देश्य है वेद-विहित कर्मों का यथावत् अनुष्ठान। कर्म में इतनी आस्था है मीमांसा को कि वह कर्म को ही ईश्वर के समान प्रभावशाली मानने के लिए तत्पर है। '**कर्मेति मीमांसकाः**' इस वाक्य का यही आशय है। पहले बताया गया है कि मीमांसा विधि-वाक्यों को ही प्रधान मानता है, अर्थवाद को गौण। यहां कर्म-तत्त्व को समझने की आवश्यकता है।

कर्मकाण्ड के प्रति मीमांसकों की भावना पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। कर्म-मीमांसा का मुख्य उद्देश्य यह है कि प्राणी वेद के द्वारा प्रतिपादित अभीष्ट साधक कार्यों में लगे और अपना वास्तव कल्याण सम्पादन करे। यज्ञ-यागादि में किसी देवता विशेष (जैसे इन्द्र, विष्णु, वरुण आदि) को लक्ष्य करके आहुति दी जाती है। वेद मे इन देवो के स्वरूप का पूरा वर्णन मिलता है, परन्तु मीमांसा के मत में देवता सम्प्रदान कारक सूचक पदमात्र है। इससे बढ़कर उनकी स्थिति नहीं। देवता मन्त्रात्मक होते है और देवताओं की पृथक् सत्ता उन मन्त्रों को छोड़कर अलग नहीं होती, जिनके द्वारा उनके लिए होम का विधान होता है। तब प्रश्न है कि वैदिक कर्म का अनुष्ठान किसलिए किया जाय? सामान्य मत है कि किसी कामना की सिद्धि के लिए। परन्तु विशेष मत यह है कि बिना किसी कामना के ही वैदिक कर्मों का अनुष्ठान हमें करना चाहिए। ऋषियों के प्रातिभ चक्षु के द्वारा दृष्ट वैदिक मन्त्रों में प्रतिपादित धर्म हमारे कल्याण के लिए है। अतः हमे

चाहिए कि उसका अनुष्ठान बिना किसी प्रयोजन की सिद्धि के स्वयं करते चले। इस प्रकार निष्काम कर्म के अनुष्ठान की शिक्षा देना मीमांसा के कर्तव्य-शास्त्र का चरम उत्कर्ष है। जर्मन तत्त्वज्ञ काण्ट भी कर्तव्य के विषय में मीमासा के मत के समान ही मत रखते है। उनका कहना है कि प्राणी का कर्तव्य का सम्पादन स्वार्थ-बुद्धि से न करके निरपेक्ष बुद्धि से करना चाहिए। परन्तु दोनो मे थोडा अन्तर है। काण्ट के मत में कर्म के फलों का दाता ईश्वर है, वहां मीमांसक कर्म को ही फल देने की योग्यता से मण्डित मानता है। काण्ट की दृष्टि में ईश्वर ही मानव को कर्तव्व करने की ओर प्रेरित करता है, परन्तु मीमासा-मत में कर्तव्य का मूल स्रोत अपौरुषेय वेद ही है। वही हमे निष्काम कर्म करने का आदेश देता है और हमे उसकी आज्ञा का पालन कर्तव्य-बुद्धि से करना चाहिए।

वैदिक कर्मों का फल है स्वर्ग की प्राप्ति। निरतिशय सुख का ही अपर नाम स्वर्ग है। '**स्वर्गकामो यजेत**' वाक्य यज्ञ का सम्पादन स्वर्ग की कामना के लिए विधान करता है, परन्तु अन्य दर्शनों मे मोक्ष ही मानव-जीवन का लक्ष्य माना गया है। फलत यहा भी मोक्ष की भावना ने प्रवेश किया। सकाम कर्मों के अनुष्ठान से तो पाप-पुण्य होते है, परन्तु निष्काम धर्माचरण से तथा आत्मज्ञान के प्रभाव से पूर्व कर्मो के सचित सस्कार नष्ट हो जाते है और मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा पाकर दु खों से निवृत्ति पा लेता है। वह शरीरादि के बन्धनों से मुक्त हो जाता है और निरतिशय सुख भी प्राप्ति करता है। इस प्रकार मीमांसा के तथ्यों का भी विकास होता रहा है। उपनिषदों के ज्ञान-काण्ड मे कर्म की पर्याप्त निन्दा है। मुण्डक उपनिषद् (१।२।७) ने स्पष्ट शब्दों मे यज्ञ-याग को अदृढ प्लव की सज्ञा दी है। जिस प्रकार कच्चे प्लव (घास-फूस का बना हुआ पार जाने का साधन) पर चढ़-कर नदी के पार नहीं जाया जा सकता, वह व्यक्ति नदी में डूब जाता है, उसी प्रकार यज्ञ को ही श्रेय माननेवाला व्यक्ति जरा-मृत्यु के चक्कर से कभी उद्धार नहीं पाता। संसार के चक्कर में पड़ा ही रहता है।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।

एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥

इस प्रकार मीमांसा के मत पर इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। फलतः पिछले युग के मीमांसकों ने मोक्ष को ही जीवन का उद्देश्य बनाया और इसके लिए आवश्यक माना गया कामनारहित अनुष्ठान का सम्पादन। निष्काम कर्म के प्रति मीमांसकों की आस्था के कारण यह व्यापक परिवर्तन सम्पन्न हुआ, ऐसा मानना अनुचित नहीं प्रतीत होता।

ईश्वर तत्त्व

ईश्वर के विषय में मीमांसा का सिद्धान्त क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना है कि प्राचीन मीमांसा के आचार्यों का मत ईश्वर के निरास की ओर होने पर भी उन्होंने जान-बूझकर तटस्थता स्वीकार की है। उनका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि वे ईश्वर को अपने दार्शनिक तथ्यों की सिद्धि के लिए आवश्यक नहीं समझते। न्याय-दर्शन ईश्वर की अनुमान के द्वारा सिद्धि बतलाता है। जगत् का कर्ता होने से ईश्वर की सिद्धि मानी जाती है, परन्तु मीमांसा को जगत् के स्रष्टा की आवश्यकता ही नहीं है। जगत् तो प्रवाह रूपेण नित्य है, अनादि है। तब जगत् के उदय के लिए ईश्वर की आवश्यकता है क्या? दूसरा आधार ईश्वर की सत्ता के लिए है वेद के कर्तारूप में उसकी मान्यता, परन्तु मीमांसा के मत में वेद स्वतो नित्य है, किसीकी कृति या रचना नहीं है। ऐसी दशा में ईश्वर क्यों माना जाय? तीसरा अवलम्ब ईश्वर की सत्ता का है—फल के दाता या नियन्ता के रूप में ईश्वर की स्वीकृति। परन्तु मीमांसा नितान्त कर्मवादी है। वह कर्मों का फल कर्मों के द्वारा निष्पन्न मानती है। कर्म तथा फल के बीच में 'अपूर्व' का माध्यम वह अंगीकार करती है, जिससे फल की प्राप्ति कर्म करनेवाले को होती है। तब ईश्वर क्यों माने? इसलिए कर्म की श्रेष्ठता पर आस्था रखनेवाली मीमांसा यदि ईश्वर की सत्ता के विषय में तटस्थ वृत्ति धारण करती है, तो हमें आश्चर्य ही क्यों?

कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में 'सर्वज्ञ' का खण्डन किया है। इसे ही विद्वान लोग ईश्वर का खण्डन मानते हैं, परन्तु कुमारिल का उद्देश्य बुद्ध तथा

महावीर के सर्वज्ञत्व के खण्डन की ओर भी है। जो कुछ हो, कुमारिल ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करते हुए नहीं पाये जाते।

प्रभाकर के अनुयायियों के मत का सकेत नन्दीश्वर-कृत 'प्रभाकर विजय' नामक मीमासा-ग्रन्थ मे मिलता है। पाठक जानते है कि वेदान्तमत में ईश्वर श्रुति-वाक्यों के द्वारा सिद्ध किया जाता है (शब्द प्रमाण) और न्याय-दर्शन मे अनुमान द्वारा (अनुमान प्रमाण)। 'प्रभाकर विजय' में आनुमानिक (अनुमान सिद्ध) ईश्वर का खण्डन अवश्यमेव किया गया है, किन्तु श्रौत ईश्वर का अगीकार गौणवृत्या विद्यमान है। इससे प्रतीत होता है कि प्रभाकर भी उस ईश्वर के मानने के पक्ष मे है, जो श्रुति-मूलक वाक्यो के द्वारा प्रमाणित किया जाता है, अनुमानजन्य ईश्वर को नही। प्राचीन मीमासा का मत निरीश्वरवादी ही प्रतीत होता है, परन्तु पिछले मीमांसकों को यह बात खटकी और इन्होने ही ईश्वर को कर्मफल के समर्पण के लिए आवश्यक समझकर स्वीकार कर लिया। इनका मत है कि कर्मफल को ईश्वर को समर्पण करनेवाला व्यक्ति मोक्ष का भाजन होता है और इस प्रकार ईश्वर की मान्यता नव्य मीमासा के ग्रन्थो में हमे देखने को मिलती है।

मोक्ष तथा उसके साधन

मोक्ष के विषय मे प्रभाकर तथा कुमारिल दोनों आचार्यो के मत भिन्न-भिन्न है। प्रथमतः प्रभाकर के मत पर दृष्टिपात कीजिये।

सकल बुद्ध्यादि विशेषगुण विलये सति आत्मनः स्वरूपावस्थानं मोक्षः।

—प्रभाकरमतम्

आत्मा में ज्ञान, सुख-दुःख आदि अनेक विशेष गुण विद्यमान रहते है। जब इन विशेष गुणो का नाश सम्पन्न हो जाता है, तब आत्मा अपने स्वरूप मे अवस्थित होता है। यही मोक्ष कहलाता है। मोक्ष की दशा मे आत्मा को आनन्द का अनुभव नही होता। मीमासा के मत मे चैतन्य आत्मा का स्वाभाविक गुण नही है, वरन शरीर आदि के सम्पर्क मे आने पर ही उसे सुख-दुःख का अनुभव होता है। मोक्ष-दशा मे आत्मा शरीरादिकों से

विच्छिन्न हो जाता है। फलतः साधन के अभाव में सुख का अनुभव उस समय नहीं हो सकता। तब उस दशा के लिए प्रयत्न ही क्यों किया जाय? बात यह है कि इस दशा में सब दुःखों का सर्वथा नाश हो जाता है और आत्मा सुख-दुःख से परे अपने विशुद्ध रूप में विद्यमान हो जाता है। यही मुक्त दशा है, जो आनन्दमय न होने पर भी वाञ्छनीय है। इस कल्पना पर कुमारिल की आलोचना यह है—यदि सुख का विलय यानी नाश हो जाता है मुक्त दशा में, तो वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता। समस्त प्राणी सुख के लिए ही लालायित रहते हैं और उसीकी प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की चेष्टा तथा व्यापार किया करते है। जब सुख ही की उपलब्धि नहीं, तब यह तो अपुरुषार्थ हुआ। इसलिए कुमारिल अपनी कल्पना को अग्रसर करते है। उनकी सम्मति में मोक्ष क्या है—

दुःखात्यन्त समुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्ति रुक्ता कुमारिलैः॥

—मानमेयोदय, पृ० २१२

—दुःख के अत्यन्त नाश हो जाने पर आत्मा मे पहले से विद्यमान होने-वाले सुख का जब मन के द्वारा उपभोग या अनुभव किया जाता है, वही मुक्ति है। इस विवरण से स्पष्ट है कि कुमारिल मुक्तावस्था मे आनन्द का अनुभूति मानते है, जबकि प्रभाकर मुक्त दशा में दुःख के समान सुख का भी सर्वथा उच्छेद मानते है। कुमारिल की आनन्दमयी मुक्ति की कल्पना वेदान्तियों की कल्पना के समान है। प्रभाकर की सुखोच्छेदमयी मुक्ति नैयायिक कल्पना के सदृश है।

मुक्ति के साधनों के विचार के अवसर पर कर्म के भेद से परिचय पाना नितान्त आवश्यक है। कर्म के अनेक प्रकार हैं—

(क) **काम्य कर्म**, जो किसी कामना या इच्छा की पूर्ति के लिए विहित किया जाता है।

(ख) **निषिद्ध कर्म**, जो निन्दनीय होने के कारण सर्वथा वर्जित किया जाता है।

(ग) **नित्य कर्म**, जिनका अनुष्ठान सर्वदा करना चाहिए। करने से विशेष फल नहीं होता, परन्तु न करने से प्रत्यवाय होता है, जैसे सन्ध्या-

वन्दन। द्विज का धर्म है कि वह सन्ध्या-वन्दन किया करे। यदि करता है, तो कोई विशिष्ट फल इससे उत्पन्न नही होता। परन्तु यदि नही करता, तो निश्चित रूप से उसे पाप का भागी होना पड़ता है।

(घ) **नैमित्तिक कर्म**—किसी निमित्त को लक्ष्य कर किया जानेवाला कर्म। जैसे सक्रान्ति के अवसर का स्नान-दान। संक्रान्ति का पर्व पुण्यदायक माना जाता है। अतएव उसे लक्ष्य कर किया गया कर्म नैमित्तिक कहलाता है।

(ङ) **प्रारब्ध कर्म**—वह कर्म, जिसने अपना फल देना आरम्भ कर दिया है। अन्य कर्मो के नाश होने के अनेक उपाय या साधन बतलाये गए है, परन्तु प्रारब्ध कर्म के लिए यह बात नही। इसका तो नियम है—**प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः** अर्थात् प्रारब्ध कर्मो का क्षय तभी होता है जब उन्हे भोग लिया जाता है। इससे बिना भोग के किसी दूसरे उपाय से छुटकारा मिलना एकदम असभव है।

अब मुक्ति की प्रक्रिया को समझना चाहिए। निषिद्ध तथा काम्य कर्मो से चित्त को अच्छी तरह से पहले हटा लेना चाहिए। इसके अनन्तर नित्य, नैमित्तिक तथा प्रायश्चित्त कर्मो का अनुष्ठान करना चाहिए, जिससे प्राणी के समस्त पातक ध्वस्त हो जाय। दुःख तथा सुख की अनुभूति से प्रारब्ध कर्म को क्षीण कर देना चाहिए। ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए तथा शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि शोभन गुणों का सम्पादन करना चाहिए। वेदान्त के द्वारा प्रदर्शित मार्ग से आत्मा की मीमांसा करनी चाहिए। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन—आत्म-साधना के ये तीन उपाय वेदान्त मे बहुशः वर्णित है। इन्ही उपायों का अवलम्बन कर आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिए। तब आनन्द देनेवाली मुक्ति प्राप्त होती है—

कुर्वाणस्यात्ममीमांसां वेदान्तोक्तेन वर्त्मना।
मुक्तिः सम्पद्यते सद्यो नित्यानन्दप्रकाशिनी॥

—मानमेयोदय, पृ० २१३

यह स्पष्ट ही 'कर्म-ज्ञान-समुच्चयवाद' है। कर्म के अनुष्ठान से मनुष्य पाप से निवृत्त, प्रारब्ध-कर्म के भोग से शान्त तथा शम-दम के अभ्यास से पूर्ण मुमुक्षु बनता है। तब ज्ञान के द्वारा आत्मा के स्वरूप को भली-भाति जान-

कर जीव अपने आनन्दमय रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। मुक्ति की यही प्रक्रिया सामान्यतः मीमासकों को अभीष्ट है। इसलिए मीमासकों को केवल कर्मी या शुष्क कर्मवादी कहना उचित नही है। वे वेदान्तियो के समान ही आत्मज्ञान के भी पक्षपाती है और ज्ञान को भी कर्म के साथ-ही-साथ मुक्ति के लिए आवश्यक मानते है।

: ६ :

वेदान्त

भारतीय दर्शन के सम्प्रदायो मे वेदान्त शीर्षस्थानीय माना जाता है। यह भारतीय दर्शन के मन्दिर का जगमगाता कलश है। 'वेदान्त' शब्द का अर्थ है वेद का अन्त या सिद्धान्त। इस शब्द का प्रयोग उपनिषदो में ही किया गया है। **वेदान्त विज्ञानसुनिश्चतार्थाः** (मुण्डक ३।२।६), **वेदान्ते परमं गुह्यम्** (श्वेताश्वतर ६।२२), **यः वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः** (महानारायण १०।८)। इस प्रकार 'वेदान्त' शब्दकी प्राचीनता स्पष्टतः सिद्ध है।

'वेदान्त' के अनेक अवान्तर सम्प्रदाय है। यह दर्शन उपनिषदो के सिद्धान्तो पर पूर्णतया आश्रित है। उपनिषदों के सिद्धान्तो मे एकवाक्यता तथा समरसता लाने के अभिप्राय से 'ब्रह्मसूत्रों' का प्रणयन बादरायण व्यास ने किया। इन्ही ब्रह्मसूत्रों के भाष्य के रूप में वेदान्त के नाना सम्प्रदायो का तथ्य अन्तर्निहित माना जाता है। वेदान्त के मुख्य सम्प्रदाय है—१ अद्वैत २. विशिष्टाद्वैत, ३. द्वैत, ४ अचिन्त्य भेदाभेद, ५. द्वैताद्वैत, ६. शुद्धाद्वैत। इनमें अद्वैत वेदान्त की प्रधानता है। यहा इस सम्प्रदाय का विशेष वर्णन किया गया है। वेदान्त के इतर सम्प्रदायों का परिचय अगले खण्ड में पृथक् रूप से दिया जायगा।

साहित्य

अद्वैत वेदान्त का साहित्य परिणाम तथा पाण्डित्य की दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण है। यहां हम अद्वैत वेदान्त-संबंधी साहित्य के प्रणेता प्रमुख आचार्यों और उनके ग्रंथों का संक्षेप में उल्लेख कर रहे है। अद्वैत वेदान्त के

आचार्यों में शकराचार्य का स्थान गौरव तथा गरिमा से मण्डित है। उनके पूर्ववर्ती आचार्यों मे गौडपाद का स्थान तथा नाम महनीय है। इन्होंने मण्डूक उपनिषद के ऊपर जो कारिकाबद्ध भाष्य लिखा है, वह अद्वैत वेदान्त का मूल स्रोत माना जाता है तथा 'माण्डूक्य कारिका' के नाम से प्रख्यात है। शंकराचार्य (सप्तम शती) की अलौकिक बुद्धि तथा व्यापक पाण्डित्य इतना विशाल है कि वह भगवान् शकर के ही अवतार माने जाते है। उनके ग्रंथों मे सर्व श्रेष्ठ है—उपनिषद्-भाष्य, ब्रह्मसूत्र-भाष्य तथा गीता-भाष्य। उन्होंने सामान्य जनता के ज्ञानवर्धन तथा कल्याण के लिए अनेक शास्त्रों की रचना की है, जो सस्कृतज्ञो की जिह्वा पर नाचते है। आचार्य के साक्षात् शिष्यो मे सुरेश्वराचार्य और पद्मपादाचार्य ने अपने गुरु के ग्रथों पर सरल भाष्यो का प्रणयन किया। इनमे सुरेश्वर 'वार्तिकाचार्य' के नाम से प्रख्यात है, क्योकि उन्होंने आचार्य के बृहदारण्यक-भाष्य तथा तैत्तिरीय-भाष्य के ऊपर अपना वार्तिक लिखा है। इन्हींके शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि ने ब्रह्मसूत्रो के ऊपर 'सक्षेप शारीरक' नामक प्रख्यात पद्यबद्ध व्याख्या-ग्रंथ लिखा है।

वाचस्पति मिश्र (नवम शता) की 'भामती' पाण्डित्य का निकषग्रावा मानी जाती है, जिसमे ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य के ऊपर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की गई है। चिन्मुखाचार्य (तेरहवी शती) अपनी प्रधान कृति 'तत्त्व-दीपिका' (प्रसिद्ध नाम चित्सुखी) के कारण विख्यात हो गये है। विद्या-रण्य स्वामी ने शृगेरी पीठ की गद्दी पर प्रतिष्ठित होकर अनेक सुलभ ग्रथों की रचना की, जिसके कारण अद्वैत के सिद्धान्त विशेष लोकप्रिय हो गये। ऐसे ग्रंथों में 'पचदशी' विशेष विख्यात है। इनके अन्य ग्रथ है—जीवन्मुक्ति-विवेक, विवरण प्रमेयसंग्रह, बृहदारण्यक वार्तिक-सार आदि, जिनमे वेदान्त के रहस्यों का उद्घाटन बड़ी मार्मिकता से किया गया। अप्पयदीक्षित (पन्द्रहवीं शती) वेदान्त के एक अलौकिक विद्वान् ही न थे, प्रत्युत उच्च कोटि के साधक भी थे। उनकी रचनाओं मे 'कल्पतरु परिमल' भामती की व्याख्या 'कल्प-तरु' (अमलानन्द-रचित) की टीका है तथा 'सिद्धान्तलेश' वेदान्त के विविध मतों का सागोपाग विवेचन प्रस्तुत करता है। मधुसूदन सरस्वती सोलहवी-सत्रहवी शती मे काशी के संन्यासियों में अग्रगण्य थे। इनका सर्वश्रेष्ठ

ग्रंथ है—'अद्वैतसिद्धि', जिसके द्वारा द्वैतवाद का प्रबल युक्ति से खण्डन कर अद्वैत तत्त्व की प्रभा का सर्वत्र विस्तार किया गया है। यह ग्रथ पाण्डित्य की दृष्टि से श्रीहर्ष के 'खण्डन खण्ड खाद्य' का समकक्ष माना जाता है। नृसिंहाश्रम सरस्वती मधुसूदन के समकालीन ही काशीस्थ सन्यासी थे, जिनके वेदान्त-तत्त्व-विवेक, भेदधिक्कार आदि ग्रथ इनकी कीर्ति को स्थायी बनाने मे पर्याप्त माने जा सकते है। धर्मराजाध्वरीन्द्र (जो नृसिंहाश्रम के प्रशिष्य और वेकटनाथ के शिष्य थे) का लोकप्रिय ग्रथ 'वेदान्त-परिभाषा' वेदान्त सम्मत प्रमाणामीमासा के ऊपर नितान्त प्रामाणिक माना जाता है। सदानन्द का 'वेदान्तसार' थोड़े मे अद्वैत के तत्त्वों का विवेचन करता है और वेदान्त के छात्रों के लिए सरल पाठ्य-ग्रंथ का काम करता है।

अद्वैतवाद की दृष्टि

अद्वैतवाद का मुख्य सिद्धान्त है कि इस जगत् में एक ही परम तत्त्व है, जिसको 'ब्रह्म' नाम से पुकारते है। उसे छोडकर कोई भी दूसरी सत्ता विद्यमान नहीं है। यह मत आचार्य शकर के ग्रंथों में बडी सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किया गया है। शकराचार्य की दृष्टि बडी व्यापक और उदार थी। वह सकीर्णता से दूर थे और थे उदारता के प्रतीक। तभी तो वह द्वैतवाद से अपने अद्वैत सिद्धान्त को कथमपि विरुद्ध नही मानते। शकराचार्य का यह कथन ध्यान देने योग्य है—

तेषां द्वैतिनां द्वैत दृष्टिः। अस्माकम् अद्वैत दृष्टिः। तैः अस्मदीयोऽयं वैदिकः सर्वानन्यत्वात् आत्मैकत्वदर्शनपक्षो न विरुध्यते यथा स्वहस्त पादादिभिः।

—माण्डूक्य कारिका-भाष्य, ३।१७-१८

तात्पर्य यह है कि अद्वैत दृष्टि मे आत्मा की एकता या अद्वितीयता ही सर्वथा प्रतिपादित की जाती है। यह वैदिक सिद्धान्त सबसे अभिन्न होने के कारण किसीसे विरोध नही मानता। द्वैतवादियो के नाना सम्प्रदाय—जैसे साख्य, जैन, वैशेषिक, नैयायिक आदि—अद्वैतवाद की दृष्टि में अद्वैत के नाना अवयवों के समान है। जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति अपने हाथ-पैर, आंख-कान आदि अगो से विरोध नही मानता, उसी प्रकार अद्वैत द्वैतवादियों से कथमपि विरोध नहीं मानता। शकर की यह उदार दृष्टि बड़े

ही गौरव तथा महत्त्व से पूर्ण है।

मायावाद के विषय मे भी शंकर के मत की बडी खिल्ली उडाई गई है। परन्तु शंकर का वास्तव मतवाद बडा ही सरल और सुबोध है। शकर यह नही कहते कि विश्व माया है, प्रत्युत उनका कहना है कि यह जगत् ब्रह्म से अनन्य है। वह यह नही कहते कि जगत् ब्रह्म है; यह तो सर्वेश्वरवाद हो जायगा। और न यही कहते है कि जगत् का अस्तित्व नहीं है। उनका कहना है कि जैसे मिट्टी का पात्र—घडा, जलपात्र आदि—मिट्टी से अभिन्न है, वैसे ही जगत् ब्रह्म से अभिन्न है, विश्व का सार्वभौम नियम है कि जो वस्तु जिससे अपने रूप को प्राप्त करती है (आत्मलाभ), वह उससे अविभक्त देखी जाती है, जैसे मिट्टी से घडा। घडा मिट्टी से बना हुआ होता है और इसलिए वह मिट्टी से विभक्त नही रहता। ब्रह्म तथा जगत् के विषय मे भी यही सिद्धान्त जागरूक है। यह जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है। फलतः यह ब्रह्म से अविभक्त रहता है—

यस्य च यस्मादात्मलाभो भवति, स तेन अविभक्तो दृष्टः। यथा घटादीनि मृदा।

—बृहदारण्यक-भाष्य, ३।५

एक दूसरा दृष्टान्त लीजिये, इस अभिन्नता के विषय में, समुद्र तथा तरंग का। समुद्र से फेन, लहर, तरग, बुद्बुद आदि नाना वस्तुए समय-समय पर उत्पन्न होती रहती है। इनके पारस्परिक भेद है। फेन और लहर का आपस मे भेद इतना स्पष्ट है कि इसे विशेष रूप से बतलाने की आवश्यकता नहीं। परन्तु परस्पर-विरोधी होने पर भी ये दोनों अपने कारणभूत समुद्र से कथमपि भिन्न तथा विरुद्ध नही होते। यही दशा जगत् तथा ब्रह्म की है। जगत् के पदार्थ आपस मे भिन्न अवश्य है, घडा कपडा एक नही और न कलम-पेन्सिल एक है। ये सब पदार्थ ब्रह्म से, जो इनकी कारणभूत सत्ता है, कथमपि भिन्न, विभक्त या विरुद्ध नही हो सकते। आचार्य शकर के वचन इस विषय मे स्पष्ट तथा रोचक है—

न च समुद्रात् उदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेन तरङ्गादीनाम् इतरेतरभावापत्तिर्भवति। न च तेषाम् इतरेतरभावानापत्तावपि

समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति ।।

—शाकर-भाष्य, ब्रह्मसूत्र, २।१।१३

इसी प्रकार सोने का गहना सोना ही है और एक चिनगारी अग्नि ही है। कार्य रूप मे दिखाई पडने पर भी कारण के अस्तित्व का लोप नही हो जाता। कार्य की आपेक्षिक वास्तविकता है और कारण की निरपेक्ष वास्तविकता है। इस तथ्य का कथमपि अपलाप नही किया जा सकता। गौ सदा ही गौ है, प्रत्येक दशा मे वह गौ ही होती है, चाहे वह खडी हो या बैठी रहे। क्या गौ खड़ी या बैठी रहने पर ही गौ रहती है और सोते समय घोड़ा या कोई दूसरा पशु बन जाती है ? नही, कभी नही, वह हमेशा गौ ही है—

नहि लोके गौः तिष्ठन् गच्छन् वा गौर्भवति । शयानस्तु अश्वादि जात्यन्तरम् ।

—बृहदारण्यक-भाष्य, २।१।२०

ब्रह्म की भी यही दशा है। सब प्रत्येक दशा मे ब्रह्म ही रहता है, चाहे वह मनुष्य पशु आदि जगत् के कार्य रूपो मे भले ही वर्तमान रहे। शकर का ठीक ही कहना है कि यह सब भावना का खेल है। जब आप किसी लकड़ी के बने हाथी में हाथी की भावना करते है, तब आपकी चेतना मे लकड़ी का लोप हो जाता है, परन्तु लकडी का अस्तित्व तो बराबर बना ही रहता है। जब आप उसमे लकड़ी की भावना करते है, तब हाथी गायब हो जाता है, परन्तु लकड़ी वहा बराबर मौजूद रहती है, सदा रही है और सदा रहेगी। जगत् और परमात्मा के सम्बन्ध के विषय मे भी यह दृष्टान्त बड़ा ही समर्पक तथा उपयुक्त है।

दन्तिनि दारुविकारे दारु तिरोभवति सोऽपि सर्वत्र ।
जगति तथा परमात्मा परमात्मन्यपि जगत् विरोधत्ते ।।

श्रुति जगत् की सत्ता को न स्वीकार करती है और न अस्वीकार करती है। वह जगत् को 'अनिर्वचनीय' मानती है। आचार्य शकर 'माया' के लिए भी इसी विशेषण का प्रयोग करते है।

अहो अति गम्भीरा दुरवगाह्या विचित्र माया चेयम् ।

—कठ-भाष्य, १।३।१२

—अर्थात् यह माया अत्यन्त गहन, दुस्तर एव विलक्षण है। जगत् न तो असत् है और न सत्। यह एक आश्रित और आपेक्षिक सत्य है, क्योंकि ब्रह्म की अनुभूति करनेवाले व्यक्ति की दृष्टि मे यह बाधित हो जाता है। ब्रह्म ही इस आपेक्षिक सत्य का कारण है, आधार है और पोषक है।

जगत् के पदार्थों मे पाच अशवाला अनुभव होता है—अस्ति, भाति, प्रिय, नाम तथा रूप। हमारे सामने पुस्तक पडी हुई है। वह विद्यमान है (अस्ति), वह प्रकाशित हो रही है; वह हमारे ज्ञान का विषय है (भाति); उसे देखकर मुझे आनन्द मिल रहा है; उसे पढने से नाना चमत्कारी विषयों की उपलब्धि होने से चित्त मेरा खिल उठता है (प्रियम्); उस वस्तु का एक नाम है—पुस्तक (नाम) और उसका एक निश्चित रूप है—वह कागज के ऊपर स्याही मे छपी एक आकार धारण करती है। यह है उसका रूप। इन पाचों मे से प्रथम तीन तो ब्रह्म के रूप है—अस्ति (सत्), भाति (चित्) प्रियम् (आनन्द), क्योंकि ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है। अन्तिम दो—नाम और रूप—जगत् के रूप है। जगत् के पदार्थों मे हमारी यह अनुभूति उभय रूप के मिश्रण का परिणत फल है।

अस्ति भाति प्रिय रूप नाम चेत्यंशपचकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगदरूपं ततो द्वयम्॥

जगत् की अनुभूति का आधार ब्रह्म है। वही इसका अधिष्ठान ठहरा। उसके बिना इसकी अनुभूति उसी प्रकार असिद्ध है, जिस प्रकार दीवार के बिना चित्र, समुद्र के बिना तरग, सुवर्ण के बिना अगूठी। यह जगत् ब्रह्म के ऊपर अध्यस्त होकर ही अपनी सत्ता बनाये हुए रहता है। आधार की सत्ता निरपेक्ष है और आधेय (जगत्) की सत्ता सापेक्षिक है।

व्यवहार दशा मे प्रत्येक जीवात्मा दूसरे जीवात्मा से उसी तरह भिन्न है, जैसे जड प्रकृति का प्रत्येक अणु दूसरे से भिन्न है। किन्तु जैसे जड प्रकृति के प्रत्येक अणु की सत्ता केवल अभिन्न ब्रह्म से है, उसी प्रकार प्रत्येक जीव का अस्तित्व केवल ब्रह्म को लेकर है। मन, इन्द्रिय और शरीर जीव की उपाधियां है। यही जीवात्मा पचकोशो के साथ तादात्म्य स्थापित कर अपनेको कर्ता तथा भोक्ता समझने लगता है, जिससे उसका वास्तव रूप, जो ब्रह्म से अभिन्न है, छिप जाता है। इसी अभ्यास के कारण उसे सुख तथा दुःख

का अनुभव होता है। सुख-दुःख तो वास्तव में प्रकृति के राज्य की वस्तुएं है, इसकी सूचना गीता देती है जब वह इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति को भी महाभूतो के साथ 'क्षेत्र' की कोटि मे रखती है। केवल जीव को 'क्षेत्रज्ञ' मानती है। जीव ब्रह्म से भिन्न वस्तु नही है। अगर जीव अपनेको आवरणो से मुक्त कर ले तो जो कुछ बच जाता है, वह शून्य नही होता; अभाव नही होता, अपितु ब्रह्म ही होता है, जो शुद्ध चैतन्य, शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप, शुद्ध और अनन्त सत्य एव ज्ञान है। वह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है। मन और ज्ञानेन्द्रियां नाम-रूप की विविधता के हेतु है। यदि हम खिडकी के बहुरंगी शीशो के भीतर से आकाश को देखे तो आकाश बहुरंगी नहीं हो जाता, प्रत्युत वह उसी प्रकार सदैव अपनी अनन्त नीलिमा बनाये रहता है। इसी प्रकार नाम-रूप की उपाधियो से ब्रह्म विकार को प्राप्त नही करता, प्रत्युत वह अपनी विशुद्ध अवस्था सर्वदा बनाये रहता है।

तब अपने वास्तव रूप ब्रह्मत्व की सिद्धि तक पहुचने का क्या उपाय है? श्री शकर सदाचारमय जीवन तथा भगवद्-भक्ति पर जोर देते है। एकात्मता की सर्वोच्च अनुभूति का निकटतम मार्ग प्रेम है। प्रेम की सर्वोच्च दशा में प्रेमी को प्रेमपात्र से अपनी भिन्नता का बोध नही होता। इसी प्रकार भक्ति मे भी ईश्वर से हमारी भिन्न सत्ता के बोध का सर्वथा लोप हो जाता है। जिस अविद्या के कारण हमारी भिन्न सत्ता की बुद्धि उत्पन्न हुई है, वह विद्या से दूर हो जाती है। बन्धन और मुक्ति दोनो के साधन एक-दूसरे का बाध कर देते है और शुद्ध ब्रह्म का अपरिमेय और अनन्त आनन्द-मात्र रह जाता है। आचार्य शकर का कथन है कि जीव परमात्मा का ही अश है, किन्तु उसका ज्ञान और ऐश्वर्य छिपा रहता है—

जीवः परमात्मांश एव सन् तिरोहित ज्ञानैश्वर्यो भवति।

जीव तथा परमात्मा के विषय मे शकराचार्य का यह कथन कितना युक्ति-युक्त है—"तो क्या जीव ईश्वर का समानधर्मी नही है? नही है, सो बात नहीं है। अविद्या आदि के व्यवधान से यह समानधर्मिता रहने पर भी छिपी रहती है। यह छिपी हुई समानधर्मिता ईश्वर के ध्यानपूर्वक यत्न करनेवाले किसी विरले व्यक्ति मे, जिसका हृदयान्धकार ईश्वर की कृपा से दूर हो जाता है और जिसे अपने प्रयत्न मे सिद्धि प्राप्त होती है, उसी प्रकार प्रकट

होती है जैसे औषध के प्रयोग से अन्धे को दृष्टि मिल जाती है। परन्तु स्वभावतः सभी जीवों को ऐसा नहीं होता।"[1]

तथ्य यह है कि आत्मा में असीम सामर्थ्य है। यदि हमारे प्रयत्न से इसे उद्बुद्ध किया जा सके, तो यह सामर्थ्य हमारी वासनाओं के बन्धन को तोड़कर बाहर आ जायगी वैसे ही, जैसे अग्नि की शिखा चारों ओर फैले हुए धुएं को भेदकर ऊपर आ जाती है और शीघ्र ही धुएं का स्थान अग्नि ले लेती है। गीता में उच्चतर प्रयत्न या सिद्धि का क्रम इस प्रकार है—निष्काम कर्म, ध्यान-योग, भक्ति और ज्ञान। याद रखना चाहिए कि अद्वैती का जीवन अकर्मण्यता, आरामतलबी या भाग्य के भरोसे बैठे रहने का जीवन नहीं है; वरन कठोर साधना का जीवन है—जो साधना सर्वोच्च अनुभूति की सिद्धि तक लगातार चलती रहती है।

शंकर के मत में ईश्वर ही जगत् का कर्ता, भर्ता और संहर्ता है और वही कर्मानुसार जीवों को पुरस्कार या दण्ड देता है—

स हि सर्वाध्यक्षः सृष्टिस्थिति संहारान् विचित्रान् विदधत् देशकाल-विशेषाभिज्ञत्वात् कर्मिणां कर्मानुरूपं फल सम्पादयतीत्युच्यते।

—ब्रह्मसूत्र-भाष्य, ३।२।३८

शंकर ईश्वर की सत्ता मानते ही हैं, यद्यपि इसे वह कहीं 'अविद्या-कल्पित' भी मानते हैं। एक प्रख्यात श्लोक इस तत्त्व का द्योतक है—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

—ब्रह्मसूत्र-भाष्य, ३।३।१

—अर्थात् ब्रह्म चिन्मय, अद्वितीय, निष्कल तथा अशरीरी वास्तव में है, परन्तु उपासकों की उपासना के लिए उसीके रूप की कल्पना की जाती है। आशय यह है कि ईश्वर अविद्या की कल्पना है। उन्होंने स्पष्टतः लिखा है कि ब्रह्म का केवल एक ही रूप होता है।

परन्तु उपनिषदों के समान शंकर भी ब्रह्म के दो रूप मानते हैं—एक वह जो नाम, रूप, विकार तथा भेदरूप उपाधियों से युक्त है और दूसरा वह, जो सब प्रकार की उपाधियों से रहित है।

[1] ब्रह्मसूत्र-भाष्य, ३।२।५

द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते—नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्-विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्।

—ब्रह्मसूत्र-भाष्य, १।१

उपनिषद् बारबार घोषणा करते है कि ब्रह्म मूर्त तथा अमूर्त दोनों है। वे ईश्वर की सत्ता का उतने ही प्रबल रूप मे उद्घोषित करते है, जितने जोर से वे निर्गुण अथवा निराकार ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते है।

अद्वैत वेदान्त के ये ही मूल तत्त्व है। उसकी दृष्टि नितान्त व्यापक है। अब इन्ही तत्त्वों का कुछ विस्तार से प्रतिपादन किया जा रहा है।

माया क्या है ?

माया का स्वरूप जानने के लिए आचार्य शंकर ने अनेक दृष्टान्तों की उद्भावना की है। यह जगत् इस समय सृष्टिकाल में नाम-रूपात्मक व्यक्त रूप मे है, परन्तु इसकी एक पूर्वावस्था भी होती है, जो अव्यक्त रूप में रहती है और वही 'माया' है। यह पूर्वावस्था सांख्य-मत मे भी स्वीकृत की गई है और वही 'प्रधान', अव्यक्त', 'मूल प्रकृति' आदि नाना शब्दों के द्वारा व्यवहृत की गई है। परन्तु वेदान्तियों की 'माया' सांख्य की 'प्रकृति' नही है। सांख्य-दर्शन 'प्रकृति' को 'पुरुष' के समकक्ष एक स्वतन्त्र तत्त्व मानता है और कहता है कि 'प्रकृति' स्वतः, बिना किसी दूसरे के द्वारा नियन्त्रित की गई, स्वतन्त्र रूप से जगत् का परिणाम सिद्ध करती है। परन्तु अद्वैत वेदान्त यह बात नही मानता। आचार्य शंकर का इस विषय मे कथन है—

जगत् की प्रागवस्था को अद्वैत वेदान्ती अवश्य मानता है, परन्तु वह उसे परमेश्वर के आधीन मानता है, स्वतन्त्र नही। इस अवस्था का मानना नितान्त आवश्यक है। इसका प्रयोजन है, क्योंकि इसके बिना परमेश्वर जगत् का स्रष्टा हो नही सकता। शक्ति से रहित होने से उसकी प्रवृत्ति कथमपि उत्पन्न नहीं होती।[1]

तात्पर्य यह है कि माया परमेश्वर की शक्ति है। जिस प्रकार शक्ति के द्वारा ही शक्तिमान् अपने कार्य मे प्रवृत्ति लाभ करता है, उसी प्रकार

[1] ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य, १।४।३

माया के द्वारा ही परमेश्वर सृष्टि के कार्य मे प्रवृत्त होता है। वट के दाने में जिस प्रकार वट वृक्ष की शक्ति वर्तमान रहती है, उसी प्रकार यह 'अव्यक्त' नाम से उल्लिखित वस्तु भी परमात्मा मे शक्ति के समान ओत-प्रोत रूप से विद्यमान रहती है—

वट कणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः।

—कट-भाष्य, १।३।११

शंकराचार्य माया तथा अविद्या को पर्यायवाची शब्द मानते हैं। अर्थात् 'माया' ही 'अविद्या' शब्द के द्वारा भी अभिहित की जाती है। शंकराचार्य का यह कथन सारगर्भित है—

अविद्यात्मिका हो बीजशक्तिः अव्यक्त शब्द निर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः, यस्यां स्वरूप प्रतिबोध-रहिताः शेरते संसारिणो जीवाः।

—ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य, १।४।३

तात्पर्य यह है कि अविद्या स्वरूप वह बीज की शक्ति है। अव्यक्त शब्द के द्वारा वह अभिहित की जाती है। वह परमेश्वर के आश्रय मे रहती है और इस प्रकार वह साख्यो की सत्य-स्वतन्त्र 'प्रधान' से विलक्षण है। वह प्रसिद्ध माया के समान है। जैसे लोक मे माया मायावी के अधीन होती है, वैसे ही यह अविद्या परमेश्वर के अधीन है, परतन्त्र है और साख्य-कल्पित 'प्रधान' के समान स्वतन्त्र नही है। यह महासुप्ति की अवस्था है, जिसमे स्वरूप ज्ञान से विरहित ससारी जीव सोते रहते है। इस अव्यक्त की सत्ता उपनिषद् के नाना वचनो से प्रमाणित होती है, जो इसे अनेक नामों के द्वारा अभिहित करता है। यह अव्यक्त 'आकाश' कहा गया है—

"एतस्मिन्नेव खल्वक्षरे गार्ग्य आकाश ओतश्च प्रोतश्च।"

—बृहदारण्यक, ३।८।११

इसका कारण यह है कि आकाश होता है अनवच्छिन्न वस्तु, किसीके द्वारा सीमित नही किया गया पदार्थ। यह 'अव्यक्त' भी ऐसा ही अनवच्छिन्न है। मुण्डक (२।१।२) के अनुसार यही 'अक्षर' भी कहा गया है, क्योकि बिना तत्त्व-ज्ञान के इसकी निवृत्ति कथमपि नही होती। विचित्र कार्य करने के कारण इसीका नाम 'माया' है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।

—श्वेताश्वतर, ४।१०

माया को अव्यक्त कहने का कारण यह है कि यह ब्रह्म से अभिन्न है या भिन्न, इसका निरूपण नही किया जा सकता।

अव्यक्ता हि सा माया। तत्त्वान्यत्व निरूपणाशक्यत्वात्।

—ब्रह्मसूत्र शाकर-भाष्य, १।४।३

इसी कारण यह 'अनिर्वचनीय' पद के द्वारा अभिहित की जाती है। माया 'परिणामी नित्य' है और ब्रह्म 'कूटस्थ नित्य' है। यही ब्रह्म का ऐश्वर्य है और इसीके संयोग को पाकर ब्रह्म 'ईश्वर' या 'महेश्वर' हो जाता है। '**मायिनं तु महेश्वरम्**' मे इसी तथ्य की ओर सकेत है। पूर्वोक्त उद्धरण मे श्री शकर ने इसे 'अविद्या' के द्वारा ही सकेतित किया है, परन्तु यह हमारी व्यष्टि अविद्या या अध्यास से सर्वथा भिन्न है। व्यष्टि अविद्या का विद्या से बाध हो सकता है; परन्तु समष्टि अविद्या या माया ब्रह्म की शक्ति है और व्यष्टि विद्या से इसका बाध या निराकरण नहीं किया जा सकता। यदि एक वामदेव या शुकदेव की मुक्ति विद्या के बल पर हो गई तो इसका अर्थ यह नही है कि ससार का अभाव हो गया। ससार तो वैसे ही बना रहेगा, जैसा वह वामदेव की बद्धावस्था मे था। मूल अविद्या या माया का अस्तित्व फिर भी बना रहता है और बना ही रहेगा। माया भावरूपा है, असत् या अभावरूपा नही है। यह हमारी कल्पना का वस्तु अथवा मिथ्या नही है। यह जगत् का उपादान कारण है। जिस प्रकार मृत्तिका घट का उपादान कारण है, माया भी उसी प्रकार जगत् का उपादान कारण है।

माया की शक्तियां

माया की शक्तियां कितनी है? और अपना कार्य कैसे सिद्ध करती है? इसे ठीक ढग से समझने के लिए जादूगर का उदाहरण लेना चाहिए। सामने एक जादूगर बैठा है। उसका हाथ बिल्कुल खाली है। उसकी हथेली के ऊपर एक तिनका भी नही दिखलाई पड़ता। पहला काम जो वह करता है, यह है कि वह दर्शकों की दृष्टि के ऊपर पर्दा डाल देता है, जिससे असली चीज उनकी आंखों से ओझल हो जाती है। हाथ का असली रूप उन्हे नही दीख पडता। इसे ही साधारण लोग जादूगर का 'आंख बांधना' कहते

है। इसके अनन्तर लोग अचरजभरे नेत्रों से देखते है कि जादूगर की हथेली से खनखनाते हुए सिक्के—रुपया, अठन्नी, चवन्नी आदि—जमीन पर एक के बाद एक गिरने लगते है। देखते-ही-देखते उसके सामने सिक्कों की एक चमकती राशि लोगो के चित्त को आश्चर्य में डाल देती है और वे समझने लगते है कि इस जादूगर ने अपनी बधी हथेली मे से इतने रुपये पैदा कर दिये। यहा जादूगर ने दो काम किये—१. पहले तो उसने लोगों की आंखो पर ऐसा पर्दा डाल दिया कि असली वस्तु उनमे छिप गई और २. दूसरी बात यह कि उसने रुपयों की इतनी बडी राशि उत्पन्न कर दी।

माया की भी ठीक ऐसी ही दो शक्तियां हैं—१. आवरण शक्ति और २. विक्षेपशक्ति। पहली शक्ति के द्वारा वस्तु को वास्तविक रूप तिरोहित कर दिया जाता है और दूसरी के द्वारा एक नई चीज वहा उत्पन्न कर दी जाती है। माया ब्रह्म के वास्तविक रूप को ढक देती है (आवरण) और फिर उसमे अवकाश, पृथ्वी आदि नाना पदार्थों का आरोप कर देती है (विक्षेप)। जिस प्रकार मेघ का एक छोटा-सा टुकडा दर्शको के नेत्रों को ढक लेने के कारण अनेक योजन-विस्तृत आदित्य मण्डल को ढकता मालूम होता है, उसी प्रकार परिच्छिन्न अज्ञान अनुभवकर्ताओं की बुद्धि को ढंक देने के कारण अपरिच्छिन्न आत्मा को आच्छादित-सा कर देता है। इस शक्ति का नाम है—'आवरण' और जब माया ब्रह्म मे जगत् के प्रपंच को उत्पन्न करती है, तब 'विक्षेप शक्ति' का कार्य चलता है। इन दोनों शब्दों के अर्थ पर ध्यान दीजिये। 'आवरण' का अर्थ है ढक देना, असली स्वरूप पर पर्दा डाल देना। 'विक्षेप' का अर्थ है उस वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप कर देना। माया इन्हीं शक्तियों से अपना कार्य सिद्ध करती है। वास्तव मे ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, परन्तु प्रतीत होता है कि यह विराट विश्व उसमे उत्पन्न होकर हमारे नेत्रों को आकृष्ट करता है। यहा वस्तुतः एक ही सत्ता है और वह ब्रह्म है। परन्तु यह विचित्र ससार यहां दृष्टिगोचर होता है। माण्डूक्य कारिका में विक्षेप का बड़ा सुन्दर वर्णन निम्न कारिका मे किया गया है—

यं भावं दर्शयेत् यस्य तं भावं स तु पश्यति।

तं चावति स भूत्वासौ तद्ग्रहः समुपैतितम् ॥

—माण्डूक्य कारिका, २।२९

आशय है कि गुरु उसे जो भाव दिखला देता है, उसे ही वह आत्म-स्वरूप में देखने लगता है और उसका अभिनिवेश भी उसे उसमे होने लगता है। है यह सब माया का ही खेल।

माया और अविद्या

किन्ही वेदान्ताचार्यो ने अपने ग्रन्थों मे अविद्या तथा माया में भेद दिखलाया है और उन्हें वे भिन्न-भिन्न मानते है। विद्यारण्य स्वामी ने अपने प्रख्यात वेदान्त-ग्रन्थ 'पचदशी' मे दोनों मे भिन्नता दिखलाई है—

सत्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्या च ते मते
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः
अविद्यावशगस्त्वन्यः तदवैचित्र्यादनेकधा ॥

भाव यह है कि सत्त्व की शुद्धि और अविशुद्धि के कारण माया और अविद्या दो परस्पर-भिन्न पदार्थ कहे गए है। अर्थात् शुद्ध सत्त्व प्रधान माया होती है और अविद्या मलिन सत्त्वप्रधान कही जाती है। जीव और ईश्वर मे जो भेद है, वह भी इन्हीकी उपाधि के कारण है। 'माया' मे प्रतिबिम्बित चेतन माया को वश मे करके विद्यमान रहता है और तब यह ईश्वर कहलाता है। अविद्या के वश मे रहनेवाला वह चेतन 'जीव' कहा जाता है। इस प्रकार विद्यारण्य की सम्मति मे अविद्या माया से भिन्न पदार्थ है। कही-कही दोनो का लक्षण इस प्रकार दिखलाया गया है—

स्वाश्रयम् अव्यामोहयन्ती कर्तुरिच्छामनुसरती माया। तद्विपरीता अविद्या।

—अर्थात् अपने आश्रय को भ्रान्त नही करती हुई कर्ता की इच्छा का अनुसरण करनेवाली माया है। अविद्या इससे विपरीत है। इन लक्षणों में माया और अविद्या मे भेद प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में दोनों एक ही पदार्थ है। कारण स्पष्ट है। अनिर्वचनीय होना, तत्त्व-प्रतीति का प्रतिबन्धक होना तथा विपरीत ज्ञान का अवभासक होना—ये तीनों लक्षण माया और अविद्या मे समान रूप से पाये जाते हैं। इसलिए दोनों को एक ही पदार्थ मानना न्यायसगत है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में दोनों का ऐक्य

प्रतिपादित किया गया है। **'भूमश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः'** का अर्थ है कि ज्ञान के द्वारा माया की निवृत्ति हो जाती है। यहा ज्ञान के द्वारा निवृत्त होने-वाली अविद्या के लिए ही माया शब्द का व्यवहार किया गया है। फलतः श्रुति की दृष्टि में दोनों एक ही अभिन्न पदार्थ हैं, यही मानना उचित है। स्मृति में भी दोनो की एकता सिद्ध मानी गई है—

तरत्य विद्यां वितथां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाम् अमेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥

श्लोक का आशय है कि भगवान् विद्यारूप हैं। उनके हृदय मे निविष्ट होने पर योगी मिथ्या अविद्या माया को पार कर लेता है। यहा माया और अविद्या का एकत्वेन स्पष्ट व्यवहार किया गया है। आचार्य शकर के पूर्वोक्त प्रतिपादन मे भी यही एकता उदभासित होती है। इस प्रकार वेदान्त ग्रन्थों में औपाधिक भेद मानने पर भी माया तथा अविद्या एक ही अभिन्न तत्त्व है। तथ्य तो यह है कि एक ही पदार्थ वेदान्त के ग्रन्थों में प्रकृति, अज्ञान, माया तथा अविद्या शब्दों के द्वारा व्यवहृत किया जाता है। कार्य के वश से भिन्न-भिन्न नामों का व्यवहार किया गया है, वेदान्त में। जगत् का उपादान कारण होने से वह तत्त्व 'प्रकृति', विधान के विरोधी होने से 'अविद्या', ज्ञान के विरोधी होने से 'अज्ञान' तथा अघटित घटना में पटीयसी (चतुर) होने से 'माया' कहलाता है। **'अघटित घटना पटीयसी'** का तात्पर्य यह है कि जो बात घटने योग्य नहीं है, असम्भव है, उसका सम्पादन करने में माया समर्थ है और इसीलिए माया के लिए इस विशेषण का प्रयोग बहु-लता से किया गया है। यह ब्रह्म की शक्ति है, जो एक होने पर भी त्रिगुणा-त्मिका है अर्थात् सत्त्व, रज तथा तम इन तीनो गुणों की साम्यावस्था है और इसलिए यह 'प्रकृति' नाम से भी प्रख्यात है। जब उसमें रजोगुण और तमोगुण तिरोहित हो जाते है और सत्त्व गुण-प्रधान होता है, तब शुद्ध सत्त्व-प्रधान होने से वह 'माया' कहलाती है। जब सत्त्व गुण तिरोहित होता है और रजोगुण-तमोगुण की प्रबलता होती है, तब मलिन सत्त्व-प्रधान होने पर वही 'अविद्या' कही जाती है। विद्यारण्य का यह मत आरम्भ में ही ऊपर दिया गया है। इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि अवस्था-भेद से औपाधिक भेद होने पर भी वास्तव में माया और अविद्या एक ही अभिन्न

पदार्थ है; इनमे भेद मानना सर्वथा अनुचित है।

अविद्या का आश्रय

अविद्या का आश्रय कौन है? इस विषय मे भी मतभेद है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार अविद्या का आश्रय होता है जीव और विषय है ब्रह्म। इसका आशय है कि ब्रह्म-विषयक अविद्या जीव के आश्रित रहती है। उनका कहना है कि यदि ब्रह्म को अविद्या का आश्रय माना जायगा तो ब्रह्म भी अज्ञ हो जायगा, इसलिए जीव को ही अविद्या का आश्रय मानना युक्तियुक्त है। अर्थात् अविद्या के रहने के कारण जीव अज्ञ बना रहता है। यह है वाचस्पति का मत। परन्तु सक्षेप शारीरक और विवरण के मतानुसार अविद्या का आश्रय शुद्ध चेतन ब्रह्म ही है। उनका कहना है—जीव औपाधिक है। अविद्या उपाधि लगने के बाद ही तो उसे जीव की सज्ञा प्राप्त होती है। उससे पहले अविद्या का आश्रय विशुद्ध ब्रह्म ही हो सकता है। सक्षेप शारीरक का यह प्रख्यात पद्य इस मत का स्पष्ट द्योतक है—

आश्रयत्व विषयत्व भागिनी
निर्विशेषचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो
नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥

तात्पर्य यह है कि निर्विशेष ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय भी है और विषय भी है। एक साथ ही दोनो है। अविद्या पूर्व-सिद्ध है और उसके बाद उसीकी उपाधिवाला जीव न तो अविद्या का आश्रय होता है और न विषय ही होता है। इस मत मे ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय है। ये दोनो मत वेदान्त में बहुत प्रचलित तथा प्रख्यात है।

अध्यास

अध्यास के दूर करने के लिए ही वेदान्त-शास्त्र का आरम्भ किया जाता है, क्योंकि अध्यास ही दुःख का मूल कारण है। तो 'अध्यास' है क्या? शंकराचार्य के शब्दों में—**अध्यासो नाम अतस्मिन् तद् बुद्धिः** अर्थात् तत् से भिन्न पदार्थ में तत् की बुद्धि करना। अर्थात् जो पदार्थ जैसा नहीं है, उसमें उसकी कल्पना करना। 'मिथ्या प्रतीति' का ही दूसरा नाम है—

'अध्यास'। इस अध्यास के अनेक रूप ससार में दृष्टिगोचर होते है। किसी व्यक्ति का पुत्र परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर पुरस्कार के द्वारा समादृत होता है। इस घटना से पिता का आनन्दित होना अध्यास का लोक-बहुल उदाहरण है। किसी पिता की कन्या किसी दुर्घटना में अपनी आंखे खो बैठती है। वह अन्धी हो जाती है। पिता इस घटना से अपनी ही अप्रतिष्ठा समझ लेता है। इन उदाहरणो में बाह्य धर्मो का अध्यास स्पष्ट है (बाह्य धर्माध्यास)। मोटा-दुबला होना, गोरा या काला होना, चलना या बैठना—देह का धर्म है, परन्तु हम इन धर्मो को अपने ऊपर आरोप कर समझने लगते है कि मै ही स्थूल हू, कृश हू, गौर हू, कृष्ण हू, चलता हू या बैठता हू। यह हुआ देह-धर्मो का आत्मा मे आरोप (देह-धर्माध्यास)। गूगा होना, काना होना, बहिरा होना, अन्धा होना—ये सब इन्द्रियों के धर्म है, आत्मा के नही। परन्तु हम अपनेको ही गूगा, काना, अन्धा आदि समझते है (इन्द्रिय-धर्माध्यास)। मै सुन्दर फल खाने की इच्छा करता हूं (काम), पुण्य करने का संकल्प करता हू (संकल्प); मै विश्वनाथजी के दर्शन करने के लिए आज जाऊ या न जाऊ (विचिकित्सा)—आदि बातों में हम लोग आत्मा के ऊपर अन्त.करण के धर्मों का आरोप करते है (अन्तः-करण-धर्माध्यास)। इस अध्यास के ऊपर ही जगत् का व्यवहार चलता है। यह अनादि है, न इसका कही अन्त है, यह स्वाभाविक है। यही कर्तृत्व भोक्तृत्व का प्रवर्तक है; इसीके कारण प्राणी नाना प्रकार के दु.खों का भाजन बना रहता है, क्योंकि वह शुद्ध-बुद्ध-चेतन-मुक्त आत्मा मे इससे विरुद्ध गुणों का आरोप किया करता है। इसीसे सब अनर्थ उत्पन्न होते है। यही अनर्थ का मूल है। इसी अध्यास के उन्मूलन के निमित्त सकल वेदान्त-शास्त्र का आरम्भ किया जाता है। आचार्य शंकर के स्मरणीय शब्दों में—

एवमयम् अनादिः अनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासोः मिथ्याप्रत्ययरूपो कर्तृत्व-भोक्तृत्व-प्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते।

—ब्रह्मसूत्र का शंकरभाष्योपद्घात

ब्रह्म-विचार

अद्वैत वेदान्त मे परम सत्ता के रूप मे 'ब्रह्म' का विवेचन किया गया है। 'ब्रह्म' का लक्षण दो प्रकार से किया गया है—'स्वरूप लक्षण' तथा 'तटस्थ लक्षण'। स्वरूप लक्षण मे वस्तु के तात्त्विक रूप का परिचय मिलता है कि वह वस्तु कैसी है, किस प्रकार की है और किस स्वभाव की है। तटस्थ लक्षण मे वस्तु के किसी आगन्तुक गुण को लक्ष्य करके ही उसका विवेचन किया जाता है। इन लक्षणों को देने मे पहले यह बतलाना आवश्यक है कि ब्रह्म की सत्ता मे प्रमाण क्या है? ब्रह्म का अस्तित्व किस प्रकार जाना जाता है? इस विषय मे प्रत्यक्ष को उपस्थित नही कर सकते, क्योकि ब्रह्म तो अतीन्द्रिय पदार्थ ठहरा और प्रत्यक्ष की सीमा इन्द्रियगम्य पदार्थों तक ही होती है। अनुमान मे लिंग के द्वारा साध्य का अनुमान किया जाता है। ब्रह्म का तो कोई लिंग ही नही। फलत. अनुमान के द्वारा भी उसका प्रामाण्य सिद्ध नही। श्रुति को भी प्रमाण नही माना जा सकता, क्योकि श्रुति ही कहती है—**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**—अर्थात् मन के साथ वाणी उसे न पाकर लौट आती है अर्थात् वह सर्वथा अगम्य है, ऐसी दशा मे ब्रह्म की सत्ता है? इसमे ही सन्देह है। यह है पूर्वपक्षी की आशका।

सिद्धान्त का उत्तर है कि यह आशका निराधार है। अवश्य ही ब्रह्म की सिद्धि मे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण रूप मे प्रस्तुत नही किये जा सकते। परन्तु श्रुति साक्षात् रूप से ब्रह्म का प्रतिपादन करती है। सो भी एक श्रुति नही, अनेक श्रुतिया। '**सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' (तैत्तिरीय, २।२।१) '**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' (बृहदारण्यक, ३।९।२८), '**अयमात्मा ब्रह्म**' (बृहदारण्यक, २।५।१९)—आदि अनेक श्रुतिया स्पष्ट शब्दो मे बतलाती है कि ब्रह्म है। वह सत्य, ज्ञान तथा अनन्त रूप है। फलतः ब्रह्म को मानना नितान्त युक्तियुक्त है। ऊपर उद्धृत निषेधक श्रुति का तब तात्पर्य क्या है? तथ्य यह है कि ब्रह्म के विषय मे विधायक और निषेधक उभय प्रकार की श्रुतियों की सगति विद्यमान है। वाक्यजन्य स्पष्ट स्फुरण रूप अर्थ के निषेध मे निषेध-श्रुति चरितार्थ है और अज्ञान रूप आवरण के भग करने मे विधायक श्रुति चरितार्थ है। इसे समझने के लिए '**घटमहं जानामि**' के

व्यावहारिक दृष्टान्त पर दृष्टिपात कीजिये। जिस समय हम घट का ज्ञान करते है, उस समय बुद्धि और उसमे रहनेवाला चिदाभास (चैतन्य का आभास) दोनो ही घट को व्याप्त करते हैं। हमारे लिए घट के ऊपर एक आवरण पडा हुआ है अज्ञान का, क्योकि उसे हम नही जानते। यहा बुद्धि-रूपी व्याप्ति से घट का अज्ञानरूप आवरण नष्ट हो जाता है। उसे हम जान लेते है कि यह घट नामक पदार्थ है। चिदाभास की व्याप्ति होने से घट का स्फुरण होता है। घट तो स्वय जड पदार्थ ठहरा। उसका स्वय प्रकाश हो नही सकता। इसके लिए चिदाभास की व्याप्ति आवश्यक है। विद्यारण्य स्वामी के इस श्लोक का यही तात्पर्य है—

बुद्धि तत्स्थचिदाभासौ द्वापि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येत् आभासेन घटः स्फुरेत्॥

अब ब्रह्म-विषयक श्रुति-वाक्यो पर विचार कीजिये। 'तत्त्वमसि' श्रुति से ब्रह्म के अद्वैत का ज्ञान हमे होता है। यहा बुद्धि वृत्ति की व्याप्ति के कारण अज्ञानरूपी आवरण का नाश हो जाता है, अर्थात् इस वाक्य के द्वारा हम जान लेते है कि ब्रह्म कैसा है। आवरण के भग होते ही स्वय-प्रकाश-रूप आत्मा का स्फुरण होने लगता है। स्फुरण स्वयसिद्ध होने से वाक्यजन्य ज्ञान का वह फल नही हो सकता। यहा पूर्व अश में विधायक श्रुति चरितार्थ है और द्वितीय अश में निषेधक श्रुति चरितार्थ है। दोनो की एकवाक्यता इस प्रकार सिद्ध है। दोनो मे किसी प्रकार का विरोध नहीं माना जा सकता। इस तरह श्रुति के द्वारा ही ब्रह्म की सिद्धि होती है, यही वेदान्त का परि-निष्ठित मन्तव्य है।

ब्रह्म का लक्षण

ब्रह्म को स्वरूपबोधक श्रुतियां ब्रह्म के सच्चे स्वरूप का बोध कराती है। कुछ श्रुतिया ये है—

१. अयमात्मा ब्रह्म (बृहदारण्यक, २।५।१९)—यह आत्मा ही ब्रह्म है। यह श्रुति ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का बोध कराती है।

२. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्तिरीय, २।२।१)—ब्रह्म सत्य है मिथ्या नहीं; ज्ञान है, जड़ नही है। अनन्त है। उसका कभी अन्त नहीं होता।

३. विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृहदारण्यक, ३।९।२८)—ब्रह्म विज्ञान-रूप

है तथा वह आनन्द-रूप है ।

ब्रह्म का यही सच्चा स्वरूप है। इसलिए इनके द्वारा प्रतिपादित लक्षण स्वरूप लक्षण कहलाता है। तटस्थ लक्षण भी श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है—

१. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म।

—तैत्तिरीय, ३।१

जिससे ये भूत उत्पन्न होते है, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीते है और अन्त में भूत जिसमें प्रवेश करते है, उसको जानो। वही ब्रह्म है।

२. आनन्दाद्धये खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्ति॥

—तैत्तिरीय, ३।६

ब्रह्म से जगत् के प्राणी उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म के द्वारा वे जीते है तथा अन्तकाल मे मरने के समय वे उसीमे प्रवेश करते है। इस प्रकार ब्रह्म को विश्व की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण मानना उनका तटस्थ लक्षण हुआ।

आत्मा का विवेचन

आत्मा का स्वरूप अद्वैत वेदान्त के द्वारा बहुशः विवेचित किया गया है। "स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से पृथक् पचकोश से अतीत, तीनो अवस्थाओं का साक्षी, चौबीस तत्त्वों का आधार अविद्या तथा मायारूपी उपाधि से क्रमशः प्रतीयमान होनेवाले जीव तथा ईश्वर से भिन्न, जो सच्चिदानन्द स्वरूपवाला रहता है, वही आत्मा है।"[1]

इस लक्षण के अन्तर्गत आनेवाले विशेषणों पर ध्यान देना आवश्यक है—

१. आत्मा स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से पृथक् होता है।

(क) कर्म से उत्पन्न, सुख-दुःख आदि भोगों का स्थान, छः विकारो से युक्त, जो यह सामने दृश्यमान देह है यही 'स्थूल शरीर' कहलाता है। छः विकारों के नाम हैं—अस्ति (वर्तमान होना), जायते (उत्पन्न होना),

[1] **तत्त्वबोध, सूत्र २१**

वर्धते (बढना), विपरिणमते (परिणाम को प्राप्त होना), अपक्षीयते (क्षीण होना) तथा विनश्यति (नाश को पाना)। निरुक्त में निर्दिष्ट छः विकारो के ये नाम है। हमारे भौतिक पिण्ड में ये निरन्तर देखे जाते है।

(ख) सूक्ष्म शरीर—यह शरीर पहले शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म है। यह सत्रह कलाओ से युक्त रहता है—पाच ज्ञानेन्द्रिय, पाच कर्मेन्द्रिय पचवायु + मन + बुद्धि। यह भी कर्मजन्य होता है तथा सुख-दुःख आदि भोगों का साधन होता है।

(ग) कारण शरीर—पूर्वोक्त दोनों शरीरो से सूक्ष्म तथा अन्तरग यह शरीर होता है। इन दोनो शरीरों का यह कारण होता है और इसलिए इस नाम से पुकारा जाता है। यह अनिर्वचनीय अनादि अविद्या रूप है तथा अपने रूप को ढकनेवाला होता है एव निर्विकल्परूप होता है। इन तीनों में चैतन्याभिमानी तीन विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।

२. **आत्मा पंचकोषों से अतीत होता है**—कोष शब्द से आवरण, आच्छादन या छिलका आदि समझना चाहिए। जैसे प्याज में एक के ऊपर एक छिलका रहता है और ऊपरी छिलके को हटाते-हटाते हम भीतरी छिलके तक पहुच जाते है। इसी प्रकार से जीव-शरीर मे ये पाच कोष विद्यमान रहते है—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय।

(क) अन्नमय कोष—शरीर का यह सबसे ऊपर का कोष होता है। अन्न के रस से उत्पन्न होकर, अन्न के रस से ही वृद्धि को पाकर, अन्न की रसमयी पृथ्वी में, जो अन्त मे लीन हो जाता है, वही अन्नमय कोष है। इसीकी ऊपर सज्ञा स्थूल शरीर है।

(ख) प्राणमय कोष—यह कोष पहले की अपेक्षा भीतरी होता है। पाच प्राण तथा कर्मेन्द्रियों को मिलाकर प्राणमय कोष सम्पन्न होता है। पंच प्राणों में प्राणवायु हृदय मे रहता है, अपान गुदा में, समान नाभि मे, उदान कण्ठ में तथा व्यान वायु सारे शरीर में रहता है।

(ग) मनोमय कोष—यह दूसरे कोष की अपेक्षा भीतर मे रहता है। मन तथा पांचों ज्ञानेन्द्रियां—ये छहों मिलकर मनोमय कोष का निष्पादन करते हैं।

(घ) विज्ञानमय कोष—यह तीसरे कोष की अपेक्षा भीतरी होता है।

बुद्धि तथा पाचों ज्ञानेन्द्रियां—ये छहों मिलकर विज्ञानमय कोष के नाम से अभिहित होते है। ऊपर वर्णित दोनो कोषो का भेद पचदशी में इस प्रकार बतलाया गया है—

कर्तृत्व करणत्वाभ्यां विक्रियेतान्तरिन्द्रियम्।
विज्ञानमनसी अन्तर्बहिश्चेते परस्परम्॥

—पचदशी, ३।८

श्लोक का तात्पर्य है कि अन्तरिन्द्रिय कभी तो कर्ता रूप और कभी करण रूप से परिणत होती रहती है। जब कर्ता रूप मे परिणत होती है, तब उसको 'विज्ञानमय' कोष कहते है और करण रूप मे परिणत होने पर मनोमय कोष कहते है। पहला भीतर मे होता है और दूसरा बाहर मे। बुद्धि अन्दर रहती है। इसलिए विज्ञानमय अन्तर कोष है। मन उसकी अपेक्षा बाहर रहता है। इसलिए मनोमय बहि:कोष है।

(ङ) आनन्दमय कोष—कारणशरीरभूता अविद्या मे स्थित मलिन सत्त्व, आत्मस्वरूप का अज्ञान रूप और प्रिय, मोद तथा प्रमोद के भावों से युक्त आनन्दमय कोष होता है। वही कारण शरीर है, क्योकि यह चौबीस तत्त्वो का कारण होता है। इसके अनुभव की दिशा इस प्रकार है। जब हम किसी पुण्यकर्म के फल का अनुभव करते है, तब कोई बुद्धि-वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और उसपर आनन्द का प्रतिबिम्ब पड जाता है। भोगो के शान्त होने पर वही बुद्धि-वृत्ति निद्रा के रूप मे विलीन हो जाती है। उस लीन बुद्धि-वृत्ति को ही आनन्दमय कोष कहते है।

आत्मा इन पाचो कोशो से अतीत होता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोषो को आत्मा मानने के लिए कोई भी तैयार नही होता, परन्तु प्रश्न यह है कि आनन्दमय कोष को आत्मा मानने में क्या हानि है। इसका उत्तर यह है कि यह आनन्दमय कदाचित् ही होता है, सर्वदा वर्तमान नही रहता। इसलिए इसे नित्य आत्मा मानना उचित नही है। तो आत्मा कौन है? बुद्धि मे प्रतिबिम्बित आनन्दमय का बिम्ब रूप अर्थात् कारण रूप से वर्तमान होनेवाला जो आनन्द है, वही आत्मा है। उपनिषदों में जहा कही ब्रह्म के लिए 'आनन्दमय' शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहा 'आनन्दमय' का अर्थ है—आनन्द-प्रचुर, क्योंकि ब्रह्मानन्द

सब आनन्दो से बढकर करोडों गुना अधिक बतलाया गया है।

३. **आत्मा तीनों अवस्थाओं की साक्षी है**—अवस्थाएं तीन होती है—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति।

(क) जाग्रत अवस्था तब होती है जब जीव ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा विषयो को जानता है। जागने पर ही हम श्रोत्र से शब्द का, त्वक् से स्पर्श का, चक्षु से रूप का, जिह्वा से रस का तथा घ्राण से गन्ध का ग्रहण करते है। इसलिए इन्द्रियो के द्वारा विषयो की ग्रहण दशा जाग्रत अवस्था कहलाती है। स्थूल शरीर का अभिमानी आत्मा 'विश्व' कहलाता है।

(ख) स्वप्न अवस्था—जाग्रत दशा मे जो कुछ हम देखते है, सुनते है तथा अन्य व्यापार करते है, उससे उत्पन्न वासना के द्वारा जो प्रपच प्रतीत होता है, वही स्वप्न दशा है। इस समय सूक्ष्म शरीर की स्थिति रहती है। इस शरीर का अभिमानी आत्मा 'तैजस' कहलाता है।

(ग) सुषुप्ति दशा—'सुषुप्ति' का अर्थ है सु+सुप्ति=सुन्दर सोना, गाढ़ शयन, गहरी नीद की दशा। हमारा यह व्यावहारिक अनुभव है कि गहरी नीद लेने के बाद जब हम जागते है तब हम कहते है—'आज हम खूब आनन्द से सोये; मुझे कुछ भी पता नही चला कि हम कब खाट पर गये, कहा थे तथा रात कैसे बीत गई।' इस गहरी नीद की दशा की संज्ञा है—'सुषुप्ति'। यह दशा कारण शरीर की स्थिति को सूचित करती है। कारण शरीर के अभिमानी आत्मा को 'प्राज्ञ' कहते है। इन सज्ञाओ का कारण है। समष्टि स्थूल शरीर को 'विराट्' कहते है। इसलिए स्थूल शरीर के देवता 'विश्व' कहलाते है। सूक्ष्म राज्य के सूक्ष्म शरीर-विशिष्ट देवताओं का शरीर तेजोमय होता है। इस कारण सूक्ष्म शरीर का अभिमानी आत्मा 'तैजस' कहलाता है। कारण शरीर सूक्ष्मातिसूक्ष्म है और इस कारण उसके अभिमानी देवता 'प्राज्ञ' कहलाते है।

४. **आत्मा चौबीस तत्त्वों का आधार है**—यहां 'तत्त्व' से अभिप्राय प्राकृतिक विभाग का समझना चाहिए। वेदान्त चौबीस तत्त्वों को मानता है—

(क) पांच ज्ञानेन्द्रिय—श्रोत्र, त्वक्, चक्ष, रसना तथा घ्राण।

(ख) पांच कर्मेन्द्रिय—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ।

(ग) पांच प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

(घ) पांच तन्मात्र—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।

(ङ) चार अन्तःकरण (भीतरी इन्द्रिय)—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।

प्राकृतिक विभाग से सम्बद्ध ये चौबीस तत्त्व होते है और इनका आधार आत्मा ही है। यहा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा प्राण के नाम तथा काम तो सर्वत्र प्रसिद्ध है। 'तन्मात्र' का अर्थ है अपचीकृत या अमिश्रित सूक्ष्म भूत। स्थूल भूत मिश्रित तथा पंचीकृत होता है, जिसका विवेचन आगे किया जायगा। मन का विषय है—संकल्प। मन सकल्प विकल्पात्मक है, क्योंकि वह विचारता है कि यह कार्य करू या न करू। बुद्धि का विषय है—निश्चय। निश्चय करना ही बुद्धि का कार्य है। चित्त का विषय है—स्मरण। अनुभूत विषयों का उद्बोधक कारणों के होने पर स्मरण हुआ करता है। उस समय अन्तःकरण को 'चित्त' कहते है। अहकार का विषय है—गर्व, अभिमान। जब अन्तःकरण किसी दशा मे गर्व या अभिमान करता है, तब वह 'अहकार' कहलाता है।

५. आत्मा या ब्रह्म जीव तथा ईश्वर से भिन्न है—अविद्या की उपाधि मे सम्पन्न ब्रह्म जीव कहलाता है तथा माया रूप उपाधि से युक्त होकर ब्रह्म ईश्वर कहलाता है। ऊपर हमने दिखलाया है कि सामान्यतः एकाकार होने पर भी अविद्या तथा माया में वेदान्ती लोग अन्तर तथा भेद मानते है। शुद्ध सत्त्व-प्रधान माया होती है और अविद्या रजोगुण तथा तमोगुण की प्रबलता के कारण मलिन सत्त्व-प्रधान होती है। अविद्या की उपाधि से युक्त होने पर ब्रह्म 'जीव' कहलाता है। जीव तथा ईश्वर का अन्तर स्पष्ट है। अविद्या जीव को अपने वश में करके, अपने अधीन करके, फसा लेती है और उसे बन्धन मे डाल देती है। परन्तु विद्यारूपिणी माया (शुद्ध सत्त्व की प्रधानता के कारण) सर्वदा ईश्वर के अधीन रहकर उसकी सेवा करती हुई जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय कार्य करती रहती है। यद्यपि जीव में अविद्या की उपाधि तथा ईश्वर में माया की उपाधि का वर्णन किया गया है, तथापि पारतन्त्र्य तथा स्वातन्त्र्य की विशिष्टता के कारण दोनों में महान् अन्तर है। अविद्योपाधिक जीव परतन्त्र होता है, परन्तु मायोपाधिक

ईश्वर स्वतन्त्र होता है। 'स्वातन्त्र्य' ईश्वर का वैशिष्ट्य है। **कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुं यः समर्थः, स ईश्वरः।** ईश्वर वही है, जो करने मे, न करने मे तथा अन्यथा करने में समर्थ होता है। औपाधिक होने पर भी दोनों में इस महान् अन्तर को न भूलना चाहिए। इस विषय मे विद्यारण्य स्वामी की 'पंचदशी' का यह श्लोक विशेष महनीय तथा स्मरणीय है—

मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्यः तद्वैचित्र्यादनेकधा॥

—पचदशी, १।१६

६. **आत्मा या ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है**—आत्मा सत् है, सर्वत्र विद्यमान है। चित् है—ज्ञान रूप है तथा आनन्द रूप है। ब्रह्म के लक्षण देते समय श्रुतिया उद्धृत की गई है, जो ब्रह्म के सच्चिदानन्द रूप को प्रकट करती है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा का ब्रह्म के स्वरूप जानने के लिए पूर्वोक्त छहो विशिष्टताओं का एकत्र सकलन कर देना चाहिए। आत्मा शरीरभय से व्यतिरिक्त पचकोषातीत अवस्थात्रय साक्षी, चतुर्विशति तत्त्वाधार, जीवेश्वर दोनो से भिन्न तथा सच्चिदानन्द स्वरूपवान् होता है।

कोषादिक की सूचक सारणि

शरीर	अवस्था	अभिमानी	कोष
स्थूल	जाग्रत	(क) समष्टि—वैश्वानर (ख) व्यष्टि—विश्व	अन्नमय
सूक्ष्म	स्वप्न	(क) सूत्रात्मा (ख) तैजस	प्राणमय मनोमय विज्ञानमय
कारण	सुषुप्ति	(क) ईश्वर (ख) प्राज्ञ	आनन्दमय

इन्द्रियादि-सूचक सारणि

	इन्द्रिय	विषय	देवता
ज्ञानेन्द्रिय			
१.	श्रोत्र	शब्द	दिक्
२.	त्वक्	स्पर्श	वायु
३.	चक्षु	रूप	सूर्य
४.	रसना[1]	रस	वरुण
५.	घ्राण	गन्ध	अश्विनौ
कर्मेन्द्रिय			
६.	वाक्[1]	भाषण	अग्नि
७.	पाणि	वस्तुग्रहण	इन्द्र
८.	पाद	गमन	उपेन्द्र
९.	उपस्थ[2]	मूत्र-त्याग	शिव
१०.	पायु (= गुदा)	मल-त्याग	मृत्यु
अन्तःकरण			
११.	मन	सकल्प	चन्द्रमा
१२	बुद्धि	निश्चय	ब्रह्मा[3]
१३.	चित्त	स्मरण	क्षेत्रज्ञ
१४.	अहकार	गर्व	रुद्र

[1] वाक् और रसना ये दोनों एक ही जिह्वा इन्द्रिय से सम्बन्ध रखने-वाली हैं। इस कारण जिह्वा के अग्नि और वरुण ये दो अधिपति हुए। इसी कारण द्विगुण शक्ति होने से जिह्वा इतनी बलवती है।

[2] उपस्थ इन्द्रिय का साधारण कार्य मूत्र त्याग है और असाधारण कार्य रति या आनन्द भोग करना है। प्रथम कार्य के लिए शिव तथा द्वितीय कार्य के लिए प्रजापति देवता है। उपस्थ में भी जिह्वा के समान द्विगुणशक्ति वर्तमान रहती है और इसीलिए यह इन्द्रिय भी इतनी बलवती होती है।

[3] कहीं-कहीं ब्रह्मा ही अन्तःकरण चतुष्टय के अधिपति माने गये हैं। इसी कारण उनके चार मुख हैं। अन्तःकरण में बुद्धि की प्रधानता होती है और इसीलिए यह कल्पना की गई है।

जगत् का स्वरूप

उपनिषदों का यह कथन है कि ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ सत्य है। उससे व्यतिरिक्त अन्य वस्तु का अभाव सर्वथा तथा सर्वदा वर्तमान है। इस विषय में बृहदारण्यक श्रुति का स्पष्ट कथन है—

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥

—बृहदारण्यक, ४।४।१९

—अर्थात् मन के द्वारा यह देखना चाहिए कि यहा पर कुछ भी नाना—अनेक—नही है। यहापर जो 'नाना' देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। इस मन्त्र के अन्तिम चरण मे 'नानेव' मे 'इव' शब्द का प्रयोग ध्यानगम्य है अर्थात् यह जगत् सचमुच सत्य नही है, प्रत्युत 'मानों' है। यदि यह जगत् सचमुच सत्य ही होता, यह यदि मायामात्र न होता तो श्रुति इस सम्बन्ध मे 'इव' शब्द का प्रयोग क्यों करती ?

छान्दोग्य उपनिषद् मे सत्यकेतु के पिता ने अनेक दृष्टान्तो के द्वारा इस तत्त्व का उपदेश दिया है—

यथा सौम्य ! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

—छान्दोग्य, ६।१।४

—हे सौम्य ! जिस प्रकार मिट्टी के एक ढेले को जान लेने पर मिट्टी की बनी हुई सारी वस्तुए जान ली जाती है, क्योंकि वे मिट्टी के ही विकार है। वाक्य की योजना नाममात्र की है। मिट्टी ही सत्य है।

फलतः जगत् की स्थिति माया के कारण ब्रह्म के ऊपर अध्यस्त की गई है। ब्रह्म अधिष्ठान है। जगत् अध्यस्त है। अधिष्ठान की ही वास्तव सत्ता है। अध्यस्त सर्वथा मिथ्या है। माया के द्वारा ही ब्रह्म जगत् के रूप मे प्रतिभात हो रहा है, यह केवल भानमात्र है, केवल प्रतीयमान है। इसके द्वारा ब्रह्म के स्वरूप मे किसी प्रकार प्रच्युति नही होती, अर्थात् ब्रह्म सर्वथा तथा सर्वदा ब्रह्म ही रहता है, किन्तु वही जगत् के रूप मे भान होता है। इसीका नाम 'अध्यास' है।

अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः ।

—ब्रह्मसूत्र शंकर-भाष्य, १।१।१

अध्यास को समझने के लिए वेदान्त ग्रन्थों मे दो-तीन प्रख्यात तुलनाए प्रस्तुत की गई है । सीप मे जिस प्रकार चादी का अध्यास होता है, रज्जु मे सर्प का तथा मरीचि मे मरीचिका का, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म मे जगत् का अध्यास होता है ।

रास्ते के किनारे रस्सी पड़ी हुई है । धुधले प्रकाश में उसे देखने पर जान पड़ता है कि सांप लेटा हुआ है । इसे देखकर हम डर के मारे भाग खड़े होते है । ठीक उसी समय एक राही अपने हाथ मे टार्च से प्रकाश करता है, जिससे वह चीज रस्सी ही है, ऐसा ज्ञान हमे होता है । इस प्रकार रस्सी का ज्ञान होने पर हमारा वह अध्यास दूर हो गया, जो रस्सी मे साप के धोखे से हुआ था । रस्सी मे पहले साप का भ्रम रहता है, परन्तु रस्सी का ज्ञान हो जाने पर वह भ्रम दूर हो जाता है और रस्सी का यथार्थ रूप हमारे सामने प्रकट हो जाता है ।

ठीक यही दशा ब्रह्म में जगत् के अध्यास की होती है । जबतक ब्रह्म का ज्ञान नही होता तबतक वह बनी रहती है, परन्तु ब्रह्म-ज्ञान होने पर यह अध्यास दूर हो जाता है । जगत् का अस्तित्व मिट जाता है और **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (सबकुछ यह ब्रह्म है) की पूरी प्रतीति अपने पूरे वैभव के साथ ज्ञानी के सामने उदित हो जाती है । इसीलिए 'अष्टावक्र-सहिता' के ये वचन ध्यान देने योग्य है—आत्म-विषय में अज्ञान होने से यह जगत् भासता है और आत्मज्ञान होने से वह तिरोहित हो जाता है । रज्जु के अज्ञान से सर्प की प्रतीति होती है, परन्तु रज्जु के ज्ञान से वह भ्रम-प्रतीति नष्ट हो जाती है—

आत्माज्ञानात् जगद् भाति आत्मज्ञानान्न भासते ।
रज्ज्व ज्ञानाद् अहिर्भाति तज्ज्ञानात् भासते नहि ॥

—अष्टावक्र सहिता, २।७

विवर्त

ब्रह्म में जगत् की इस प्रतीति को दार्शनिक भाषा में 'विवर्त' कहते

है। विवर्त विकार से भिन्न होता है। विवर्त का रूप है—

अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः।

—वेदान्तसार

अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं। परिवर्तन (अन्यथा प्रथा) दो प्रकार का होता है—तात्त्विक और अतात्त्विक।

१. **तात्त्विक** परिवर्तन का तात्पर्य है कि उत्पन्न वस्तु वास्तव में कारण से भिन्न, पृथक् तथा सत्ताधारी है जैसे दूध से दही। यहा दही दूध से एक पृथक् सत्ता है—उसका आकार ही दूध से भिन्न नही है, प्रत्युत् स्वाद भी भिन्न है। इसको 'विकार' कहते है।

२. **अतात्त्विक** परिवर्तन का अर्थ यह है कि उत्पन्न वस्तु कारण से न भिन्न है, न पृथक् सत्ताधारी है, वह स्वतन्त्र न होकर सर्वथा परतन्त्र है। जैसे पूर्वनिर्दिष्ट रज्जु से सर्प का उदय। ब्रह्म में जगत् के उदय की स्थिति इस रूप की है। इसमे कारण (ब्रह्म) ही वास्तव होता है, कार्य (जगत्) मायिक है तथा मिथ्या।

वेदान्तियों का कहना है कि जिस प्रकार जादूगर अपनी सकल्प शक्ति से नाना प्रकार की वस्तुए उत्पन्न कर अपने दर्शकों को भ्रम में डाल देता है, ब्रह्म भी ऐसा ही करता है। वह विक्षेप रूप से इन्द्रजाल फैलाकर जीवों को मोहित करता है। परन्तु ज्ञान के द्वारा जब यह भ्रम दूर हो जाता है, तब जीव अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, ब्रह्म के साथ जीव को अभेद प्राप्त हो जाता है। वह मुक्त पुरुष ब्रह्म में लीन हो जाता है। उसका नामरूप विलीन हो जाता है—

भिद्यते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते।

—प्रश्नोपनिषद्, ६।५

ईश्वर का स्वरूप

निर्विशेष ब्रह्म जब माया के द्वारा आवृत होकर सविशेष या सगुण भाव को धारण करता है, तब वह 'ईश्वर' की संज्ञा पाता है। ईश्वर ही विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण है। ईश्वर ही जगत् का निमित्त कारण भी है तथा उपादान कारण भी। घड़े को कुम्भकार मिट्टी से गढ़कर बनाता है। इस व्यापार में घट है कार्य, कुम्भकार है निमित्त कारण

और मृत्तिका है उपादान कारण। ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है। इस व्यापार में जगत् है कार्य, ईश्वर निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों स्वयं ही है। एक ही वस्तु के दोनों कारण होने में कोई विरोध नहीं होता। ईश्वर है मायोपाधिक ब्रह्म। यहां चैतन्य पक्ष का अवलम्बन करने पर ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है और उपाधि (माया) पक्ष की दृष्टि से ही ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। इस प्रकार ब्रह्म जगत् की सृष्टि मानने में माया ही प्रधान कारण है।

जगत् की सृष्टि

तमःप्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त ईश्वर से सूक्ष्म तन्मात्ररूप आकाश की उत्पत्ति हुई; आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है। सत्रह पदार्थों को मिलाकर सूक्ष्म शरीर का उदय होता है। ये पदार्थ है—पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पाच प्राण तथा बुद्धि और मन। 'विवेक-चूडामणि' (श्लोक ९८) मे शकराचार्य ने 'पुर्यष्टक' (सूक्ष्म शरीर) की गणना में कुछ अन्य पदार्थों को भी सम्मिलित किया है—आकाशादि पाच अपचीकृत भूत, चित्त, अहंकार, अविद्या, काम और कर्म। इन दस पदार्थों को जोड़ने पर सूक्ष्म शरीर के घटक तत्त्व सत्ताईस होते है—

वागादिपञ्च श्रवणादिपञ्च
प्राणादिपञ्चाभ्रमुखानि पञ्च।
बुद्ध्याद्य विद्यापि च कामकर्मणी
पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः॥

इस सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है। स्थूल शरीर पंचीकृत भूतों से बना हुआ रहता है। पचीकरण अद्वैत वेदान्त की एक मान्य प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य यह है कि स्थूलभूत पाचों भूतों के एक विशिष्ट मिश्रण का परिणाम होता है। प्रत्येक स्थूलभूत में अपना अश तो आधा होता है और आधे में अन्य चारों भूतो के अष्टम अंश सम्मिलित रहते है। जैसे पृथ्वी नामक भूत की दशा देखिये। इसमें पृथ्वी का आधा ही अंश होता है और इसके आधे अंश मे जल, तेज, वायु तथा आकाश में प्रत्येक के अष्टम अंश

मिले रहते हैं—

पृथ्वी = $\frac{1}{2}$ पृथ्वी + $\frac{1}{8}$ जल + $\frac{1}{8}$ तेज + $\frac{1}{8}$ वायु + $\frac{1}{8}$ आकाश।
जल = $\frac{1}{2}$ जल + $\frac{1}{8}$ पृथ्वी + $\frac{1}{8}$ तेज + $\frac{1}{8}$ वायु + $\frac{1}{8}$ आकाश।
तेज = $\frac{1}{2}$ तेज + $\frac{1}{8}$ पृथ्वी + $\frac{1}{8}$ जल + $\frac{1}{8}$ वायु + $\frac{1}{8}$ आकाश।
वायु = $\frac{1}{2}$ वायु + $\frac{1}{8}$ पृथ्वी + $\frac{1}{8}$ जल + $\frac{1}{8}$ तेज + $\frac{1}{8}$ आकाश।
आकाश = $\frac{1}{2}$ आकाश + $\frac{1}{8}$ पृथ्वी + $\frac{1}{8}$ जल + $\frac{1}{8}$ तेज + $\frac{1}{8}$ वायु।

इस प्रकार वेदान्त के मत में प्रत्येक स्थूल भूत पंचभूतात्मक होता है। इसके विपरीत सूक्ष्मभूत या 'तन्मात्र' अपंचीकृत होते हैं अर्थात् वे अपनी विशुद्ध दशा में विद्यमान रहते हैं।

ब्रह्म, जीव तथा जगत् आदि के संक्षिप्त परिचय के बाद संक्षेप में यह सारांश निकलता है कि एक ही परम सत्य, परम तत्त्व है और उसका नाम है 'ब्रह्म'। उसके दो विभावों का परिचय ऋषियों ने दिया है—'निर्विशेष' भाव तथा 'सविशेष' भाव। निर्विशेष विभाव को परब्रह्म या अशब्द ब्रह्म कहते है और सविशेष विभाव को अपर ब्रह्म या शब्दब्रह्म कहते है—

द्वे परब्रह्मणी अभिध्येये शब्दश्च अशब्दश्च।

—मैत्री ६।२।२

ब्रह्म के निर्विशेष भाव का अर्थ है कि उस भाव के किसी विशेषण, लक्षण, चिह्न या परिचय का निर्देश नही किया जा सकता। इस भाव को निर्गुण, निर्विकल्प, निरुपाधि आदि संज्ञा दी गई है। यह भाव मन-बुद्धि के लिए अगोचर, अनिर्देश्य, अवाच्य, अज्ञेय और अमेय है। यह निर्विशेष पर-ब्रह्म ही माया-उपाधि को अंगीकार करके मानों अपने-आपको संकुचित कर देता है। उस समय उसका जो विभाव होता है, वही सविशेष या सविकल्प भाव कहलाता है। उस समय उसे 'महेश्वर' कहा जाता है। उस समय वह 'माया का अधिपति' होता है—**मायिनं तु महेश्वरम्** (श्वेताश्वतर)। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म का प्रथम रूप 'निर्गुण' है तथा दूसरा रूप 'सगुण' है। सगुण ब्रह्म को ही 'ईश्वर' की संज्ञा प्राप्त होती है। माया की उपाधि से विशिष्ट होने से वही ब्रह्म 'ईश्वर' कहलाता है और अविद्या की उपाधि से युक्त होने पर वही 'जीव' की संज्ञा पाता है। वही ब्रह्म एक मात्र तत्त्व है। जगत् उसमे अध्यस्त होने से अपनी सत्ता धारण करता है। यह वास्तव नहीं है। जगत्

ब्रह्म का विवर्त है। अद्वैत वेदान्त का संक्षिप्त परिचय इस प्रख्यात वाक्य मे मिलता है—

ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

(क) ब्रह्म सत्य है; (ख) जगत मिथ्या है; (ग) जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नही है। यही वेदान्त का डिंडिम घोष है।

साधना-मार्ग

अद्वैत वेदान्त वास्तव मे जीवन-दर्शन का एक प्रमुख साधना-मार्ग है। यह कोरा ज्ञान-मार्ग नही है, प्रत्युत जीवन की सफलता के लिए एक नितान्त प्रयोजनीय उपाय है। वेदान्त की साधना की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। साधक को प्रथमत. वैराग्य सम्पन्न होने की आवश्यकता है। मुमुक्षु पुरुष को चाहिए कि घर मे अतिथि के समान रहे, किसी भी स्तुत्य अथवा तुच्छ विषय को दैववशात् स्थित या गया हुआ देखकर न तो सन्तुष्ट हो और न दुःख ही माने। मुमुक्षु के लिए वैराग्य का होना प्रथम आवश्यक गुण है। शकराचार्य का कथन है कि जो पुरुष वैराग्य से युक्त है, सदा प्रसन्न चित्त रहता है, किसीसे किसी वस्तु की आशा नही रखता, ऐसे बिना प्रार्थन किये हुए फल को भोगनेवाले पुरुष के लिए इसी जन्म में कृतार्थता होती है—

वैराग्यभाग्य भाजः प्रसन्नमनसो निराशस्य।
अप्रार्थितफलभोक्तुः पुसो जन्मनि कृतार्थतेह स्यात्॥

साधना का दूसरा सोपान है—योग्य गुरु से उपदेश पाना। 'गुरु बिन होय न ज्ञान'—यह कथन व्यवहार तथा अध्यात्म दोनों दृष्टियों से यथार्थ है। गुरु की उपयोगिता के विषय में श्री शकराचार्य ने एक बड़े ही सुन्दर उदाहरण की अवतारणा की है। उनका कथन है कि साधक चातक के समान और गुरु मेघ के समान होता है। मेघ में रहनेवाला समुद्र का जल सामने भरा पड़ा हुआ भले ही रहे और उसे ऊपर उड़ानेवाला प्रेरक वायु भी भले ही वहा वर्तमान हो, परन्तु प्यास से तड़फड़ाता हुआ चातक मेघ की ही प्रतीक्षा करता है। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वत्र विराजमान है, उसके वर्णन करनेवाले शास्त्र भी बहुत-से हैं, तथापि जिज्ञासु सर्वदा गुरु की ही अपेक्षा रखता है—

यद्यपि जलधेरुदकं यद्यपि वा प्रेरकोऽनिलस्तत्र।
तदपि पिपासाकुलितः प्रतीक्षते चातको मेघम्॥

वेदान्त का कथन है कि किसी तथ्य की प्रतीति तीन वस्तुओं के सम्मिलन का परिणत फल है। ये तीन पदार्थ है—शास्त्र, गुरु तथा आत्मा। आदिम प्रतीति शास्त्र से होती है—गुड़ मीठा होता है। दूसरी प्रतीति गुरु के द्वारा होती है जैसे दूर से गुड़ का दर्शन करना। हम यहा अनुभूति की ओर एक डग आगे अवश्य बढ़ते है, परन्तु यह अभी तक परोक्ष ज्ञान ही बना रहता है। गुरु उपदेश देकर हमें वस्तु के रूप को समझाता है, परन्तु यह द्वितीय श्रेणी का ही ज्ञान होता है। अन्त मे गुरुपदेश के अनन्तर होती है—आत्मा से प्रतीति अर्थात् अन्तःकरण के द्वारा वस्तु का साक्षात् अनुभव। यही वेदान्त की 'अपरोक्ष अनुभूति' है। गुड़ के मिठास का ज्ञान हमे तभी होगा जब हम गुड़ की एक डली को अपने मुह मे रखकर चूसेंगे या खायेंगे। बिना इस अनुभव के गुड़ का माधुर्य हमारे लिए आकाश कुसुम से ज्यादा उपयोगी नही होगा। किसी वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिए यही प्रतीति का क्रमिक विकास है—

१. शास्त्र से प्रतीति—परोक्ष उपदेश
२. गुरु से प्रतीति—साक्षात् सद्यः उपदेश
३. आत्मा से प्रतीति—अपरोक्ष ज्ञान।

त्रेधा प्रतीतिरुक्ता शास्त्राद् गुरुतस्तथात्मनस्तत्र।
शास्त्र प्रतीतिरादौ यद्वन्मधुरो गुडोऽस्तीति॥
अग्रे गुरु प्रतीतिर्दूराद् गुडदर्शनं यद्वत्।
आत्मप्र तीतिरस्माद् गुडभक्षणजं सुखं यद्वत्॥

—प्रबोध-सुधाकर, श्लोक ८८-८९

प्रतीति की यह वेदान्ती प्रक्रिया पूर्ण वैज्ञानिक है। आजकल भी किसी तथ्य की जानकारी तबतक नहीं होती जबतक शास्त्र तथा गुरु के द्वारा उपदिष्ट छात्र उस वस्तु को प्रयोगशाला में स्वयं प्रयोग करके सिद्ध नहीं कर लेता, अपरोक्ष प्रतीति या अनुभूति में गुरु का स्थान ठीक मध्य में है। साधक किसी शास्त्रजन्य प्रतीति को आत्मानुभूति के रूप में लाना चाहता है, तब उसे गुरु के उपदेश की आवश्यकता होती है। गुरु वह माध्यम है, जिसके

द्वारा शास्त्र-प्रतिपाद्य तथ्य साधक के अनुभव का पूर्ण भाजन बनता है। प्रत्येक साधना-मार्ग की भाति वेदान्त का गुरु के ऊपर विशेष आग्रह है।

गुरु का स्थान

प्रत्येक धर्म मे, विशेषत. भारतवर्ष मे उदय लेनेवाले धर्मो मे गुरु का स्थान बड़ा ही ऊंचा और गौरवास्पद माना जाता है। गुरु अथवा आचार्य की सहायता के बिना कोई भी साधक अपने साधना-मार्ग मे अग्रसर नही हो सकता। 'गुरु' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी उसकी महनीयता तथा गरिमा का स्पष्ट द्योतक है। 'गुरु' शब्द 'गु' अन्धकार का वाचक माना जाता है और 'रु' उसका दूर करनेवाला। फलतः 'गुरु' वह व्यक्ति होता है, जो अपने ज्ञान की सहायता से साधक के चित्त को मलिन बनानेवाले और उसकी दृष्टि को बन्द करनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर देता है तथा उसके नेत्र का उन्मीलन कर देता है—

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवेनमः॥

पुरुष मे दिव्य दृष्टि का होना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है, परन्तु अज्ञान या माया के चक्कर में पडनेवाला जीव अपना गन्तव्य स्थान भूलकर इधर-उधर भटका करता है। वह अपने गन्तव्य स्थान को न तो जानता है और न उधर जाने का उपाय ही करता है। सांसारिक जीव की यही स्थिति होती है। गुरु का उपयोग यही है कि वह अन्धे को दिव्य दृष्टि का दान करता है, स्वरूप-विस्मृत को आत्मस्वरूप का दर्शन कराता है, वह प्रज्ञानेत्र को खोल देता है।

गुरु माध्यम का काम करता है। जीव तथा भगवान् को एक सूत्र मे बांधने का काम गुरु करता है। भगवान् को दूरस्थ तथा अगम्य मानकर जीव सर्वदा खिन्न तथा विषण्ण होता रहता है, परन्तु गुरु भगवान् को निकट लाकर शिष्य के लिए सुगम तथा सुबोध बना देता है। जिस प्रकार स्नेही पिता अपने भूले-भटके पुत्र को स्नेह तथा दया के वशीभूत होकर घर पर लाता है, उसी प्रकार गुरु भी भूले-भटके साधक को, अपने असली घर को भूलकर भटकनेवाले जीव को, उसके गन्तव्य स्थान पर पहुंचा देता है, जो भगवान् का धाम होता है। इसके लिए गुरु शिष्य को इष्ट मन्त्र की दीक्षा

देता है। दीक्षा का अर्थ ही है भगवान् की कृपा-प्राप्ति का उपाय बतलाना, जिससे प्रसुप्त चैतन्य जागरित होकर मानव-जीवन मे कार्यशील बनता है। ज्ञान का दान तथा पशुबन्धन को क्षीण करनेवाला साधन ही दीक्षा कहलाता है—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबन्धना।
दान-क्षयण-संयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तितः॥

उपनिषद् की स्पष्टवाणी है—**आचार्यदेवो भव,** अर्थात् अपने आचार्य को देव समझो और किसी महनीय देव के लिए उचित आदर तथा श्रद्धा की भावना गुरु मे सर्वदा बनाये रखो; क्योंकि बिना आचार्य के ज्ञान का उदय नही होता। उपनिषदों की महनीय वाणी है—**आचार्यवान् पुरुषो वेद,** अर्थात् आचार्यवान् पुरुष ही ज्ञान को प्राप्त करता है। दिव्य ज्ञान की उपलब्धि उसी व्यक्ति को होती है, जो गुरु की कृपा पाने मे सफल होता है। इस विषय मे उपनिषद् मे एक रोचक आख्यायिका उपलब्ध होती है। कोई व्यक्ति गन्धार देश जाना चाहता था। उसने अनेक उद्योग किये, परन्तु उसे सफलता नही मिली। अन्तत. वह ऐसे पुरुष के पास पहुचा, जिसने गन्धार देश को देखा था। उसकी शिक्षा के सहारे वह साधक भी गन्धार पहुचने में समर्थ हुआ। इस कथा से गुरु की गरिमा का पता हमे चलता है; साथ-ही-साथ गुरु के स्वरूप का भी ज्ञान हमें होता है। आजकल के तथाकथित गुरुओं के समान आदर्श गुरु ज्ञान का बोझ लिये हुए ही इधर-उधर नही भटकता। वह स्वयं ज्ञानी तो होता है; पर साथ-ही-साथ यह उस ज्ञान को क्रिया रूप मे परिणत कर अपने जीवन को उदात्त बनाने मे समर्थ भी होता है। आचार्य का यही आदर्श है। मनु का कहना है कि आचार्य शास्त्र के अर्थों का चयन करता है (आचिनोति), स्वयं धर्म का आचरण करता है (आचरति) तथा उस धर्म का अन्यों से, शिष्य-साधको से, आचरण करवाता है (आचारयति)। तभी वह आदर्श आचार्य अथवा गुरु की योग्यता से मण्डित होता है। भगवान् बचावे आजकल के दम्भी गुरुओं से, जो सर्वज्ञ होने का दावा करते है और शिष्यजनों को ठगकर अपना गौरव तथा यश बढाया करते है।

ज्ञान-धारा या ज्ञान-गंगा का मूल स्रोत तो स्वयं परमात्मा ही है। इस-

लिए ज्ञान का आद्य उपदेशक होने के कारण भगवान् ही आदि गुरु है। महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्रों में ईश्वर के विषय में इसी तत्त्व को दुहराया है—**पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्** (योगसूत्र, १।२६)। जितने प्राचीन गुरु है, वे समय के द्वारा अवच्छिन्न है अर्थात् सब गुरु किसी काल विशेष के द्वारा अवच्छिन्न है। परन्तु ईश्वर ही पूर्व आचार्यों का भी गुरु है, क्योंकि वह काल के द्वारा अवच्छिन्न नही होता। कहने का तात्पर्य है कि ज्ञान की धारा सबसे पहले परमात्मा से ही आरम्भ होती है। बिना ईश्वर की कृपा के ज्ञान का उदय हो ही नही सकता। इसलिए सच्चा गुरु तो ईश्वर ही है। देहधारी मानव गुरु उसी ईश्वरीय गुरु का मानव-प्रतिनिधि होता है। तन्त्र-सार में चार प्रकार के गुरुओं का उल्लेख मिलता है—

१. गुरु—उपदेष्टा,

२. परम गुरु—मन्त्रद्रष्टा ऋषि,

३. मन्त्र-शक्ति—(जिसमें मन्त्र अभिव्यक्त होता है) और

४. महाकाल—(अनादिनाथ, परमेष्ठी गुरु या परात्पर गुरु)।

इस प्रकार उपदेशक का महत्त्व साधना में विशेष है। सन्त लोग तो गोविन्द से भी गुरु का स्थान ऊचा मानते है। बात यह है कि गोविन्द एक दुरूह तत्त्व है, जिसे सुबोध बनाने की क्षमता गुरु में ही होती है, क्योंकि वह आत्म-साक्षात्कार से सम्पन्न होता है, वह ईश्वर को जानता है और इसी-लिए उसे बतलाने मे कृतकार्य होता है।

शिष्य को वेदान्त-ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त 'साधन चतुष्टय' से सम्पन्न होना आवश्यक है। साधन वे आवश्यक गुण है, जिनका सम्पादन साधक के लिए बहुत ही आवश्यक है। 'साधन चतुष्टय' के नाम ये है—

१. नित्यानित्य वस्तु विवेक—नित्य और अनित्य वस्तुओं में परस्पर पृथक् होने का ज्ञान। ब्रह्म सत्य तथा नित्य पदार्थ है तथा जगत् अनित्य है। ऐसा निश्चय कर लेना प्रथम साधन है।

२. इहामुत्रफलभोग विरागः—इस लोक मे और परलोक में फल के भोगने से वैराग्य। दर्शन और श्रवणादि के द्वारा देह से लेकर ब्रह्मलोक-पर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोग्य पदार्थों में जो घृणा-बुद्धि है, वही 'वैराग्य' कहलाता है। वैराग्य का होना साधन का दूसरा सोपान है।

३. **शमादि षट् सम्पत्ति**—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधान—इन छः सम्पत्तियों की प्राप्ति तीसरा साधन है—

(क) शम—बारम्बार दोष-दृष्टि करने से विषयसमूह से विरक्त होकर जब चित्त लक्ष्य में स्थिर हो जाता है, तब उसे शम कहते है।

(ख) दम—कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय—दोनों को अपने विषयों से खीचकर अपने-अपने गोलकों मे स्थिर करना 'दम' कहलाता है।

(ग) उपरति—वृत्ति का बाहरी विषयों का आश्रय न लेना 'उपरति' कहलाता है। चक्षु बाहरी रूपों को देखता है, पर उसे बाहरी विषयों से हटा लेना 'उपरति' है।

(घ) तितिक्षा—चिन्ता और शोक से रहित होकर बिना कोई प्रतिकार किये सब प्रकार के कष्टों का सहन करना 'तितिक्षा' कहलाता है।

(ङ) श्रद्धा—**गुरु वेदान्त वाक्येषु विश्वासः श्रद्धा** अर्थात् गुरु के वचन में तथा वेदान्त के वाक्य मे विश्वास कि ये सर्वथा सत्य है, 'श्रद्धा' कहलाता है।

(च) समाधान—बुद्धि को सब प्रकार से शुद्ध ब्रह्म में ही स्थिर करना 'समाधान' है (सम्=ठीक रूप से, आधान=रखना, चित्त को शुद्ध ब्रह्म में)।

४. **मुमुक्षता**—संसार के दुःखों से मुक्ति पाने की तीव्र अभिलाषा। संसार के विषयों में जबतक दोषदृष्टि नहीं होती, तबतक उन्हे छोड़ने को चित्त नहीं करता। बन्धन से छुटकारा पाने की इच्छा तीव्र होनी चाहिए।

ये ही चार एक साथ 'साधन चतुष्टय' कहलाते है। आचार्य शंकर की मान्यता है कि मुक्ति की कारण भूत सामग्री में भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है। परन्तु भक्ति है क्या? **स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।** अपने सच्चे रूप का बारम्बार चिन्तन करना ही भक्ति कहलाता है। साधक को चाहिए कि मुख्यतया भक्ति का आश्रय ग्रहण करे, अर्थात् बाहरी प्रपंचों को छोड़कर अपने आत्मा के सच्चे रूप का चिन्तन सर्वदा करते रहना चाहिए कि आत्मा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाववाला है। यह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त आदि से सर्वथा भिन्न है। यह अनुसन्धान बहुत

ही आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब चित्त अन्तर्मुख होता है। बहिर्मुख चित्त मे प्रपंच ही भासता है और अन्तर्मुख चित्त में आत्मा भासता है—यही तथ्य है। इस तथ्य पर दृढ आस्था रखकर साधक को अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होना चाहिए। इतने गुणों से सम्पन्न होने पर साधक किसी योग्य गुरु के पास उपदेश के निमित्त जाता है।

शिक्षा-विधि

ब्रह्म निष्प्रपंच तत्त्व है। उसकी शिक्षा देना ही गुरु का कार्य है, परन्तु यह शिक्षा होगी कैसे? ब्रह्म का न तो कोई लक्षण है, जिसके द्वारा वह लक्षित किया जा सके; न उसमे कोई गुण है कि उसकी सहायता से उसका रूप समझा जाय। परन्तु प्रपंच के भीतर से ही तो निष्प्रपंच के ज्ञान का उदय होता है। इसके लिए गुरु 'अध्यारोप और अपवाद' विधि का आश्रय लेता है। किसी अज्ञात वस्तु के ज्ञान के लिए यही विधि पूर्णतया उपयोगी, लाभदायक और वैज्ञानिक है। 'अध्यारोप' निष्प्रपंच ब्रह्म मे जगत् का आरोप कर देना है और अपवाद से आरोपित वस्तु का युक्ति के द्वारा एक-एक करके निराकरण कर दिया जाता है। आत्मा के ऊपर पहले तो शरीर का आरोप किया जाता है कि आत्मा ही शरीर है, इन्द्रिय है, मन है आदि। तदनन्तर युक्ति के बल से यह सिद्ध किया जाता है कि आत्मा पांचों कोषो मे भिन्न है, स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरो से चैतन्य को पृथक् कर देने पर अन्त मे जो शुद्ध बोध बच जाता है, वही आत्मा है। इस विषय में आचार्य शंकर ने मूज का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण दिया है। पाठक जानते है कि मूज के भीतर एक लम्बी सींक होती है, जिसके ऊपर अनेक तह मूज के जमे हुए होते है। बाहर से देखने मे वह सीक दिखलाई नहीं पड़ती। प्रयत्न करके उन तहो को अलग करने पर सीक निकाल ली जाती है अथवा बाहरी तह ज्यों-की-त्यों बनी ही रहती है, परन्तु होशयार आदमी उनके भीतर से उस सीक को निकालने में समर्थ होता है। ठीक आत्मा के पहचानने की भी यही प्रक्रिया है।

मुञ्जादिषीकामिव दृश्यवर्गात्
प्रत्यञ्चमात्मानमसङ्गमक्रियम्।

विविच्य तत्र प्रविलाप्य सर्वं
तदात्मना तिष्ठति यः स मुक्तः ।।

—विवेक-चूडामणि, श्लोक १५५

—मूज मे से जैसे सीक (इषीका) युक्ति के सहारे अलग कर दी जाती है, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपने असग और अक्रिय प्रत्यग् आत्मा का दृश्य-वर्ग से पृथक् कर देता है और उसका उसीमे लय करके आत्मभाव मे स्थित होता है, वही 'मुक्त' है। भागवत मे भी इस दृष्टान्त का प्रयोग किया गया है **'एरकां कटकृद् यथा'** (भाग १, प्रथम स्कन्ध)। इस प्रकार साधक को ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति होती है और तभी उसे मोक्ष प्राप्त होता है।

शास्त्र के द्वारा जो अनुभूति होती है, वह परोक्ष होती है। परन्तु गुरु के द्वारा जो उपदेश दिया जाता है, उससे अपरोक्षानुभूति सद्य हो जाती है। इस विषय में वेदान्त-ग्रन्थों मे एक बड़ा ही रोचक दृष्टान्त दिया गया है—**'दशमस्त्वमसि'** — 'तुम दसवां हो'। आख्यायिका का सार यह है कि कहीं गांव से काशी में चन्द्रग्रहण के अवसर पर कुछ तीर्थयात्री आये। वे संख्या मे दस थे। नहाने के पहले उन्होने अपनी गिनती कर ली। स्नान के अनन्तर जब गिनती होने लगी तब एक की कमी हो गई। बारी-बारी से सब लोगो ने गणना की, परन्तु एक की कमी बनी ही रही। कमी का कारण यह था कि गिननेवाला अपनेको उसमें सम्मिलित ही नही करता था; वह दूसरे साथियों को ही गिनता था। सब चिल्लाकर रोने लगे—हाय, हमारा एक साथी गंगा मे डूब गया। मणिकर्णिका घाट पर बड़ा हो-हल्ला मचा। एक जानकार आदमी बेवकूफी का यह सब दृश्य देख रहा था। वह अपने सामने गिनती गिनाने लगा। जब गिननेवाला नव की गिनती करने के बाद ठिठक रहा, तब उस विज्ञ पुरुष ने उसके पीठ पर एक घूसा मारकर जोरो से कहा—**दशमस्त्वमसि**—तुम ही तो दसवा हो। बस, क्या था ? यात्रियो में आनन्द की लहर दौड़ गई। वे अपने कल्पित डूबे साथी को पाकर प्रसन्न हो गये। शब्द के उच्चारण मे ही उन्हें एक साथ ही ज्ञान तथा आनन्द हो गया। ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति का यही प्रकार है।

विद्यारण्य स्वामी ने अपनी 'पचदशी' के तृप्तिदीप प्रकरण मे (२३-२८ श्लोक) इस दृष्टान्त का विश्लेपण कर इसके भीतर सात अवस्थाओं का निर्देश किया है—१. अज्ञान, २. आवरण, ३. विक्षेप, ४ परोक्ष ज्ञान, ५. अपरोक्ष ज्ञान, ६ तृप्ति तथा ७. शोक-नाश। इन्हे उदाहरण से समझिये।

१ दसवा व्यक्ति नही है (अज्ञान),

२ न दसवा मुझे प्रतीत होता है और न दसवां है ही (आवरण),

३ यात्रियों का यह कल्पना कर रोना कि दसवा नदी मे डूबकर मर गया (विक्षेप),

४ आप्त पुरुष के कहने पर कि दसवां मरा नही है, बल्कि वह यहां विद्यमान है, जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष ज्ञान हुआ (परोक्ष ज्ञान),

५ आप्त व्यक्ति के इस कथन से कि तुम ही दसवां हो, वह व्यक्ति जान लेता है कि मै ही दसवां हूं। इस कथन से उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है कि मै ही दसवां हू। (अपरोक्ष ज्ञान),

६ सब यात्रियों को तृप्ति होती है कि उनके सब साथी जीवित है, कोई मरा नही है (तृप्ति),

७ वे सब अपने शोक को खो देते है। प्रसन्न होते हैं कि उनका कोई भी साथी गंगा मे डूबकर नहीं मरा (शोक-नाश)।

गुरु के उपदेश से होनेवाले ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति मे भी ये ही सातों अवस्थाएं विद्यमान रहती है। गुरु ने उपदेश दिया—**तत्त्वमसि**—तुम ही ब्रह्म हो। इसे सुनते ही उसे ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है और वह आनन्द से प्रसन्न हो जाता है। इन सातों अवस्थाओं को अब समझिये—

१ विषयोपार्जन के ध्यान में आसक्त पुरुष स्वयं-प्रकाश कूटस्थ आत्म-तत्त्व को नही जानता (अज्ञान दशा),

२. चिदात्मा के विषय में वह सदा यही कहता है—कूटस्थ का न तो मुझे भान ही होता है और न वह है ही (आवरण),

३. वह कहने लगता है—मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं (विक्षेप),

४ कोई व्यक्ति उससे बातचीत में कहता है कि कूटस्थ है, तब उसमें

आत्मा के विषय में परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है (परोक्ष ज्ञान),

५. वह उस वचन पर विचार कर इस निष्कर्ष पर पहुचता है कि कूटस्थ मै ही हू, तब यह पांचवीं दशा उत्पन्न होती है (अपरोक्ष ज्ञान),

६ जब उसे कूटस्थ असग आत्मा का ज्ञान हो जाता है, तब अपनेको कर्ता, भोक्ता आदि मानने से जो शोक उत्पन्न होते है, वे सद्य. नष्ट हो जाते है, यह छठी दशा हुई (शोकापगम),

७ अन्त मे साधक को यह ज्ञान हो जाता है कि जो कुछ मुझे करना था, वह कर लिया तथा जो पाना था, वह पा लिया। मै कृतकृत्य हो गया। अब करणीय शेष नहीं रहा। यह अन्तिम अवस्था है (तृप्ति)।

ध्यान देने की बात है कि ये सातो अवस्थाए चिदाभास की ही है, कूटस्थ की नहीं। ये सातों बन्ध तथा मोक्ष के भीतर समाविष्ट हो जाती है। इनका विभाजन इस प्रकार है—

बन्ध—अज्ञान, आवरण तथा विक्षेप।

मोक्ष—परोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान, शोक-नाश तथा तृप्ति।

मुक्ति का स्वरूप

मुक्ति का स्वरूप समझने के लिए वेदान्ती लोग एक बड़ा सुन्दर दृष्टांत प्रस्तुत करते है। किसी मनुष्य के गले में सोने का हार था, परन्तु वह उसे भूलकर इधर-उधर खोजता था। किसी जानकार व्यक्ति ने बतलाया कि हार उसीके गले में लटक रहा है। फलत: उसे अपने हार का पता चला, जो वही उसके गले में लटक रहा था। मुक्ति की भी यही दशा है। जीव तो स्वभाव से शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाववाला है। मुक्ति तो स्वभाव-सिद्ध है। वह न तो प्राप्य है और न उत्पाद्य। अत: उसकी प्राप्ति और उत्पादन के लिए उसे परिश्रम तथा उद्योग करने की आवश्यकता नहीं होती। गुरु के उपदेश से उसे विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है और उसके होते ही मुक्ति उसके सामने अपने वैभव के साथ प्रकाशित होने लगती है। दु:ख का पूर्ण नाश हो जाता है और आनन्द विराजने लगता है। अत: वेदान्त में मुक्ति की दशा आनन्दमयी दशा है। मुक्ति दो प्रकार की होती है—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। शरीर धारण करते हुए भी जो मुक्ति प्राप्त होती है, वह है—जीवन्मुक्ति। शरीर-त्याग के अनन्तर होनेवाली मुक्ति 'विदेहमुक्ति' कही

जाती है। अद्वैत मत में साधना का यही लक्ष्य है—आत्मरूप में प्रतिष्ठित हो जाना। आत्मा सच्चिदानन्द रूप ठहरा। फलतः आत्मरूप में प्रतिष्ठित होने पर जीव सच्चिदानन्द रूप हो जाता है।

संक्षेप में वेदान्त का परिनिष्ठित यही है कि जीव और सम्पूर्ण जगत् केवल ब्रह्म ही है। उस अद्वितीय ब्रह्म में निरन्तर अखण्ड रूप से स्थित रहना ही मोक्ष है। ब्रह्म अद्वितीय है—इस विषय में श्रुतियां प्रमाण हैं—

वेदान्त सिद्धान्त-निरुक्तिरेषा
ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च।
अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षो
ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम्॥

—विवेक-चूड़ामणि, श्लोक ४७९

खण्ड ४

वेदान्त के इतर सम्प्रदाय

१. रामानुज-मत
२. निम्बार्क-मत
३. माध्व-मत
४. चैतन्य-मत
५. वल्लभ-मत
उपसंहार

वेदान्त के इतर सम्प्रदाय

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता—ये तीनों मान्य ग्रन्थ प्रस्थान-त्रयी नाम से विख्यात है। इनकी दार्शनिक दृष्टि के सम्बन्ध में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। वेदान्त के इतिहास और उसके विकास को समझने के लिए इस मतभेद का ज्ञान होना आवश्यक है। दार्शनिक दृष्टि से इस मतभेद के आधार पर तीन प्रख्यात मत हैं—'अद्वैत', 'द्वैत' तथा 'द्वैताद्वैत'।

१. मूलतत्त्व एक अद्वितीय है—(अद्वैत)।

२. मूलतत्त्व परमात्मा तथा जीव दोनों मूलतः भिन्न है—(द्वैत)।

३. परमात्मा तथा जीव भिन्न भी हैं तथा अभिन्न भी, एक भी हैं तथा अनेक भी। यह पूर्व दोनों मतों का मिश्रण है—(द्वैताद्वैत)।

इन तीनों मुख्य पक्षों में द्वैतवाद का कोई भी अवान्तर पक्ष नहीं है। अद्वैत के अन्तर्गत चार अवान्तर पक्ष है—केवल रूप से ब्रह्म अद्वैत है—यह मत है शंकराचार्य का। माया-सम्बन्ध से रहित ब्रह्म एक है—यह शुद्धाद्वैत मत है वल्लभाचार्य का। चिद् तथा अचिद् से विशिष्ट ब्रह्म एक अद्वितीय है, यह विशिष्टाद्वैत दो अवान्तर भागों में विभक्त किया जा सकता है—एक आचार्य रामानुज का और दूसरा श्रीकण्ठ का। दोनों में अन्तर इतना ही है कि रामानुज के अनुसार परमात्मा की सज्ञा 'लक्ष्मी-नारायण' है, तो श्रीकण्ठ के अनुसार वह 'शिव' है। चौथे प्रकार के अद्वैत के समर्थक विज्ञानभिक्षु हैं, जिन्होंने 'अविभागाद्वैत' का प्रतिपादन किया है। इस मत में जगत् के समस्त पदार्थों से अविभक्त ब्रह्म एक अद्वैत तत्त्व है। 'द्वैताद्वैत' के अन्तर्गत तीन अवान्तर पक्ष मिलते हैं—

क. भर्तृप्रपंच—परमार्थ एक भी है तथा नाना भी। ब्रह्मरूप से एक है तथा जीवरूप से नाना है। जीव का नानात्व औपाधिक नहीं, अपितु

वास्तविक है। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र-तरंग-न्याय से द्वैताद्वैत है। समुद्र-रूप से समुद्र की एकता है तथा विकार रूप से (वीची, तरग, बुद्बुद की दृष्टि से) नानात्व है। ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय से संसार के बन्धन से जीव मुक्त होता है—न केवल कर्म और न केवल ज्ञान से, अपितु दोनों के समुच्चय से (समुच्चयवादी)।

ख. भास्कर—यह सोपाधिक भेदाभेद मानते है। जीव अणु रूप है तथा ब्रह्म का अग्निस्फुलिंगवत् अंश है। जीव तथा ब्रह्म का अभेद स्वाभाविक है और भेद उपाधिजन्य है। कारण-रूप से अभेद है तथा कार्य-रूप से भेद है, जिस प्रकार सुवर्ण रूप से अभेद है, परन्तु कुण्डल, कटक आदि आभूषणों की दृष्टि से भेद है। निष्कर्ष यह है कि जीव का भेद उपाधियों के द्वारा होता है और इसीलिए इस मत की संज्ञा है 'सोपाधिक भेदाभेद'।

ग. इस मत के अनुसार भेदाभेद स्वाभाविक है। इस मत के व्याख्याता तथा पुरस्कर्ता आचार्य निम्बार्क हैं।

केवलाद्वैत अथवा अद्वैत वेदान्त का सविस्तर विवेचन 'वेदान्त' शीर्षक से पिछले खण्ड में कर दिया गया है। अन्य सम्प्रदायो का परिचय क्रमशः उनके पुरस्कर्ता प्रमुख आचार्यो के नामो के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—रामानुज-मत

यह मत रामानुज के द्वारा विशेषतः व्याख्यात होने के कारण ही उनके नाम से प्रख्यात है, अन्यथा इसका नाम है विशिष्टाद्वैत। इस मत के अनुसार तत्त्व तीन होते हैं—'चित्' (जीव), 'अचित्' (जगत्) तथा 'ईश्वर'।

ईश्वर

इन तीनों में ईश्वर ही प्रधान तत्त्व है। वह स्वतन्त्र तथा नियामक होता है। जीव तथा जड़—ये दोनों ईश्वर के अधीन रहते हैं। जीव तथा जगत् वस्तुतः नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं, परन्तु वे ईश्वर की अधीनता में ही रहते हैं। इसका एक कारण है। भोक्ता (जीव) तथा भोग्य (जड़ पदार्थ) के भीतर ईश्वर अन्तर्यामी रूप से रहता है अर्थात् वह इन दोनों के

भीतर रहकर इन्हें प्रेरणा दिया करता है और इसीलिए वह 'अन्तर्यामी' नाम से पुकारा जाता है। इसलिए चित् तथा अचित् ईश्वर के शरीर या प्रकार माने जाते है।

अद्वैतियों के समान रामानुज ब्रह्म (निर्गुण) तथा ईश्वर (सगुण) में पार्थक्य नहीं मानते। उनकी दृष्टि में ब्रह्म सर्वदा सगुण ही होता है, 'निर्गुण' कभी नहीं हो सकता। तो उपनिषदो में ब्रह्म को निर्गुण कहने का तात्पर्य क्या है? इसका आशय इतना ही है कि अल्पज्ञ जीव के राग-द्वेष आदि गुण उसमें विद्यमान नहीं रहते, अन्यथा वह कल्याण-गुणों का आकर है, अनन्त ज्ञान, आनन्दरूप तथा ज्ञान, शक्ति आदि अनन्त कल्याण-गुणों से विभूषित रहता है। हेय गुणो से शून्य होने से ही वह निर्गुण कहलाता है। वेदान्तियों की दृष्टि में भेद तीन प्रकार का होता है—

१. **सजातीय भेद**—उसी जाति के पदार्थ का उसी जाति के अन्य पदार्थ से भिन्न होना। जैसे एक गाय का दूसरी गाय से भेद।

२. **विजातीय भेद**—एक जाति के पदार्थ का दूसरी जाति के पदार्थ से भेद। जैसे गाय का भैंस से भेद। दोनो की जातियां भिन्न है।

३. **स्वगत भेद**—किसी वस्तु के एक अग का दूसरे अंग के साथ भेद। जैसे गाय के सींग तथा पूंछ में भेद।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्म में ये तीनों भेद पाये जाते है, परन्तु रामानुज के अनुसार ब्रह्म मे पहले के दो भेद तो अवश्यमेव मिलते है, परन्तु अन्तिम भेद नही मिलता। ईश्वर का चिद् अंश अचिद् अंश से भिन्न होता है। फलतः ईश्वर में स्वगत भेद विद्यमान रहता है। दोनों मतों की ईश्वर-कल्पना में यह भी पार्थक्य का एक विषय है। ईश्वर के साथ चित् तथा अचित् का सम्बन्ध है अश-अशी का। ईश्वर अंशी है तथा चित्-अचित् उसके अश हैं—आत्मा तथा शरीर की भांति। ईश्वर इन दोनों को भीतर से नियमित करता है और इसलिए वह 'अन्तर्यामी' कहलाता है। शरीर यदि अन्धा या लंगड़ा हो जाय तो आत्मा क्या इन दोषों से संस्पृष्ट होता है? नहीं, कभी नहीं। उसी प्रकार चिदचिद् के दोषों से ईश्वर संस्पृष्ट नहीं होता।

जीव, जगत्

चित् या जीव देह, इन्द्रिय, प्राण तथा मन से विलक्षण होता है। वह नित्य, अनन्त, आनन्दमय तथा अणु होता है। जीव को अणु मानना वैष्णव दर्शनों की विशिष्टता है। इससे विपरीत शंकर जीव को विभु मानते हैं। ऊपर जीव ईश्वर का अंश बतलाया गया है। इसका अर्थ यही है कि चिनगारी जैसे अग्नि का अंश है, देह देही का अंशहै, वैसे ही जीव ब्रह्म का अंश है। एक और भी सम्बन्ध दोनों में है—विशेषण-विशेष्य भाव का। जीव विशेषण है तथा ईश्वर है विशेष्य। जड़ तथा ईश्वर का सम्बन्ध भी इसी प्रकार है। जगत् या जड़ विशेषण है तथा ईश्वर विशेष्य है। रामानुज ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादी है, अर्थात् उनकी दृष्टि में न ज्ञान के द्वारा, न कर्म के द्वारा, प्रत्युत ज्ञान-कर्म के सम्मिलन द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

विशिष्टाद्वैत का अर्थ

इस मत के नामकरण का क्या रहस्य है? इस मत के अनुसार ऐसी दशा कभी नहीं होती जब ब्रह्म विशिष्टता से हीन रहे, चाहे प्रलय-काल में वह कारण ब्रह्म के रूप में हो अथवा सृष्टिकाल में कार्य ब्रह्म के रूप में हो। प्रलयकाल में ब्रह्म सूक्ष्म चिदचित् से विशिष्ट होता है और सृष्टि-काल में ब्रह्म स्थूल चिदचित् से विशिष्ट रहता है। 'विशेष' रहता है प्रत्येक दशा में, प्रत्येक क्षण में। इस प्रकार विशिष्ट ब्रह्म का अर्थात् चित्-अचित् से विशिष्ट ब्रह्म का अद्वैत यहां अभीष्ट है। जहां शांकर अद्वैत 'केवलाद्वैत' कहलाता है, वहां उससे भिन्नता दिखलाने के लिए यह मत 'विशिष्टाद्वैत' की संज्ञा पाता है।

साधन तत्त्व

ईश्वर की प्राप्ति भक्ति के द्वारा ही प्राप्य है। भक्तों के ऊपर ही भगवान् का अनुग्रह होता है। भक्ति का सूक्ष्म रूप है शरणागति। यही ईश्वर-प्राप्ति का मुख्य साधन है। **'मामेकं शरणं व्रज'** में गीता इसी तत्त्व का स्पष्ट सकेत करती है। बिना शरणापन्न हुए भगवान् की दया जीव के ऊपर नहीं बरसती। फलतः 'शरणागति' ही भगवान् की प्राप्ति का सर्व-श्रेष्ठ सर्वाधिकशायी उपाय है। यामुनाचार्य ने अपने प्रख्यात 'स्तोत्ररत्न'

(या आलबन्दारस्तोत्र) में इस तत्त्व का सुन्दर प्रतिपादन किया है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमान् त्वच्चरणारविन्दे ।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥

—अर्थात् न मैं धर्मनिष्ठ हूं, न आत्मज्ञानी हूं, न भगवान् के चरण कमलों में मेरी भक्ति है। मैं अकिञ्चन—निर्धन हूं। मेरी दूसरी गति नहीं है। मै आपके शरण देनेवाले तथा उद्धार करनेवाले चरण की शरण में आया हूं।

यही साधन का मुख्य तत्त्व है। इसीके द्वारा साध्य—ईश्वर—की प्राप्ति जीव को सुलभ है। रामानुज-मत का यही संक्षिप्त परिचय है।

२—निम्बार्क-मत

निम्बार्क-मत का दार्शनिक विचार पूर्व-वर्णित रामानुज-मत से बहुत-कुछ मिलता है। अन्तर मौलिक है जीव तथा परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर, परन्तु जीव और ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन अनेक अंशों में समानता रखता है।

जीव

सब दशाओं में कर्ता और भोक्ता है। वह हरि के अधीन सर्वदा रहता है। जीव नियम्य है और ईश्वर नियन्ता है अर्थात् ईश्वर नियमन करता है सर्वदा, मुक्त दशा में भी और जीव सर्वदा उस नियमन में रहता है। मुक्त दशा में भी उसकी यह विलक्षणता च्युत नहीं होती। स्मरण रखने की बात है कि जीव का कर्तृत्व ईश्वर के अधीन है। इस विषय मे श्रुति तथा गीता दोनों का प्रामाण्य 'वेदान्त कौस्तुभ' में उद्धृत किया गया है। "ईश्वर जिस व्यक्ति को लोक से ऊपर उठाना चाहता है, उससे वह साधु-कर्म करवाता है और जिसे वह नीचे ले जाना चाहता है, उससे असाधु कर्म करवाता है।" वह मनुष्यों के भीतर प्रवेश कर वहीं से उनका शासन करता है (**अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्**)। गीता भी इन्हीं श्रुति-वाक्यों के आधार पर कहती है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः।
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोह नं च॥

जीव अणु रूप है तथापि वह समस्त शरीर को अपनी चेतना से उद्भासित करता है, जिस प्रकार घर के एक कोने में रखा गया दीपक समस्त घर को प्रकाशित करता है अथवा जिस तरह ललाट पर रहनेवाला चन्दन समस्त देह को विभूषित करता है। जीव प्रति शरीर में भिन्न है और इसलिए वह अनन्त माना जाता है।

जगत

जड़ तत्त्व (अचित्) चेतनाहीन पदार्थ को कहते है। यह तीन प्रकार का होता है—१ 'प्राकृत'—महत्तत्त्व से लेकर महाभूतो तक प्रकृति से उत्पन्न जगत्। २ 'अप्राकृत'—प्रकृति के राज्य से बहिर्भूत जगत्, जैसे भगवान् का लोक, जो 'परमपद', 'परमे व्योमन्', 'विष्णुपद' आदि नामों से अभिहित किया जाता है। ३ 'काल' भी अचेतन पदार्थ है, जो जगत् का नियामक होने पर भी ईश्वर के लिए नियम्य ही होता है।

ईश्वर

यहां ब्रह्म की सगुण रूप से कल्पना मानी गई है। वह समस्त प्राकृत दोषों—अविद्या, आस्मिता आदि—से रहित होता है तथा अनन्त ज्ञान, बल आदि गुणो से सम्पन्न होता है। इस जगत् मे जो कुछ भी दृष्टि-गोचर है या श्रुतिगोचर है, नारायण उसके भीतर और बाहर व्याप्त होकर विद्यमान रहता है। नारायण या कृष्ण के नाम से ईश्वर ही अभिहित किया जाता है। ईश्वर प्राणियों के कर्मों के फलों को वितरण करता है। ईश्वर है सर्वव्यापी, सर्वनियन्ता, निरतिशय सूक्ष्म, निरतिशय महान् तथा सबको अतिक्रमण करनेवाला। उसकी शक्तियों और सामर्थ्यो की अवधि नहीं है और वह अपनी इच्छामात्र से जगत् की सृष्टि आदि व्यापारों को करता है।

जीव तथा ईश्वर का सम्बन्ध कैसा है? रामानुज के मत में दोनों में अभेद प्रधान है तथा भेद गौण होता है, परन्तु निम्बार्क के मत में भेद तथा अभेद दोनों समान होते है। जीव की दो दशाए होती है—बद्ध तथा मुक्त। दोनों दशाओं में जीव-ब्रह्म का सम्बन्ध 'भेदाभेद' रूप है और सम्बन्ध स्वामा-

विक है। इसका तात्पर्य यह है कि बद्ध और मुक्त दोनों दशाओं में जीव ब्रह्म से भिन्न भी रहता है और अभिन्न भी रहता है। संसारी दशा में जब जीव बद्ध रहता है तब उसके अल्पज्ञ तथा एक देशव्यापी होने के कारण ब्रह्म से उसे भिन्न मानना स्वाभाविक प्रतीत होता है, परन्तु यहां अभिन्नता भी बनी रहती है। जिस प्रकार पेड़ से पत्तों की तथा प्रदीप से प्रभा की पृथक् स्थिति नही होती और न पृथक् प्रवृत्ति होती है, बद्ध जीव की भी वैसी ही दशा है। मुक्तावस्था में भी भेदाभेद-भाव रहता है। मुक्त जीव को ब्रह्म से अभिन्न मानना तो उपयुक्त ही प्रतीत होता है, परन्तु छान्दोग्य (८।३।४) मुक्त जीव के प्रसंग में कहती है—**स्वेन रूपेणैव सम्पद्यते**—अर्थात् मुक्तावस्था मे जीव अपने ही स्वरूप से सम्पन्न हो जाता है। इस श्रुति-वाक्य के आधार पर निम्बार्क मुक्तदशा में भी जीव को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं।[1]

आशय है कि जीव-ब्रह्म का स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध है।

साधन-तत्त्व

बन्धन तथा मोक्ष क्या तथा किस प्रकार होते है? अनादिकाल से जीव अज्ञान के वश में होकर कर्म करता है और इसी कर्म-सम्बन्ध से उसे 'बन्धन' प्राप्त होता है। मोक्ष होगा इस बन्धन से छुटकारा मिलने पर ही। नारायण के स्वरूप का ज्ञान होने पर ही मोक्ष होता है और यह तभी संभव है जब भगवान् का स्वतः अनुग्रह हो—**'हरेरनुग्रहात् तत्स्वरूपावगतौ मोक्षः।'**[2] अब यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान् का अनुग्रह जीव के ऊपर किस कारण से होता है? उत्तर है—शरणागति से, प्रपत्ति से, भगवान् के शरण में जाने से। 'शरणागति' के तत्त्व का विश्लेषण वैष्णवों ने बड़ी मार्मिकता से किया है। शरणागति के स्वरूप को प्रथमतः समझिये, तब उसके प्रकारों पर दृष्टिपात कीजिये। भगवान् से यह प्रार्थना करना कि मैं अपराधों का भण्डार हूं, दरिद्र हू तथा मेरी गति अन्यत्र नहीं है, इसलिए आप ही मेरे उद्धार के लिए उपाय बनिये 'शरणागति' कहलाती है—

---

[1] ब्रह्मसूत्र का 'वेदान्त कौस्तुभ', १।४।२१, [2] निम्बार्क-भाष्य

अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः ।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम् ।।

—अहिर्बुध्न्य संहिता ३७।३१

यह शरणागति छः प्रकार की होती है—१. मैं भगवान् के अनुकूल रहूंगा ऐसा संकल्प, २. भगवान् से प्रतिकूलता को छोड़ना, ३. भगवान् मेरी रक्षा करेंगे, इसमें पूर्ण विश्वास, ४. भगवान् को रक्षक वरण करना, ५. अपनेको भगवान् को समर्पण कर देना, ६. नितान्त दीनता (कार्पण्य)। ऐसी शरणागति ही पूर्ण कही जा सकती है, जो भगवान् को अपना अनुग्रह जीव पर करने के लिए विवश करती है। ऐसी शरणागति या प्रपत्ति तो प्रत्येक वैष्णव-सम्प्रदाय में साधन-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित की गई है, परन्तु इसका विशिष्ट विवेचन वैष्णव आचार्य की सूक्ष्म विवेचन-शक्ति का विलास है। तथ्य यह है कि शरण-तत्त्व श्रीभगवद्गीता का चरम लक्ष्य है, जिसकी ओर स्पष्टतः निर्देश किया गया है, और यह गीता है भागवत-धर्म का प्रमुख ग्रन्थ। इसलिए इसपर आस्था रखना प्रत्येक वैष्णव-सम्प्रदाय का मुख्य कर्तव्य है।

३—माध्व-मत

द्वत वेदान्त के प्रवर्तक श्री मध्वाचार्य हैं, जिनका नाम आनन्दतीर्थ था। माध्व-मत का अपर नाम 'ब्रह्म सम्प्रदाय' है। वायु से यह मत हनुमान को प्राप्त हुआ; हनुमान से भीम को और भीम से आनन्दतीर्थ को। इनका नाम पूर्ण बोध या पूर्णप्रज्ञ भी है और इसी लिए इसे पूर्णप्रज्ञ-दर्शन के नाम से माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शन-सग्रह' में निर्दिष्ट किया है। मध्वाचार्य का जीवन-काल ११९९ ई० से लेकर १३०३ ई० तक माना जाता है।

इनके मत का संक्षिप्त वर्णन यह प्रसिद्ध श्लोक करता है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः, सत्यं जगत्, तत्त्वतो
भेदो, जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गतः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत् साधनम्
अक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः ।।

इस पद्य की व्याख्या तथ्यों के प्रदर्शन के निमित्त इस प्रकार की जा सकती है।

१. **विष्णु की श्रेष्ठता**—विष्णु ही परतम तत्त्व है अर्थात् उनसे श्रेष्ठ अन्य तत्त्व की कल्पना इस मत मे नही है।

२. **जगत्**—जगत् उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार विष्णु। आखिर यह जगत् भगवान् से तो पैदा हुआ है। ऐसी दशा में जगत् की सत्यता अक्षुण्ण है। मध्व अद्वैतवादियो के समान जगत् को माया का कार्य, अतएव 'मायिक' स्वीकार नही करते। अद्वैती जगत् की सत्ता को व्यवहार चलाने के लिए मानते है और इसे ही वे 'व्यावहारिक सत्ता' की सज्ञा से पुकारते है। परन्तु मध्वाचार्य न माया मानते है और न जगत् को मायिक जानते हैं। उनकी दृष्टि में जगत् एक सर्वथा ठोस सत्य है, जिसका अपलाप कभी भी नही किया जा सकता।

३. **भेद**—(क) जीव तथा परमात्मा का भेद वास्तविक है, यह तो एक प्रकार का भेद हुआ। अन्य चार भेद ये है—(ख) ईश्वर का जड़ से भेद, (ग) जीव का जड से भेद, (घ) जीव का दूसरे जीव से भेद; (ङ) एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद। इस प्रकार भेद पांच प्रकार के होते है और भेद का परिज्ञान मुक्ति का साधन है।

४. **जीव**—जीव भगवान् विष्णु का अनुचर है। वह स्वामी है और जीव दास है। जीव अपने कर्मों के अनुसार नीच-ऊंच गति को प्राप्त करते हैं तथा स्वर्ग, नरक और भू-लोक मे विचरण किया करते हैं। प्रधानतया जीव तीन प्रकार के होते हैं—

(क) मुक्तियोग्य—मुक्ति पाने के अधिकारी जीव जो देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती और उत्तम मनुष्य के रूप में पांच प्रकार के होते है।

(ख) नित्यसंसारी—यह जीव सदा दुःख-सुख के साथ मिश्रित रहता है और अपने कर्मो के अनुसार नीची और ऊची गति को पाता है। इसे 'मध्यम मनुष्य' कहते ।

(ग) तमोयोग्य—ये तामसिक जीव हैं, जिनमें दैत्य, राक्षस तथा पिशाच के साथ अधम मनुष्यों की भी गणना है।

५. **मुक्ति**—अपने सुख की अनुभूति मुक्ति कहलाती है। माध्व-मत मे

मुक्त पुरुषों में भी भेद रहता है। मुक्त जीव आनन्द का अनुभव तो करते हैं अवश्य, परन्तु उनकी आनन्दानुभूति में भी पार्थक्य रहता है। मुक्त जीवों के ज्ञानादि गुणों के समान ही उनके आनन्द में भी भेद रहता है। यह माध्व-मत की विशिष्टता है।

६. **भक्ति**—मुक्ति तो साध्य ठहरा। उसकी प्राप्ति का साधन है निर्मला भक्ति—वह भक्ति, जिसमें किसी हेतु के बिना, किसी फल की अपेक्षा के बिना भगवान् के चरणारविन्द में सहज अनुराग होता है। माध्व-मत में 'दास्य भक्ति' श्रेष्ठ मानी जाती है। भगवान् ठहरे स्वामी और जीव ठहरा उनका दास। ऐसी दशा में दास्य भक्ति ही अमला भक्ति का निदर्शन है।

७. **प्रमाण**—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द ये ही तीन प्रमाण माने जाते है। उपमान आदि अन्य प्रमाणों की सत्ता इस मत को मान्य नहीं है।

८. **वेद**—वेद का प्रतिपाद्य विषय हरि स्वयं हैं। हरि, विष्णु या कृष्ण को छोड़कर अन्य किसी देव की स्तुति वेद में विद्यमान नहीं है। गीता का यह वचन इस मत को सर्वथा मान्य है—**वेदैश्च सर्वैं रहमेव वेद्यः**। यह श्रीकृष्ण का वचन है कि सब वेदों के द्वारा मैं ही वेद्य हूं। वेद का प्रतिपाद्य तथा समन्वय विष्णु में ही है।

ये ही आठ बाते माध्व मत के सिद्धान्तों का निष्कर्ष है।

४—चैतन्य-मत

चैतन्य-मत माध्व-मत की ही एक शाखा है, जो बंगाल की उर्वर भूमि में विशेष फूला-फला और अपने वैभव से इस पूर्वीय प्रान्त को समधिक महत्त्वशाली बनाया। चैतन्य महाप्रभु (सोलहवी शती) तथा उनके शिष्यों के द्वारा यह वैष्णव-सम्प्रदाय खूब ही समृद्ध हुआ। इस मत के सिद्धान्त का वर्णन श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस सुन्दर पद्य में बड़ी मार्मिकता के साथ किया है—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावन
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्री चैतन्य—महाप्रभोर्मतमिदंत त्रादरो नः परः॥

इस पद्य के भीतर निहित तथ्यों का प्रतिपादन इस प्रकार है—

१. **आराध्य तत्त्व**—इस मत में आराध्य है व्रजाधिपति नन्द बाबा के पुत्र श्री गोपालकृष्ण। श्रीकृष्ण की तीन लीलाएं प्रख्यात है—वृन्दावन-लीला, मथुरा-लीला तथा द्वारिका-लीला। इन तीनों मे से वृन्दावन-लीला की प्रमुखता इस मत मे मान्य है। अन्य लीलाएं भी गोपीवल्लभ की ही है, परन्तु गोपियों के साथ उनकी जो लीलाएं सम्पन्न हुई, वे ऐसी माधुर्यमयी है कि उन्हें छोड इस मत का साधक अन्य नीरस लीलाओं के चिन्तन मे आसक्त नहीं होता।

२. **धाम-तत्त्व**—भगवान् का धाम है वृन्दावन, जो आनन्द का निकेतन, माधुर्य की खान तथा प्रेम का सरोवर है।

३. **उपासना-तत्त्व**—व्रज की बधुओ के द्वारा सम्पादित उपासना ही मुख्य उपासना है। इसका बीज है रागात्मिका भक्ति, अनुरागमूलक भक्ति। वैधी भक्ति की उपासना रुक्मिणी, सत्यभामा आदि पटरानिया करती है, परन्तु इसमें विधि-विधान ही विशेष है, हृदय के अनुराग का सम्बन्ध बहुत ही न्यून है। परन्तु गोपियों की उपासना सर्वथा स्वार्थहीन, अहैतुकी तथा सान्द्ररसमयी है और यही आदर्श है उपासना-तत्त्व का।

४. **शास्त्र-तत्त्व**—सबसे श्रेष्ठ शास्त्र है भागवत पुराण, जिसमें श्रीकृष्ण की ललित लीलाओं का कीर्तन किया गया है और जिसमें भक्ति के नाना रूपों का सरस विवरण है।

५. **पुरुषार्थ-तत्त्व**—चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—से हमारा परिचय है, परन्तु चैतन्य-मत में इन चारों से भी बढकर पञ्चम पुरुषार्थ है, जिसका नाम है—'प्रेमा'। इसीकी उपलब्धि मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। चैतन्य महाप्रभु ने अपने जीवन की लीलाओं के द्वारा इन पांचों तत्त्वों को भली-भांति प्रदर्शित कर मानवों के कल्याण का एक मंगल-मय मार्ग प्रतिष्ठित किया।

साध्य और साधन

गौडीय वैष्णवों ने मानव-जीवन की समस्याओं की मीमांसा बड़ी अन्त-रग दृष्टि से की है। मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है? किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव सर्वदा सचेष्ट रहता है? मनुष्य भगवच्चालित यन्त्र के समान

है अवश्य, फिर भी वह अपने भाग्य का विधाता है। अपना कल्याण वह अवश्य चाहता है, किन्तु वह ठीक-ठीक नहीं जानता कि उसका कल्याण किस मार्ग पर अग्रसर होने से सम्भव है। गुरु तथा शास्त्र का उपदेश उसे जीवन की सच्ची दिशा प्रदर्शित करने में समर्थ होता है। श्रीमद्भागवत का सुन्दर उपदेश है कि जब यात्रा करनेवाले जीव के ससार का नाश होनेवाला होता है, तब उसे भगवान् के किसी भक्त का समागम प्राप्त होता है। उस सत्संग के होने पर ही जीव भगवान् में प्रेम करने लगता है और उस प्रेम द्वारा ही वह सद्गति (मोक्ष) प्राप्त करता है।

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत्
जनस्य तर्ह्यच्युतसत्समागमः।
सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते रतिः॥

—भागवत, १०।५१।५५

जीवन का परम मंगलमय साध्य है—'प्रेमा'। यह मोक्ष से भी बढकर मान्य पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के चतुष्टय होने की बात ये वैष्णव लोग नहीं मानते। अन्य दर्शनवाले जहां मोक्ष को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं, वहां चैतन्य मत में प्रेमा या प्रेम ही जीवन का सार है और प्रेमा साक्षात् कृष्ण का ही रूप है। इसीलिए ये पंच पुरुषार्थ को माननेवाले दार्शनिक हैं।

रूप गोस्वामी ने इस प्रेमा-तत्त्व की बडी ही मनोवैज्ञानिक व्याख्या अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत की है, जो आधुनिक मनोविज्ञान के पण्डितों के लिए विशेष मनन करने योग्य है। उनका कथन है कि प्रेम विभिन्न क्रमों को पार करता हुआ अपने विशुद्ध रूप में आविर्भूत होता है। इसकी क्रमिक दशाओं के नाम नीचे दिये जाते है, जिनको पार करने के बाद यह शुद्ध तत्त्व उद्भूत होता है। इन भावनाओं की क्रमबद्ध शृखला यह है—स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव तथा महाभाव। इन मानस-वृत्तियों के द्वारा प्रेम किस तरह परिनिष्ठित प्रेमा के रूप मे प्रतिष्ठा पाता है, इसपर विचार करना आवश्यक है।

१. **स्नेह**—जब प्रेम घनीभूत दशा में ऐसा प्रभावशाली बन जाता है कि हृदय पिघल उठता है, तब इसका नाम 'स्नेह' होता है।

२. **मान**—यह प्रेम के परिवर्धन तथा विकास की अग्रिम दशा है। जब स्नेह विकास की ऊर्ध्वगामी दिशा में उपभोग के माधुर्य को बढाने और पुष्ट करने के लिए औदासीन्य की भावना को अपनाता है, तब यह 'मान' कहलाता है। यह भाव क्रोध नहीं है, किन्तु बाहरी दृष्टि से क्रोध के समान प्रतीयमान होता है।

३. **प्रणय**—(प्रकर्षेण नयति सामीप्यम्)। जब प्रेमी प्रेमिका के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है, तब यह 'प्रणय' कहलाता है। यह एक का दूसरे के साथ पूर्ण ऐक्याकी दशा का सूचक है, जब दोनों में आपाततः प्रतीयमान-भेद अभेद के रूप में विकसित हो उठता है।

४. **राग**—प्रेमपात्र के लिए नाना यातनाए सहने पर भी जब प्रेमी के हृदय में आनन्द-ही-आनन्द विद्यमान रहता है, वह किसी प्रकार का न तो खेद पाता है और न विषाद, तब वह स्नेह 'राग' की संज्ञा पाता है।

५. **अनुराग**—राग के पश्चात् होनेवाली यह मानसवृत्ति 'अनुराग' कहलाती है (अनु=पश्चात्, राग)। इस दशा में प्रेमी प्रेमपात्र के रूप में, व्यवहार में तथा आचरण में नवीन माधुर्य तथा आस्वाद पाता है।

६. **भाव**—'भाक्तिरसामृतसिन्धु' मे भाव का लक्षण इस प्रकार किया गया है :

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥

—अर्थात् भाव वह मानस-दशा है, जिसकी आत्मा है शुद्ध सत्त्व। साधारण मायामिश्रित सत्त्व से पृथक् करने के लिए यहां 'शुद्ध सत्त्व' कहा गया है। यह प्रेमरूपी सूर्य की किरणों के साथ समता रखता है अर्थात् जिस प्रकार किरणे सूर्य के आगमन तथा उदय की सूचना देती हैं, उसी प्रकार भाव कृष्णप्रेम की सूचना देता है। यह श्रीकृष्ण के पाने की अभिलाषाओं द्वारा चित्त को पिघला देता है। इससे पूर्व उपासक के चित्त में कठोरता और काठिन्य की स्थिति बनी रहती है, किन्तु इस दशा के उदयकाल में चित्त पिघल जाने के कारण मसृण (चिकना) बन जाता है। ऐसी मानसिक वृत्ति 'भाव' के नाम से अभिहित की जाती है। इसमें सत्त्व की शुद्धता भाव का 'स्वरूप' लक्षण है और चित्त की मसृणता 'तटस्थ'-लक्षण है। इसीका अन्य

नाम 'रति' है।

७. महाभाव—भाव जब अपनी पूर्णता पर पहुंच जाता है, तब उसे 'महाभाव' कहते है। यही प्रेमा के नाम से साधारणतया अभिहित किया जाता है। इसका शास्त्रीय लक्षण इस प्रकार है:

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयान्वितः।
भाव एव स सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

—अर्थात् जब रति (भाव) परिबृंहित दशा मे चित्त को पूर्व आरम्भिक दशा की अपेक्षा और भी अधिक कोमल तथा मृदुल बना देती है, तब उसे 'प्रेमा' कहते है। इस दशा में कृष्ण के प्रति अत्यधिक ममता या स्नेह या आसक्ति उत्पन्न होती है। यही प्रेमा 'भक्तिरस के लिए स्थायी भाव का कार्य करती है।

'प्रेमा' के उदय का भी एक मनोवैज्ञानिक क्रम है। कार्यकारण की एक शृंखला है, जिसके भीतर से जाने पर ही भक्त के हृदय मे यथार्थ प्रेमा की उत्पत्ति होती है। 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' के अनुसार इस सोपान का क्रम नीचे दिया जाता है। सर्वप्रथम उत्पन्न होती है 'श्रद्धा' (दृढ़ विश्वास)। तब होता है साधु का समागम। तब भजन की क्रिया (श्रीकृष्ण के नामों का जप) आरम्भ होती है, जिससे भक्तों के अनर्थ का निवारण हो जाता है। अनन्तर उदित होती है 'निष्ठा' अर्थात् अत्यन्त उत्साह के साथ भजन का सन्तत सेवन और अनुष्ठान। तब होती है रुचि अर्थात् भजन करने तथा लीला-श्रवण में प्रेम, जिससे उत्पन्न होती है 'आसक्ति' अर्थात् दृढ़ गम्भीर स्नेह। इसके पीछे तथा अन्त में प्रेमा का उदय होता है। प्रेमा की समता सूर्य से दी जाती है। जिस प्रकार सूर्य का उदय होने पर निशा का अवसान हो जाता है और सर्वत्र किरणों का विस्तार होता है, प्रेमा की भी यही दशा होती है। इस महाभाव के चित्त में उदय होते ही साधक का चित्त आह्लाद से प्रफुल्लित हो उठता है। प्रेमा के 'महाभाव' कहने का आशय यह है कि सांसारिक रति तो भावरूपा ही होती है, किन्तु श्रीकृष्णविषया रति ही महान् भाव (या स्थायीभाव) बनने की अधिकारिणी है।

चैतन्य-मत में श्रीकृष्ण-प्रेम ही 'साध्य-तत्त्व' है। इसकी प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है, कृष्णभक्ति। इस प्रकार वैष्णव-सम्प्रदाय में भक्ति ही

'अभिधेयतत्त्व' है। श्रीमद्भागवत के अनुसार ज्ञानयोग की प्राप्ति में महान् क्लेश होता है। इसे प्राप्त करने में साधक को केवल क्लेश ही हाथ लगता है, जैसे भूसा के कूटने में कष्ट-ही-कष्ट होता है—उससे एक भी दाना अन्न का नहीं मिलता। उधर भक्ति के आश्रयण से कल्याण बरसने लगता है। न तो उसमें कहीं क्लेश है, और न फल का अभाव :

श्रेय-स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेसामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

—भागवत, दशम स्कंध, अ० १४, ब्रह्मा-स्तुति

ज्ञानी लोग समझते है कि उन्होंने जीवन्मुक्ति को पा लिया है अर्थात् जीवनकाल में ही सर्वदुःखों से मुक्त होकर आनन्द का अनुभव कर लिया है। किन्तु तथ्य तो यह है कि उनकी बुद्धि (विषय को समझनेवाली शक्ति) तबतक विशुद्ध, निर्मल, दोषरहित तथा पवित्र नहीं होती, जबतक उनके हृदय में श्रीकृष्ण के चरणारविन्द भक्ति का उदय नहीं होता। वे बड़े क्लेश से परम पद पर चढ भी जाते हैं, किन्तु भक्ति से हीन होने के कारण वे उस उच्च पद से गिर जाते हैं :

येऽन्येऽरविन्दाक्ष! विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधो नाद्रितयुष्मदङ्घ्रयः॥

—भागवत, १० स्कन्ध

इस प्रकार मोक्ष की पदवी पाने के लिए भक्ति ही एकमात्र सुलभ साधन है। भक्ति के सहारे ही साधक परम पद को सर्वदा के लिए प्राप्त कर लेता है। उसे पाने पर उससे भक्त का कभी पतन नहीं होता। इस तरह चैतन्य मत में श्रीकृष्ण-प्रेम ही 'साध्य-तत्त्व' है तथा उसकी प्राप्ति का एक-मात्र उपाय होने से श्रीकृष्ण-भक्ति ही 'साधन-तत्त्व' है।

५—वल्लभ-मत

वल्लभाचार्य भारतवर्ष के माननीय आचार्यों में अन्यतम हैं। इन्होंने पन्द्रहवीं शताब्दी में रुद्र-सम्प्रदाय की पुनः प्रतिष्ठा की। इस सम्प्रदाय के माननीय आचार्य थे—श्री विष्णु स्वामी, परन्तु कराल कलि के विलास से

उनका आचार्य रूप में केवल अभिधान ही अवशिष्ट है। आचार्य वल्लभ की दार्शनिक दृष्टि 'शुद्धाद्वैत' की है, जिसका व्यवहार-पक्ष 'पुष्टिमार्ग' के नाम से प्रख्यात है।

दार्शनिक तत्त्व

आचार्य जीव और ब्रह्म की नितान्त एकता के पक्षपाती हैं, परन्तु उनके विचार में ब्रह्म नितान्त विशुद्ध, माया के सम्पर्क लेश से भी सर्वथा अस्पृश्य, रहता है।

माया से सम्बन्धरहित होने के कारण ब्रह्म शुद्ध कहा जाता है और यही मायारहित स्वतन्त्र ब्रह्म इस संसार में कार्य तथा कारण रूप सर्वत्र व्यापक है। इसी कारण यह मत 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस मत में ब्रह्म सर्व-धर्म-विशिष्ट अंगीकृत किया गया है। अतः उसमें विरुद्ध धर्मों की सत्ता भी नित्य है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का श्रेष्ठ रूप निर्गुण है। वह माया के सम्बन्ध से सगुण रूप धारण करता है। वह सगुण के सम प्रतीत होता है। परन्तु शुद्धाद्वैती वल्लभ माया की सत्ता स्वीकार नहीं करते। ब्रह्म विरुद्ध धर्मों की सत्ता माया से प्रतिभासित नहीं होती, प्रत्युत वह स्वाभाविकी है। अखिल रसामृत मूर्ति श्री आनन्द कन्द कृष्ण ही परम ब्रह्म है। वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म ही जीव तथा जगत् के रूप में आविर्भूत होता है। भगवान् सच्चिदानन्द रूप हैं। वह अपनी इच्छा से अपने तीनों गुणों को लेकर ईश्वर रूप से प्रकट होते हैं। वह अपने आनन्दांश को तिरोहित कर जीव की सृष्टि करते है, और चित् तथा आनन्द दोनों को तिरोहित कर जड़ जगत् की सृष्टि करते है। इस प्रकार ईश्वर में सत्, चित् तथा आनन्द इन तीनों गुणों का विकास रहता है और 'आनन्द' की ही प्रधानता रहती है। जीव में आनन्द को छोड़कर शेष दो गुण विद्यमान रहते हैं और चित् की प्रधानता रहती है। जगत् में एक ही गुण विद्यमान रहता है और वह है केवल 'सत्', अर्थात् जड़ में सत्ता की ही एकमात्र स्थिति रहती है।

भगवान् इस सृष्टि के कर्त्ता हैं। इच्छावाला व्यक्ति ही किसी कार्य का कर्त्ता या सम्पादक बनता है, भगवान् तो ठहरे आप्तकाम।

तब स्पृहा कैसी ? **'आप्त कामस्य का स्पृहा'**। इसका उत्तर वल्लभाचार्य देते हैं कि भगवान् स्वतन्त्र हैं। यह जगत् उनकी लीला का विलास है। वह स्वेच्छया क्रीड़ा में निरत होते हैं। सृष्टि जिस प्रकार लीला है, संहार भी उसी प्रकार लीला है। वह लीला-निकेतन ललित लीलाएं किया करता है। हमारी क्रीड़ा या बालक की क्रीड़ा तथा भागवती क्रीड़ा में विशेष अन्तर है। इस भेद का स्पष्टीकरण यह श्लोक करता है—

"क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चक्रीडिषाऽन्यतः।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदाऽन्यतः।"

अर्भक की क्रीडा में तीन बातें साफ दीख पडती हैं—उद्यम,बालक का प्रयत्न, काम-इच्छा तथा दूसरे के साथ की अपेक्षा, परन्तु भगवान् तो स्वतः तृप्त ठहरे, समग्र कामनाएं तृप्त हैं तथा सदा दूसरे से निवृत्त ठहरे। अतः उनमें उद्यम तथा अन्य-सम्पर्क की आवश्यकता ही नही रहती। हां, विलास की इच्छा अवश्य रहती है। यही तो लीला है, परन्तु पूर्णानन्द रूप भगवान् में यह न तो कोई प्रयास उत्पन्न करती है और न कोई बाहरी कार्य ही पैदा करती है। इस लीला-तत्त्व की व्याख्या सुबोधिनी में आचार्य चरण ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में की है—

"लीला नाम विलासेच्छा। कार्यण्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्याबहिः कार्य जन्यते जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयासं जनयति। किन्तु अन्तः करणे पूर्णे आनन्दे तदुल्लासेन कार्यजनन सदृशी क्रिया काचिदुत्पद्यते।"

—सुबोधिनी, भागवत, तृतीय-स्कन्ध

मर्यादा-मार्ग

वल्लभाचार्य के अनुसार मार्ग दो प्रकार के होते हैं—मर्यादा-मार्ग और पुष्टि-मार्ग। मर्यादा-मार्ग वैदिक मार्ग है, जिसमें लोक-मर्यादा की रक्षा प्रधान लक्ष्य है। मर्यादा-मार्ग का मूल मंत्र है—**'कर्मानुरूपं फलं'**। जीव जैसा कर्म करेगा, भगवान् उसे वैसा ही फल देते है। कर्म की विशेष महिमा है। कर्म के द्वारा जीव बद्ध है और फल देने के लिए भगवान् भी कर्म के द्वारा परतंत्र हैं। भगवान् फल देने के लिए जीव के कर्मों की अपेक्षा रखते हैं। कर्म का करना प्रयत्न के ऊपर साक्षेप है। प्रयत्न में काम की अपेक्षा है। काम में

प्रवाह की अपेक्षा रहती है। इसी मर्यादा की रक्षा करने के लिए भगवान् ने वेद की रचना की। इसलिए ब्रह्म में दोष का गन्ध भी नहीं है और न इससे उनमें ऐश्वर्य-भाव का ही अभाव सम्पन्न होता है। मर्यादा-मार्ग की विशिष्टता ही ऐसी है कि ब्रह्म फल प्रदान करने के लिए जीवों के कर्मों की अपेक्षा रखता है। वह स्वयं इस विषय में परतन्त्र है। आचार्य के शब्दों में ही मर्यादा मार्ग की विचित्रता देखिये—

"फलदाने कर्मापेक्षः। कर्म कारये प्रयत्नापेक्षः। प्रयत्ने कामापेक्षः। कामेप्रवाहापेक्षः। इति मर्यादा रक्षार्थं वेदं चकार। ततो ब्रह्मादि दोष-गंधोऽपि न चानीश्वरत्वम्। मर्यादामार्गस्य तथैव निर्माणात्।"

—अणु-भाष्य-सूत्र, २।३।४२

मर्यादा-मार्ग का भी अन्तिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है और यह फल शास्त्र-विहित ज्ञान और कर्म के आचरण से ही मिलता है। इस मार्ग का पथिक शास्त्रों में विहित स्वकीय आश्रम-धर्म तथा कर्म का विधिवत् निष्पादन करता है और ज्ञान के द्वारा दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति पाने में समर्थ होता है।

पुष्टि-मार्ग

पुष्टि-मार्ग इससे नितान्त विलक्षण है। यह मार्ग श्रीमद्भागवत पुराण के ही सुन्दर सिद्धान्तों का विलास है। 'पुष्टि' शब्द भी भागवत की देन है। पुष्टि का अर्थ है 'भगवदनुग्रह', भगवान् का अनुग्रह, भगवान् की कृपा, उनकी दया—

"पोषणं तदनुग्रहः।"

—भागवत, २।१०।४

पुष्टि का प्रधान साधन है भक्ति-प्रपत्ति। बिना भगवान् के शरणापन्न हुए मुक्ति नहीं होती और यह भक्ति भी 'आनन्दकन्द श्री ब्रजचन्द' के अनुग्रह से ही साध्य है। जगत का साधारण व्यापार भी बिना भगवती कृपा के सुलभ नहीं होता, तब भक्ति जैसे पदार्थ की प्राप्ति भी उसके बिना सुतरां दुष्कर है। भागवत् जिसे 'पुष्टि' के नाम से पुकारता है, वही है तन्त्रों की भाषा में 'शक्तिपात'। क्रिश्चियन धर्म में इसीका नाम है 'डिसेंट ऑव डिवाइन ग्रेस।' जीव में भगवत् कृपा का पतन होने पर ही वह अकुं-

ठित शक्ति होकर मुक्ति की ओर अग्रसर होता है, भक्ति करने का अधिकारी बनता है। वल्लभाचार्य के शब्दों मे पुष्टि-मार्ग है—

"अनुग्रहैक साध्यः प्रमाणामार्गाद् विलक्षणः।"

—ब्रह्मसूत्र, अणुभाष्य ४।४।६

पुष्टि-मार्ग केवल अनुग्रह के ही द्वारा साध्य होता है, इसकी सिद्धि का अन्य मार्ग है ही नहीं। इसलिए यह मर्यादा-मार्ग से विलक्षण है। पुष्टि-मार्ग वही है, जिसमें साधक सर्वथा समग्र विषयों को त्यागकर अपनी देह, वासना, कामना आदि समस्त पदार्थों का समर्पण भगवान् में कर देता है—

"समस्त विषयत्यागः सर्वभावेन यत्र हि।
समर्पणं च देहादेः 'पुष्टिमार्ग' सकथ्यते।"

इस मार्ग में भक्ति ही प्रधान है। भगवान् सर्वथा स्वतन्त्र है। फल देने के लिए कर्म की तनिक भी अपेक्षा नहीं रखते। वह सर्वशक्तिशाली प्रभु अपनी दया से आत्म-समर्पणशील जीवों का उद्धार करते हैं। वह न तो उनके कुकर्मों पर दृष्टि डालते है और न वह उनके अज्ञान की ओर अपना ध्यान देते हैं। इस मार्ग में भगवान् की भगवत्ता तथा सर्वशक्तिमत्ता का पूर्ण रक्षण है। भगवान् को कर्मापेक्षी माननेवाले मार्ग भगवान् की शक्तिमत्ता का निर्वाह क्या अच्छे ढंग से कर सकते हैं?

यह तो हुआ पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त। अब इसके व्यावहारिक साधन की ओर ध्यान दीजिये। इसका जिस विधि से व्यावहारिक रूप निष्पन्न होता है, उसका सम्प्रदाय में अभिधान है—'ब्रह्म-सम्बन्ध'। आचार्य वल्लभ ने अपने 'सिद्धान्त-रहस्य' नामक प्रख्यात स्तोत्र में इस अनुष्ठान में का उल्लेख किया है। इस अनुष्ठान के द्वारा भागवत-तत्ववेत्ता गुरु, मुमुक्षु तथा शिष्य का भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़ देता है। अधिकारी शिष्य को ही सुयोग गुरु 'शरणमंत्र' का उपदेश देते हैं। यह माननीय मन्त्र है—

"श्रीकृष्णः शरणं मम।"

आचार्य पाद ने स्वयं इस मंत्र के विषय में अपने 'नवरत्न' में कहा है—

"तस्मात् सर्वात्मना नित्यं 'श्रीकृष्णः शरणं मम।'
वदद्विभरेवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः।"

—नवरत्न, ६

इसके अनन्तर गुरु शिष्य को भगवान् के विग्रह के पास ले जाता है, कंठी और माला देकर 'दीक्षामत्र' उपदेश देता है। यह सुतरां गोप्य मंत्र 'आत्मनिवेदन मंत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें साधक अपनी समस्त वस्तुओं को, अपनी देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण को, उनके धर्मों के साथ अपनी आत्मा को भी भगवान् को निवेदन कर देता है। वह मन्त्र यह है—

"सहस्र परिवत्सरमितकालजात कृष्ण वियोग-जनित तापक्लेशानन्द तिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रिय प्राणान्तःकरणानि तद् धर्माश्च दारागार पुत्रास्यवित्तेहापराणि, आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि।"

इस मंत्र-दीक्षा के अनन्तर साधक का नवीन जन्म सम्पन्न हो जाता है। भक्त को गोपियों के आदर्श का पालन करना चाहिए। भगवान् को आत्म-समर्पण के अनन्तर भक्त को अपने जीवन पर तनिक भी ममता नही—स्वतन्त्रता नहीं। वह तो यन्त्रवत् भगवान् की ही प्रेरणा से प्रपंच में निरत रहे, तो भी उसके पतन का कोई भय नही, परन्तु साधक में होनी चाहिए सच्ची प्रपत्ति, सत्यनिष्ठा, ऐकान्तिकी भक्ति, अनन्या भक्ति। भागवत की यह उक्ति यथार्थ है—

"तावद् रागादयः स्तेनास्तावद् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण! न ते जनाः॥"

—भागवत, १०।१४।३६

राग-द्वेष तभी तक चोर के समान हृदय की शान्ति को चुराते हैं, तभी तक गृह कारागृह है—जेलखाने के समान भयानक तथा स्वतन्त्रता का अपहर्ता है, तभी तक मोह पैर का बधन है; जबतक, हे कृष्ण, हम आपके जन, सेवक, दास, शरणापन्न नही हो जाते।

जगत् के प्रपच मे भागने की आवश्यकता नहीं है। भागकर कोई जा ही कहा सकता है? आवश्यकता है इसी ब्रह्म-सम्बन्ध की; अपनी समग्र वृत्तियों को, समग्र कामनाओं को भगवान् के समर्पण कर देने की। भगवान् के दास, भगवज्जन, भवदीय होते ही भक्त की सत्ता ही पृथक् नहीं रहती। उसका जीवन भगवन्मय हो जाता है और इसी कारण संसार में साधारणतया जो पदार्थ बधन का कार्य करते हैं, वे ही इस दशा में मुक्ति के

साधक बन जाते हैं। यह परिवर्तन तथा परिणाम ब्रह्म-सम्बन्ध की स्थापना पर ही सिद्ध होता है।

अतः उपर्युक्त विवेचन से मर्यादा-मार्ग से पुष्टि-मार्ग की विलक्षणता स्पष्ट है। मर्यादा-मार्ग वैदिक है, जो 'अक्षर-ब्रह्म' की वाणी से उत्पन्न हुआ है, परन्तु पुष्टि-मार्ग पुरुषोत्तम के साक्षात् शरीर से निकला है। ध्येय की भी दोनों में विभिन्नता है। मर्यादा-मार्ग में ज्ञान तथा श्रवण आदि साधनों द्वारा सायुज्यमुक्ति की प्राप्ति ही ध्येय है। परन्तु पुष्टि-मार्ग में सर्वात्मना 'आत्मसमर्पण' तथा 'विप्रयोग' रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनन्द-धाम भगवान् के साक्षात् अधरामृत का पान ही मुख्य फल है।

भक्ति-मीमांसा

भक्ति साधन भी है और साध्य भी। साधन-भूता भक्ति से ज्ञान का उदय होता है और इस ज्ञान के उदय से भक्ति उत्पन्न होती है। गीता के अनुसार भी साधन-मार्ग का यही क्रम है। गीता का साधन-क्रम भी यही है—कर्म-ज्ञान-भक्ति। कर्म के यथावदनुष्ठान से चित्त की शुद्धि होती है और शुद्ध चित्त में ही ज्ञान-धारण करने की योग्यता है। पूर्णज्ञान के उदय होने पर भक्ति की उत्पत्ति होती है। परन्तु यह भक्ति साधन-रूपा न होकर साध्य-रूपा है। साध्य-रूपा भक्ति ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक है, परन्तु प्रेम-रूपिणी भक्ति का अधिकारी वही व्यक्ति होता है, जो पूर्ण ज्ञान से सम्पन्न होता है। गीता ने भक्ति को ज्ञान का साधन स्पष्टतया उद्घोषित किया है—

"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम्॥"

—श्रीमद्भगवतगीता, १८।५५

साधक भक्ति के द्वारा भगवान् को तत्त्वतः जानता है। तत्त्व-ज्ञान की दो रूप से प्राप्ति होती है। **"यावान् और य."**—भगवान् का विस्तार तथा भगवान् का तात्विक स्वरूप। जगत का यह विस्तार उपाधिकृत है। यह समग्र जगत् ही उसके विस्तार का पर्यवसान है, परन्तु यह समस्त उपाधि-निर्मित है, भगवान् का तात्विक रूप समग्र उपाधियों से रहित है। वह उत्तम पुरुष है तथा आकाश के समान निरंजन, अद्वैत तथा अमर है। इसकी

उपलब्धि भक्ति के द्वारा होती है।

सम्पूर्ण ज्ञान होने पर ही सच्ची भक्ति का उदय होता है। शांडिल्य के शब्दों में भक्ति ईश्वर में परा, श्रेष्ठ अनुरक्ति है—"**सा परानुरक्तीश्वरे।**" भक्ति परम प्रेम-रूपा है। भक्त-शिरोमणि रूपगोस्वामी ने भक्ति का बड़ा ही सुन्दर तथा तात्त्विक लक्षण इस प्रकार किया है—

"**अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।**
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥"

—भक्तिरसामृतसिन्धु, १।१।११

भगवान् श्रीकृष्ण परम स्नेहास्पद हैं। अतः उनके अनुशीलन को भक्ति कहते है, जिसमें अन्य किसी पदार्थ की अभिलाषा न हो, ज्ञान (निर्गुण ब्रह्मानुसंधान) तथा कर्म (स्मृति में प्रतिपादित नित्य-नैमित्तिक आदि) का आवरण न हो, परन्तु कृष्ण के अनुकूल होनेवाली प्रवृत्ति की सत्ता हो। इस भक्ति का उदय ज्ञान के अनन्तर होता है। इसलिए ज्ञानी भक्त की गीता में सर्वश्रेष्ठ भक्त के रूप में गणना है। इतना ही क्यों? ज्ञानी भक्त तो भगवान् की ही आत्मा है—"**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।**" ज्ञानी भक्त की इस महती प्रतिष्ठा का एक कारण है। आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भक्त सकाम होते हैं, क्योंकि वे अपनी आत्मा की तृप्ति में निरत रहते है। परन्तु ज्ञानी होता है आप्तकाम अर्थात् निष्काम भक्त। कामना-विरहित होने मे ही ज्ञानी भक्त भगवान् का विशेष प्यारा होता है। गीता के ऐसे कथन को ब्रह्मसूत्र भी प्रमाणित कर रहा है। ब्रह्मसूत्र का स्पष्ट कथन है कि भगवान् मुक्त पुरुषों के द्वारा उपसर्पणीय होते है—

"**मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात्।**"

—ब्रह्मसूत्र, १।२।४

भागवत पुराण भी इसी तत्त्व का प्रतिपादन विभिन्न शब्दों में इसी प्रकार करता है—

"**आत्मारामा हि मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे**
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥"

आशय यह है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र इतने कमनीय गुणों के आगार हैं कि संसार की ग्रन्थियों का उन्मोचन करनेवाले, आत्मा मे रमण करने-

वाले सन्त लोग भगवान् में बिना किसी कामना के ही भक्ति किया करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्ण ज्ञानी ही भक्ति का विशिष्ट अधिकारी होता है, परन्तु यह साधनारूपा भक्ति न होकर साध्यरूपा भक्ति है।

चैतन्य मत के अनुयायी भक्ति की तीन भूमिका मानते हैं—१. साधन-भक्ति, २. भाव-भक्ति तथा ३. प्रेमा-भक्ति। साधन-भक्ति वैधी तथा रागानुरागा रूप से दो प्रकार की होती है। साधन-भक्ति का उत्कृष्ट रूप भाव-भक्ति है और यही घनीभूत भाव भक्ति ही प्रेमाभक्ति के नाम से पुकारी जाती है। रूपगोस्वामी के शब्दों मे अन्तिम दोनों भक्तियों के रूप इस श्लोक में प्रकट किये गए है—

रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

गौड़ीय वैष्णवों की भक्ति के इन तीन प्रकारों को वल्लभ ने दो ही प्रकार की भक्ति के भीतर माना है। एक है मर्यादा-भक्ति और दूसरी है पुष्टि-भक्ति, जिनमें पहली साधना रूपा है और दूसरी साध्यरूपा। भक्ति होने में यही सर्वश्रेष्ठ साधन है।

वल्लभ के सिद्धान्त का यही निष्कर्ष है—

१. भगवान् श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म हैं।

२. उनके अनुग्रह से ही जीव को मुक्ति मिलती है।

३. मुक्ति का प्रधान साधन साध्यरूपा भक्ति है।

४, संसार में तीन ही जीवन के उद्देश्य है—

(क) आचार्य वल्लभ का आश्रय; (ख) सुबोधिनी (भागवत की वल्लभ-प्रणीत टीका) का अध्ययन; (ग) भगवान् श्री राधिकानाथ की उपासना।

नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा सुबोधिनी।
नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले॥

उपसंहार

इस प्रकार इस ग्रन्थ में भारतीय दर्शन के सम्प्रदायों का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। इन सम्प्रदायो के सिद्धान्तों में परस्पर-विरोध दृष्टिगोचर होता है, परन्तु भीतर प्रवेश करने पर उनमें विरोध का परिहार कर एकवाक्यता लाई जा सकती है। भेद का कारण दृष्टि-भेद है। न्याय, वैशेषिक तथा मीमासा का दृष्टि-भेद प्रारम्भिक माना जाता है। उससे अधिक विकासशील दृष्टि है साख्ययोग की और इसलिए वह आगे की कोटि मे आता है। वेदान्त की दृष्टि भारतीय दार्शनिक चिन्तनों में अन्तिम मानी जाती है। कार्यकारण की शृंखला पर दृष्टिपात करने से तीन सिद्धान्त मुख्यतया सामने आते है, जो क्रमशः विकास की योजना प्रस्तुत करते हैं—

आरम्भवाद—न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा।

परिणामवाद—सांख्य, योग, विशिष्टाद्वैत आदि वैष्णव सम्प्रदाय।

विवर्तवाद—अद्वैत वेदान्त।

'आरम्भवाद' की दृष्टि में यह विश्व विभिन्न परमाणुओं के पुंज से उत्पन्न होता है। कारण में कार्य की सत्ता पहले से नही रहती। उत्पत्ति एक नवीन घटना है। कार्य का आरम्भ नूतन घटना है। इस दृष्टि से तन्तुओं से पट की उत्पत्ति एक नई वस्तु है, क्योंकि तन्तुओं में पट पहले से वर्तमान नहीं था, प्रत्युत जुलाहे के द्वारा वह नये रूप में उत्पन्न किया जाता है। यह दृष्टि है न्याय, वैशेषिक तथा कर्म-मीमांसा की।

'परिणामवाद' एक डग आगे बढ़ता है। इसके अनुसार कार्य और कारण में अन्तर या पार्थक्य नहीं रहता। कार्य के व्यापार होने से पूर्व

कारण में कार्य अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। कार्य-व्यापार द्वारा वही अव्यक्त वस्तु व्यक्त बनाई जाती है। इस मत से तन्तुओं में पट आरम्भ से ही वर्तमान रहता है। जुलाहे के व्यापार से वह अव्यक्त पट व्यक्त पट के रूप में आविर्भाव पाता है। कार्य व्यक्त दशा का सूचक, और कारण है अव्यक्त दशा का द्योतक। सांख्य, योग तथा विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि भक्तिपरक वैष्णव वेदान्त की दृष्टि है।

'विवर्तवाद' के अनुसार कारण ही एकमात्र सत्ता है। कार्य कारण से अभिव्यक्ति पाने पर भी वास्तविक नही होता। ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और यह जगत् उससे आविर्भूत असत् पदार्थ है। इसका नाम विवर्तवाद है। यह दृष्टि अद्वैत वेदान्त के अनुयायियो की है। इस प्रकार दृष्टिभेद से दर्शनों में परस्पर भेद है।

इस दृष्टि-भेद को एक उदाहरण की सहायता से समझिये। भारतीय दर्शन एक विशाल महल के समान है, जिसके अवान्तर सम्प्रदाय विभिन्न खण्डों के सदृश है। जिस प्रकार कई खण्डवाले मकान का प्रत्येक खण्ड स्वतन्त्र होता है, वही दशा वहां दार्शनिक सम्प्रदायों की है। एक खण्ड में रहने-वाला व्यक्ति ऊपर के खण्ड की बात नहीं जानता और उसे जानने की जरू-रत ही नहीं है। वह स्वतः पूर्ण है। दार्शनिक विकास की जिस सीढी पर वह ठहरा है, वहां वह अपने-आप पूरा है। इस प्रकार दर्शनों मे सविरोध दिख-लाया गया है। यह तो षड्दर्शन की बात ठहरी। जैन तथा बौद्ध दर्शनों का भी षड्दर्शन के साथ मंजुल सामजस्य दिखलाने की ओर प्राचीन विद्वानों की दृष्टि गई थी, जिसका संकेत इस श्लोक मे किया गया मिलता है—

श्रोतव्यः सौगतो धर्मः कर्तव्यः पुनरार्हतः।
वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः॥

—बुद्ध धर्म को केवल सुन लेना चाहिए। जैन-धर्म को कर्तव्य मानना चाहिए। वैदिक धर्म को व्यवहार में लाना चाहिए तथा परम शिव का ध्यान करना चाहिए। अद्वैत सत्ता ही वास्तव सत्ता है। वर्तमान विज्ञान भी उसी ओर लक्ष्य कर रहा है। सिद्धसेन दिवाकर की यह उक्ति कितनी सटीक है—

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥

—हे प्रभु, जैसे समुद्र में सब नदियां मिल जाती है, ऐसे ही सब दार्शनिक दृष्टियां आपमें समन्वित है। किन्तु पृथक्-पृथक् उनमें आप दृष्टिगोचर नहीं होते, जैसे अलग-अलग नदियों मे समुद्र का परिच्छेद नही है।

अनुक्रमणिका

[दर्शन के महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दो का समावेश इस अनुक्रमणिका मे किया गया है। मूल शब्दों के अन्य रूपो और भेदों को अलग न रखकर उन्हींके साथ दे दिया गया है।]

अंतर्बुद्धि १४
अंतराय १५१
अंतर्यामी ३७०, १
अतःकरण २७८, ३४८, ५०
अंश, (अंशी) ३७१
अक्षर ९१, ३३५
अचित् ३७०, ४
अजीव १४२
अज्ञान ३३९, ६४
अणुवाद ३१५
अदृष्ट २१५
अद्वैत—(द्वैत +) ३६९ (विशिष्ट +) ७०, (केवल +) २, ८४
अधर्म २४५
अधिभूत ८७
अध्यारोप ३६२
अध्यास ३४०, ५१
अनन्त चतुष्टय १४६
अनन्या १०४
अनास्रव १८०
अनिर्वचनीय ३३०, ६
अनुपलब्धि ३१४
अनुभूति—(अपरोक्ष—) ३५७, ६३
अनुमान २१९, २०, (स्वार्थ +), (परार्थ +) १ (केवलान्वयी–) (केवल व्यतिरेकी) (अन्वय-व्यतिरेकी–) ३, ३११
अनुमिति २१७, २०
अनुराग ३८१
अनेकात १३७
अन्योन्याभाव २४९
अपरत्व २४३
अपवर्ग २१३, २८
अपवाद ३६२
अपान २३७
अपूर्व १८१, ३१८९
अपेक्षावाद १३८
अपौरुषेय ३१२
अप्राकृत ३७४
अभाव, (अत्यत +) २४९, ३१६
अभिनिवेश २९०
अमूर्त ३३४
अर्थ २१२, (–वाद) ३१२
अर्थापत्ति ३१३
अर्हन्त या अरिहन्त १४७
अवक्षेपण २४७
अवयव २०९, ७२
अवस्था—(जाग्रत—), (स्वप्न–) ३४७

अविज्ञप्ति १८१
अविद्या १७१, २, ८९, ३३५, ८, ९
अव्यक्त ९१, २६६, ७१, ७३, ३३४, ५
असत्कार्यवाद २५८
असिद्ध २२५
अस्तिकाय १४४
अस्मिता २०३, ९०
अहंकार २७७, ३५०
अहिंसा १५६
आकाश १४३, २३७
आकुंचन २४७
आचार्य ३५९
आत्म-साक्षात्कार ३०५
आत्मा ८९, १२४, २११, (मुक्त–) ३०, ९, ३४९
आधिदैविक २३
आधिभौतिक २३
आध्यात्मिक २३
आनन्द ३८४
आयतन १७२
आरंभवाद ३९२
आर्य अष्टांगिक मार्ग १७२
आर्य सत्य १७३
आवरण १९७, ३३७, ६४
आशय ३०१
आसक्ति ३८२
आसन २९२
आस्तिक २०
आस्रव १४४

इंद्रिय २१२, ७७, (ज्ञान+) (कर्म+) ३४७, ५०
इच्छा २४४

ईश्वर १४७, २१३, (—प्रणिधान) ८८, ३०१, ५, २१, ३३, ४९, ५३, ४, ५, ७०

उच्छिष्ट ४२, ७०
उत्क्षेपण २४७
उदान २३७
उदाहरण २२२
उन्मेष १४
उपनय २२२
उपमान २१८, २६, ३११
उपमिति २१७
उपरति ३६१
उपस्थ ३५०
उपादान १७०, २
उपाय प्रत्यय २८६
ऊर्मि २३०

एकाग्र २८७
एकान्त १३७

कथा २१०
करण या असाधारण कारण (समवायी–), (असमवायी–), (निमित्त—) २२७
कर्म (—योग), (—वाद) ९३, (नियत—) १०१, ३१६, (काम्य–), (निषिद्ध–), (नित्य–) २३, (नैमित्तिक–), (प्रारब्ध–), (—ज्ञान-समुच्चयवाद) ४
काम १२९
काल ३, १९, १४३, २३८
कूर्म २३७, ४७

कृकर २३७
केवली १४७
कैवल्य ३००
कोष–(अन्नमय–), (प्राणमय–), (मनोमय–), (विज्ञानमय–) ३४५,(आनन्दमय–) ६
क्रियायोग २८८, ६
क्लेश २८६
क्लेशावरण १६७, ८, २०४
क्षिप्त २८७
क्षेत्र ३३२
क्षेत्रज्ञ ८६, २४०, ३३२

गध २४२, ३५०
गमन २४७
गुण २४१, ६०, ३१६
गुरु ३५८, (परम–) ६०
गुरुत्व २४४

घ्राण ३५०

चक्षु ३५०
चार्वाक १२०
चित् ३७०, २
चित्त १७८,(—विप्रयुक्त) ८१, (–धर्म) २, २८६, ३५०
चिदाभास ३४३
चैतन्य १२३, ४
चैतसिक १८१, २
चोदना ५५

छल २१०

जगत् ३३१, ५१, ७४, ७
जरा-मरण १७०, २
जल २३५
जल्प २१०
जाति १७०, २११
जीव १४१, ३४८, ५५, ७२, ३, ४, (मुक्तियोग्य–) (नित्य-ससारी–), (तमोयोग्य–)७
जीवन (मुक्त) ११४, (–मुक्ति) २८२, ३६५

ज्ञ २७१
ज्ञान–(परोक्ष–),(अपरोक्ष–) ३६४
ज्ञानयोग १०२
ज्ञानावरणीय १५१
ज्ञेयावरण १६७, ८, २०४

तत्व–(आराध्य–), (धाम–), (उपासना–), (शास्त्र–), (पुरुषार्थ–) ३७६, (प्रेमा–) ८० (लीला—) ५
तन्मात्र २७८, ३४८, ५५
तमोगुण २६३
तर्क २०६
तितिक्षा ३६१
तृष्णा १७०, २
तेज २३५
तैजस २७७, ३४६
त्र्यणुक (त्रसरेणु) २५०, ३१५
त्वक् ३५०

दंडनीति १३१
दम३६१
दर्शन (–या दृष्टि) (–या साक्षात्कार) १६

दर्शनावरणीय १५१
दिक् २३९
दुःख १५८, दुखम्, (–समुदयः) (–निरोधः) १७३, (–निरोध-गामिनीप्रतितत्–) ४, २१३, ४४
दृष्टांत २०९
देवदत्त २३७
दोष २१३
द्रव्य—(धर्म–) (अधर्म–) १४३, २३४, ३१६
द्रव्यत्व २४४
द्वयणुक २५०
द्वेष २४४, ९०
द्वैत ३६९

धनंजय २३७
धर्म १२९, ७९, (असस्कृत–) १८०, (संस्कृत–) १, (–नैराश्य) ९७, २४५
धारणा २९४
ध्यान २९४

नाग २३७
नाम-रूप ४२, १७०, २, ३३१
नास्तिक २०
निगमन १६, २२२
निग्रह स्थान २११
नित्य–(परिणामी—), (कूटस्थ–) ३३६
निदिध्यासन ८१
नियम २९२
निर्गुण ७२, ३७१
निर्जरा १४६
निर्णय २१०
निर्वाण १९०, (अप्रतिष्ठित–), (सोपाधिशेष–), (निरुपाधि-शेष–), (प्रकृति-शुद्ध–) २००
निरुद्ध २९९
निरोध १५८, ७९, ९०
निश्चय ३५०
निष्ठा १०९, ३८२

पंचभूत २७४
पचीकरण ३५४
पंडित १०३
पक्ष २२०
पदार्थ २३३
परत्व २४३
परतत्र २७२, (–ता) ३१६
परप्रत्यक्ष १४
परम पद ३७८
परमाणु १४२, २३५, (–वाद), (–ओं) ३०८, १५
परावाक् १५
परिणाम—(विसदृश–), (सदृश–) १९, २६०, (स्वरूप–), (विरूप–) ४, (–वाद) ३९२
परिमाण २४२
परिवर्तन–(तात्विक–), (अता-त्विक–) ३५३
पर्याय १४०
पाणि ३५०
पाद ३५०
पायु ३५०
पुद्गल १४२, (–नैरात्म्य) १९७
पुरुष ६९, ७७, २६७, (–की सिद्धि) ६८, (–की अनेकता) ६९, ७३

पुरुषार्थ १२९
पुरुषोत्तम ९१, २
पुर्यष्टक ३५४
पुष्टि ३८६
पृथ्वी २३५
पृथक्त्व २४३
पौरुषेय ३१२
प्रकृति (अपरा–), (परा–) ८६, २६२, (मूल–) ६, (–विकृति) ७४, ३३४, ९
प्रणय ३८१
प्रणिधान २८८
प्रतिज्ञा २२१
प्रति प्रसव ३००
प्रतीत्य समुत्पाद १७२
प्रत्यक्ष १२७, २१८, (निर्विकल्पक–), (सविकल्पक–) ९
प्रत्याहार २९३
प्रधान २६६, ३३४, ५
प्रमा (प्रत्यक्ष–) २१७ (शाब्दी–) ८, ३१२
प्रध्वंसाभाव २४९
प्रमाण २०९, १७, (शब्द–) ८, ३७८
प्रमेय २०९
प्रयत्न २४४
प्रयोजन २०९
प्रवृत्ति २१३, २८
प्रसारण २४७
प्राकृत ३७४
प्राख्या २८६
प्रागभाव २४९
प्राज्ञ ३४९
प्राण ६५, २३६, ३४८
प्राणायाम २९३
प्रेत्यभाव २१३

फल २१३

बंध १४५, २८०, ३६५
बधन ३७५
बल ७६
बाधित २२५
बुद्धि २१३, ४३, ३५०
ब्रह्म ६९, (महद्—) ८७ ९०, ३२८, ३०, (निर्विशेष–) ४०, २, (सविशेष–) ५५ (—संबंध) ८७
ब्राह्मी स्थित १०३

भक्ति–(अनन्य) ११२, ३६१, ७८
भगवान ३८४
भव १७०, २
भाव ३८१
भावना २४४
भूतादि २७७
भेद–(सजातीय–), (विजातीय–), (स्वगत–) ३७१, ७
भेदाभेद–(सोपाधिक–), (स्वाभाविक) ३७०, ४, ५
भोगायतन १२५

मन २१३, ४०, ७४, ८, ३५०
मनन १८, ८१
महत् २७७
महाकाल ३६०
महाभाव ३८२
महाभूत २३४

महेश्वर ३५५
मान ३८१
माया ७७, २०४ (–वाद) ३२६, ३४, ६, ६
मार्ग–(पुष्टि–),(मर्यादा–) ३८५
मीमासा—(कर्म–), (ज्ञान–), (पूर्व–), (उत्तर–) ३०७
मुक्त ३६३
मुक्ति २२८, ३६५, ७७
मूढ २८७
मूर्त ३३४
मुमुक्षता ३६१
मोक्ष १२५, ४६, २८०, ३२२, ३, ६५, ६, ७५
मोहनीय १५१

यम ११, २६२
युक्त ६६
योग ६६, २८५
योगांग २६१
योगाचार १८५

रजोगुण २६३
रयि ६५
रस २४२, ३५०
रसना ३५०
राग २६०, ३८१
रूप १८१, २४१, ३५०

लक्षण–(स्वरूप–),(तटस्थ–) ३४२
लोकायत १६, १२०
लिंग २७२

वाक् ३५०
वाणी (वचिता–), (भ्रांत–) १२
वाद २१०
वायु २३६
वार्ता १३१
वासना २४५
विकृति २७४
विक्षिप्त २८७
विक्षेप ३३७
विचारणा (यौक्तिक–) १७
विज्ञान १७१, २, (–वाद) ७, (आलय–) ८, ८२, ६
वितण्डा २१०
विदेहमुक्ति २८२, ३६५
विपाक ३०१
विभाग २४३
विवर्तवाद २६०, ३५३, ६२, ३
विवेक—(–ख्याति) २०४, ७६ (–ज्ञान) ८१
विरुद्ध २२५
विशेष २४८, (धर्मि–), (धर्म–), (आधार–),(प्रदेश–) ३१६, ७, ७२
विश्व ३४६
वृत्तिया २८६
वेग २४४
वेद ३७८
वेदना १७०
वेदांत ३२६
वैकृत २७७
वैभाषिक १७७, ८
वैराग्य २६१, (पर–) ६
वैश्वानर ३४६
व्यक्त २६६, २७१, ३
व्यान २३७

व्यापक २२०
व्याप्य २२०
व्याप्ति—(अन्वय–),(व्यतिरेक–) २२२

शक्ति ३, ७६, ३१६, (आवरण–), (विक्षेप–) ३७, (मंत्र–) ६०, (–पति) ८६
शब्द १२८, २२६, ४५, ३१२, ५०
शम ३६१
शरणागति १०६, ३७२, ५
शरीर २१२, (सूक्ष्म–),(कारण–) ३४५
शून्य १७८, (–वाद) १७८, ८८
श्रवण ८१
श्रद्धा ३६१, ८२
श्रोत्र ३५०

षडायतन १७०

सकल्प २७८, ३५०
संख्या २४२, ३१६
सग १०१
सन्यास १००
सयम २६५
संयाग २४३
संवर १४६
सशय २०६
संसर्गाभाव २४६
सस्कार १७१, २, २४४
संस्कृत,१८०
सक्त ६६
सगुण ७१
सत् १३६, ३८०
सत्कार्यवाद २५७
सत्प्रतिपक्ष २२५
सत्य १०, ११, (—ता) १८६
सत्वगुण २६२
सप्तभगी १३८
समवाय २४८, ६६
समाधान ३६१
समाधि १७४, २६४, (सप्रज्ञात–), (असप्रज्ञात–), (सवितर्क–) ६, (सविचार–), (सानद–) (सास्मिता–)७, (ग्राह्य–), (सबीज–) (निर्बीज–) ६
समान २३७,(–तंत्र) ५१
समापत्ति —(ग्राह्य–), (ग्रहण), (ग्रहीत–) २६७, ८, ६
समुदय १५८
समुच्चयवादी ३७०
सम्यक्—(–ज्ञान), (–संकल्प), (–वचन), (–कर्मात), (आजीव), (–व्यायाम) (–स्मृति),(–समाधि) १७४
सर्वज्ञ १४७, २४०, ३२१
सर्वास्तिवादी १८३
सव्यभिचार २२४
सादृश्य ३१६
साधन चतुष्टय ३६०
साध्य २२०
सामान्य —(पर–), (अपर–) (परापर–) २४७, ३१६
सास्रव १८०
सिद्धांत २०६
सुख २४४
सुषुप्ति २८५, (–दशा) ३४७
सूत्रात्मा ३४६

सौत्रान्तिक १७७, ८३
स्कंध १४३
स्कम्भ ४२
स्थित (–धी), (–प्रज्ञ) ११५,
(—स्थापक) २४५
स्थिर धी ११५
स्नेह २४४, ३८०
स्पर्श १७०, २, २४२, ३५०
स्मरण ३५०
स्याद्वाद १३८, ५४
स्वकर्म ११४
स्वभाववाद १६
स्वर्ग १२६

हेतु १७६, २२०, १
हेत्वाभास २१०, २३

'मंडल' द्वारा प्रकाशित प्रमुख साहित्य

आत्मकथा	(गांधीजी)	४·००	स्वराज्य-शास्त्र	(विनोबा)	०·५०
आत्मकथा	(संक्षिप्त) ,,	१·००	सर्वोदय-सदेश	,,	१·५०
प्रार्थना-प्रवचन	(२ भाग) ,,	५·५०	गाधीजी को श्रद्धाजलि	,,	०·३७
गीता माता	,,	४·००	भूदान-यज्ञ	,,	०·२५
पन्द्रह अगस्त के बाद	,,	२·००	राजघाट की समिधि मे	,,	०·६२
धर्मनीति	,,	२·००	विचार-पोथी	,,	१·००
द० अफ्रीका का सत्याग्रह	,,	३·५०	सर्वोदय का घोषणा-पत्र	,,	०·२५
मेरे समकालीन	,,	५·००	उपनिषदों का अध्ययन	,,	१·००
आत्म-संयम	,,	३·००	कुछ पुरानी चिट्ठियां	(नेहरू)	१० ००
गीता-बोध	,,	०·५०	इतिहास के महापुरुष	,,	३·००
अनासक्तियोग	,,	१·५०	मेरी कहानी संपूर्ण	,,	८ ००
ग्राम-सेवा	,,	०·३७	,, सक्षिप्त	,,	२·५०
मंगल-प्रभात	,,	०.३७	हिन्दुस्तान की समस्याए	,,	२·५०
सर्वोदय	,,	० ३७	राष्ट्रपिता	,,	२ ००
नीति-धर्म	,,	० ३७	राजनीति से दूर	,,	२ ००
आश्रमवासियो मे	,,	०·४०	विश्व-इतिहास की झलक	(सं०)	६·००
हमारी मांग	,,	१·००	हिदुस्तान की कहानी	,,	२·५०
एक सत्यवीर की कथा	,,	०·२५	गांधीजी की देन	(राजेद्रप्रसाद)	१ ५०
हिन्द-स्वराज्य	,,	०·७५	आत्मकथा	,,	८ ००
अनीति की राह पर	,,	१·००	राजाजी की लघु कथाए	(राजाजी)	१·५०
बापू की सीख	,,	०·५०	महाभारत-कथा	,,	५ ००
गांधी-शिक्षा	(तीन भाग) ,,	०·९२	कुब्जा-सुदरी	,,	२ २५
आज का विचार	(दो भाग)	०·७४	शिशु-पालन	,,	० ५०
ब्रह्मचर्य	(दो भाग) ,,	१·७५	दशरथनन्दन श्रीराम	,,	५ ००
गांधीजी ने कहा था	(९ भाग)	२·७०	मैं भूल नही सकता		२·५०
शांति-यात्रा	(विनोबा)	१·५०	बापू की कारावास-कहानी		७·५०
विनोबा के विचार	(२ भाग)	३·००	गाधी की कहानी	(लुई फिशर)	१·५०
जीवन और शिक्षण	,,	२·००	इग्लैड में गांधीजी		१·२५
स्थितप्रज्ञ-दर्शन	,,	१·००	बा, बापू और भाई		०·५०
ईशावास्यवृत्ति	,,	०·७५	गांधी-विचार-दोहन		१·५०
ईशावास्योपनिषद्	,,	०·१२	संत-सुधासार संक्षिप्त		६·००
सर्वोदय-विचार	,,	१·१२	श्रद्धाकण		०·७५

अयोध्याकांड	१·००	रामतीर्थ-संदेश (३ भाग)	१·१२
भागवत-धर्म	५·५०	रोटी का सवाल (क्रोपाटकिन)	३·००
मानवता के झरने	१·५०	नवयुवकों से दो बाते ,,	०·५०
बापू	२·००	पुरुषार्थ	६·००
रूप और स्वरूप	०·७५	काश्मीर पर हमला	२·००
डायरी के पन्ने	१·००	शिष्टाचार	०·५०
ध्रुवोपाख्यान	०·३०	तट के बन्धन	२·५०
स्त्री और पुरुष (टॉल्स्टाय)	१·००	नवीन यात्रा	२·५०
मेरी मुक्ति की कहानी ,,	१·५०	तूफान और ज्योति	२ ५०
प्रेम में भगवान ,,	२·५०	भारतीय संस्कृति	३·५०
जीवन-साधना ,,	१·२५	आधुनिक भारत	५·००
कलवार की करतूत ,,	०·३५	फलों की खेती	३·००
हमारे जमाने की गुलामी ,,	१·००	मैं तंदुरुस्त हू या बीमार ?	०·५०
बुराई कैसे मिटे ? ,,	१·००	गांधीजी की छत्रछाया में	२·५०
बालकों का विवेक ,,	०·५०	भागवत-कथा	३·५०
हम करे क्या ? ,,	४·००	जय अमरनाथ	१·५०
धर्म और सदाचार ,,	१·२५	हमारी लोक-कथाएं	१·५०
अंधेरे में उजाला ,,	१·५०	संस्कृत-साहित्य-सौरभ	
ईसा की सिखावन ,,	१·००	(३६ पुस्तकें) प्रत्येक	०·४०
सामाजिक कुरीतियां	२.५०	समाज-विकास-माला	
कल्पवृक्ष	२·५०	(१५१ पुस्तकें) प्रत्येक	०·३७
साहित्य और जीवन	२·००	कृषि-ज्ञान-कोष	४·००
कब्ज	१·००	प्रकाश की बाते	१·५०
हिमालय की गोद में	२·००	ध्वनि की लहरे	१·५०
कहावतों की कहानिया	२·२५	गरमी की कहानी	१·५०
जीवन-संदेश	१·२५	धरती और आकाश	१·५०
अशोक के फूल	३·००	समुद्र के जीव-जंतु	१·५०
कांग्रेस का इतिहास (संक्षिप्त)	६·००	रूस में छियालीस दिन	३·००
सप्तदशी	२·००	मैं इनका ऋणी हूं	२·२५
रीढ की हड्डी	१·५०	सुभाषित-सप्तशती	२·५०
अमिट रेखाएं	३·५०	शारदीया	१·५०
तामिल-वेद	१·५०	आंसू और मुस्कान	१.००
हमारे गांव की कहानी	१·५०	अमृत की बूंदें	१·००
खादी द्वारा ग्राम-विकास	०·७५	प्राकृतिक जीवन की ओर	१·५०
साग-भाजी की खेती	३·५०	कोई शिकायत नहीं	२·५०
पशुओं का इलाज	०·७५		